अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	**खंड -1 मौर्योत्तर काल**	
	इकाई-1 भारत पर बाह्य आक्रमण – शक, हूण, कुषाण	2-25
	इकाई-2 शिल्प, व्यापार, नगर (200 BC- 200 AD)	26-42
	इकाई-3 सुदूर दक्षिण का इतिहास –चोल,पांड्य, चेर	43-52
	इकाई-4 संगम युग एवं साहित्य	53-69
2.	**खंड -2 गुप्तकाल**	
	इकाई-1 राजनैतिक उत्थान	70-90
	इकाई-2 सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन	91-102
	इकाई-3 आर्थिक जीवन	103-116
	इकाई-4 स्वर्णकाल : विभिन्न मत	117-128
3.	**खंड -3 गुप्तोत्तर काल (उत्तर भारत)**	
	इकाई-1 राजनीतिक स्थिति	129-141
	इकाई-2 सामाजिक और आर्थिक स्थिति	142-153
	इकाई-3 सांस्कृतिक विकास	154-166
	इकाई-4 राजपूतों की उत्पत्ति एवं उत्थान	167-183
4.	**खंड -4 गुप्तोत्तर काल (दक्षिण भारत)**	
	इकाई-1 चालुक्य, पल्लव	184-205
	इकाई-2 सामाजिक स्थिति	206-214
	इकाई-3 आर्थिक स्थिति	215-226
	इकाई-4 सांस्कृतिक विकास	227-238

खंड-1 : मौर्योत्तर काल

इकाई-1 : भारत पर बाह्य आक्रमण - शक, हूण, कुषाण

इकाई की रूपरेखा

1.1.1. उद्देश्य

1.1.2. प्रस्तावना

1.1.3. शक, हूण, कुषाण कालीन इतिहास के मूल स्रोत

1.1.3.1. शकों का इतिहास

1.1.3.2. हूणों का इतिहास

1.1.3.3. कुषाणों का इतिहास

1.1.4. भारत में शक

1.1.4.1. मोग

1.1.4.2. मोग के उत्तराधिकारी

1.1.5. भारत में क्षत्रप

1.1.5.1. तक्षशिला के क्षत्रप

1.1.5.2. मथुरा के क्षत्रप

1.1.5.3. पश्चिमी भारत के क्षत्रप

1.1.5.4. क्षहरात-क्षत्रप भूमक

1.1.5.5. मालवा के क्षत्रप

1.1.6. महाक्षत्रप रुद्रदामन

1.1.6.1. परिचय

1.1.6.2. विद्यादक्षता

1.1.6.3. शारीरिक दक्षता

1.1.6.4. सैनिक दक्षता

1.1.6.5. धर्मप्रेम

1.1.6.6. राजकीय दक्षता

1.1.6.7. साम्राज्य विस्तार

1.1.6.8. शासन प्रबंध

1.1.6.9. सेना

1.1.6.10. मंत्री

1.1.7. रुद्रदामन के उत्तराधिकारी

1.1.7.1. जीवदामन

1.1.7.2. रूद्रसिंह (प्रथम)

1.1.7.3. रूद्रसेन (प्रथम)

1.1.8. पह्लवों का इतिहास

1.1.8.1. गोन्दोफनिर्स

1.1.9. भारत में हूण

1.1.9.1. तोरमाण

1.1.9.2. मिहिरकुल

1.1.9.3. बालादित्य-मिहिरकुल

1.1.10. कुषाण युग

1.1.10.1. यूचियों का अभियान

1.1.10.2. कुजुल कैडफाइसिस/कैडफाइसिस प्रथम

1.1.10.3. विमा कैडफाइसिस/कैडफाइसिस द्वितीय

1.1.11. कनिष्क (प्रथम)

1.1.11.1. दिग्विजय और साम्राज्य विस्तार

1.1.11.2. अंतर्वेदी

1.1.11.3. उत्तरापथ

1.1.11.4. मध्य एशिया

1.1.11.5. शासन प्रबंध

1.1.11.6. कनिष्क और बौद्ध धर्म

1.1.11.7. हुविष्क

1.1.11.8. वासुदेव

1.1.12. सारांश

1.1.13. बोध प्रश्न

1.1.13.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1.1.13.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1.1.14. संदर्भ ग्रंथ

1.1.1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य मौर्योत्तर काल अर्थात् 200 ई. पूर्व से 300 ई. के मध्य भारत पर हुए बाह्य आक्रमणों पर प्रकाश डालना है। शक एवं कुषाणों द्वारा भारत पर किस प्रकार आक्रमण किए गए एवं विजय प्राप्त की गई तथा भारत पर अपना राज्य स्थापित किया। इन सभी तथ्यों से अवगत कराना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

1.1.2. प्रस्तावना

चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस को परास्त कर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों तथा अफगानिस्तान पर अपना अधिकार कर लिया था। लगभग एक शताब्दी (305-206 ईसा पूर्व) तक सेल्यूकस वंशी राजाओं का भारतीय नरेशों के साथ मैत्री संबंध बना रहा। परंतु परवर्ती मौर्य नरेशों के निर्बल शासन काल में स्थिति बदल गई तथा मौर्य साम्राज्य के पतनोपरांत भारत पर पश्चिमोत्तर सीमा से पुनः विदेशियों के आक्रमण प्रारंभ हो गए। यह देश का दुर्भाग्य था कि उस समय आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए यहाँ चन्द्रगुप्त जैसा कोई सम्राट नहीं था। इसमें सर्वप्रथम आने वाले बल्ख (बैक्ट्रिया) के यवन शासक थे। उन्होंने भारत के कुछ प्रदेशों को जीत लिया। इन्हीं भारतीय-यवन राजाओं को हिंद-यवन (इंडो-ग्रीक) कहा जाता है। मौर्योत्तर काल में भारत में शकों, हूणों एवं कुषाणों द्वारा आक्रमण कर भारत के विभिन्न भागों पर अधिकार किया गया एवं उन पर शासन स्थापित किया गया।

1.1.3. शक, हूण, कुषाण कालीन इतिहास के मूल स्त्रोत

1.1.3.1. शकों का इतिहास

शकों के प्रारंभिक इतिहास के ज्ञान के लिए हमें मुख्यतः चीनी-स्त्रोतों पर निर्भर होना पड़ता है। इनमें 'पान-कू' (Pan Ku) कृत 'सिएन-हान-शू' (Ch'ien Han Shu) अर्थात् प्रथम हान वंश का इतिहास तथा 'फान-ए' (Fan Ye) कृत 'हाऊ-हान-शू' (Hou Han Shu) अर्थात् परवर्ती हान वंश का इतिहास उल्लेखनीय है। इनके अध्ययन से यू-ची, हूण तथा पार्थियन जाति के साथ शकों के संघर्ष तथा उनके प्रसार का ज्ञान होता है। चीनी ग्रंथ तथा लेखक शकों को 'सई' अथवा 'सई वांग' कहते हैं।

भारत में शासन करने वाले शक तथा पह्लव शासकों का ज्ञान हमें मुख्य रूप से उनके लेखों तथा सिक्कों से प्राप्त होता है। शकों के प्रमुख लेख निम्नलिखित हैं -

1. राजवुल का मथुरा सिंह-शीर्ष, स्तंभलेख
2. सोडास का मथुरा दानपत्रलेख
3. नहपानकालीन नासिक के गुहालेख
4. नहपानकालीन जुन्नार का गुहालेख
5. उषावदात के नासिक गुहालेख
6. रुद्रदामन का कच्छ खाड़ी लेख
7. रुद्रदामन का गिरनार (जूनागढ़) का लेख
8. गोन्दोफनिर्स का तख्ते-वाही लेख

शकों का इतिहास जानने के साहित्यिक साधन निम्नलिखित हैं -

1. यूनानी साहित्य तथा इतिहासकार
   (अ) हेरोडोटस
   (ब) पेरीप्लस मेरिस एरीथ्रियाय-पेरिप्लस ऑफ एरीथ्रियन सी
2. चीनी साहित्य - हानवंश का इतिहास
3. भारतीय साहित्य - पुराण तथा अन्य ग्रंथ

पह्लवों तथा शकों का इतिहास एक-दूसरे से अत्यधिक उलझा हुआ है। अतः उसे अलग-अलग करना एक कठिन कार्य है। पह्लव मूलतः पार्थिया के निवासी थे। पार्थिया, बैक्ट्रिया के पश्चिम की ओर कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में स्थित सेल्युकसी साम्राज्य का सीमावर्ती प्रांत था। तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य बैक्ट्रिया के साथ ही पार्थिया के यवन क्षत्रप ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी, परंतु शीघ्र ही पूर्व की ओर से आने वाले कुछ व्यक्तियों ने यवन शासक की हत्या कर दी तथा उन्होंने जिस साम्राज्य की नींव डाली वह पार्थियन नाम से विख्यात हुआ। शकों के पश्चात् भारत पर कुषाणों का शासन रहा, जिनके काल में भारत की राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं कलात्मक उन्नति हुई।

1.1.3.2. हूणों का इतिहास

भारत में शासन करने वाले हूण शासकों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें मुख्य रूप से अभिलेखों तथा सिक्कों पर निर्भर होना पड़ता है जो निम्नलिखित है -

1. जूनागढ़ शिलालेख
2. भीतरी स्तंभलेख
3. ग्वालियर लेख
4. यशोधर्मन का मंदसौर लेख

5. तोरमाण के चाँदी के सिक्के

उपरोक्त के अतिरिक्त राज्यतरंगिणी, वृहतसंहिता इत्यादि ग्रंथों से भी हूणों पर प्रकाश पड़ता है।

1.1.3.3. कुषाणों का इतिहास

कुषाण वंश के प्रारंभिक इतिहास के ज्ञान के लिए हमें मुख्यतः चीनी स्रोतों पर निर्भर करना पड़ता है। चीनी ग्रंथों में 'पान-कू' कृत 'सिएन-हान-शू' तथा 'फान-ए' कृत 'हाऊ-हान-शू' उपयोगी है। पहला प्रथम हानवंश का इतिहास तथा दूसरा परवर्ती हानवंश का इतिहास है। पान-कू के ग्रंथ से यू-ची जाति के हूण, शक तथा पार्थियन राजाओं के साथ संघर्ष का विवरण मिलता है तथा ज्ञात होता है कि यू-ची जाति पाँच कबीलों में विभक्त थी। फान-ए के ग्रंथ 'हाऊ-हान-शू' से 25 ईस्वी से लेकर 125 ईस्वी तक यू-ची जाति का इतिहास ज्ञात होता है। इससे पता चलता है कि यू-ची कबीला कुई-शांग (कुषाण) सबसे शक्तिशाली था, जिसके सरदार कुजुल कैडफाइसिस ने अन्य कबीलों को जीतकर एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया था। कुषाण वंश के प्रथम दो शासकों के इतिहास का अध्ययन हम उपर्युक्त चीनी ग्रंथों के अतिरिक्त पह्लव शासक गोन्दोफनिर्स के तख्तेबही अभिलेख तथा इन राजाओं द्वारा खुदवाए गए विविध प्रकार के सिक्कों के आधार पर भी करते हैं। कुषाण शासकों में विमा कैडफाइसिस ने ही सर्वप्रथम भारत में स्वर्ण सिक्के प्रचलित करवाए थे। चीनी स्रोतों तथा सिक्कों से कैडफाइसिस राजाओं की विजय तथा राज्य-विस्तार की सूचना मिलती है।

कनिष्क तथा उनके उत्तराधिकारियों का इतिहास हम मुख्य रूप से तिब्बती बौद्ध स्रोतों, संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवाद तथा चीनी यात्रियों - फा-हियान तथा हुआन सांग - के विवरण से ज्ञात करते हैं। तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि कनिष्क खोतान के राजा विजयकीर्ति का समकालीन था तथा उसी की सहायता से उसने साकेत पर विजय प्राप्त किया था।

1.1.4. भारत में शक

लगभग 200 ईसा पूर्व में उत्तरापथ (उत्तरी पश्चिमी भारत) पर केवल यूनानियों का ही आक्रमण और अधिकार नहीं हुआ था, बल्कि शकों ने भी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। प्राचीन स्रोतों में शकों का उल्लेख यवनों के साथ ही प्राप्त होता है।

शक कौन थे ?

स्कंद पुराण में शक नाम के राजा का उल्लेख मिलता है, जो कलियुग के 3100 वर्ष संवत् अर्थात् 2 ई. पू. में शासक था।

वराह पुराण के अनुसार आनंदपुर (प्राचीन आनर्त देश की राजधानी, जिसकी पहचान बड़ोदा के निकट आधुनिक वडनगर से की गई है) में शक शासन था। यहाँ उल्लिखित शकाधिप या शकानामधिप सौराष्ट्र-काठियावाड़ का शासक था।

संभवत: वराह पुराण में उल्लिखित सौराष्ट्र का सम्राट यक्ष्मधनु एक विदेशी (शक) शासक था, जिसकी पहचान शक क्षत्रप यशोदामन से की जा सकती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुराणों में भी शक-राजाओं के उल्लेख मिलते हैं। विष्णु-पुराण के अनुसार आंध्र भ्रत्यों (सातवाहनों) के बाद सात आभीर या अहीर और दस गर्दभिल्ल शासक हुए। उसके बाद सोलह शक राजा हुए। इनके बाद आठ यवन (बाल्हीक-यवन), चौदह तुरुष्क राजा (कुषाण), 13 मुंड तथा 11 मौन शासक पृथ्वी पर हुए। अन्य पुराणों में इनके नामों और शासन-काल के विषय में कुछ भेद हैं।

ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में ट्रान्सोक्सियाना (आक्सस या वक्षु नदी का उत्तरी भू-भाग) ही शकों का निवास स्थान था। ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के अंत में बैक्ट्रिया पर शक जाति ने अधिकार कर लिया था।

चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि 165 ई.पू. के बाद यू-ची नामक एक मध्य एशिया की जाति ने शकों पर आक्रमण करके उनके प्रदेश पर अधिकार कर लिया। लगभग 126 ई. पू. में यूचियों द्वारा बैक्ट्रिया से निष्कासित शकों ने हिरात और सीस्तान के मार्ग से भारत पर आक्रमण करके सिंध (शकद्वीप) में अपनी सत्ता स्थापित की। वहाँ से सिंध की ऊपरी घाटी और पंजाब में ऊपर बढ़ते हुए उनके सरदार मोग (मावेज-मोअस) ने पुष्कलावती (पश्चिमी गंधार की राजधानी) पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में यूनानी राज्यों के बीच ही शकों ने भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

यूनानियों ने बैक्ट्रिया से हिंदुकुश के आसपास तथा काबुल घाटी में राज्य स्थापित किया था। वहीं से काबुल नदी के किनारे खैबर दर्रे से उन्होंने पंजाब पर अधिकार किया और मध्य देश तक आक्रमण किया था। किंतु शक खैबर दर्रे से न आकर बोलन दर्रे से मेक्रान तट वाले उस मार्ग से सिंध के डेल्टा में प्रविष्ट हुए जिस मार्ग से सिकन्दर की सेना क्रेटेरस के नेतृत्व में सिंध डेल्टा से वापस गई थी। सिंध डेल्टा में शकों की सत्ता के कारण ही उसे शकद्वीप भी कहते हैं।

1.1.4.1. मोग

तक्षशिला के एक ताम्रलेख से मोग नामक राजा के 78वें वर्ष का उल्लेख प्राप्त होता है। उसमें उसे 'महाराज महान मोग' कहा गया है। उसी का उल्लेख हमें सॉल्ट रेन्ज में स्थित मैर के एक कुँए से प्राप्त लेख में भी होता है जहाँ उसे 'मोअस' कहा गया है। उसकी तिथियाँ किस संवत् में हैं, निश्चित नहीं हैं, इसीलिए उसके काल के विषय में मतभेद है। उसके कार्यों के विषय में भी अधिक ज्ञात नहीं है। उसका राज्यकाल 20 ई.पू. से 22 ई. तक माना गया है। डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार इस काल तक मध्य देश में मथुरा तक शक राज्य विस्तृत हो चुका था।

1.1.4.2. मोग के उत्तराधिकारी

सिक्कों से ज्ञात होता है कि मोग या मावेज के बाद एज़ेज़ प्रथम शासक हुआ। वह एक महान शासक था, जिसने यवन सत्ता को निरवशेष कर दिया। उसके सिक्कों पर उसके साथ उसके पुत्र-युवराज एज़ीलाइसेस (प्रथम) को भी उत्कीर्ण किया गया है। एज़ेज़ प्रथम के बाद ही एज़ीलाइसेस प्रथम (28 ई.-40 ई.) शासक हुआ।

एज़ीलाइसेस प्रथम के साथ उसके सिक्कों पर एज़ेज़ (द्वितीय) को उपराज (क्षत्रप) के रूप में संबद्ध पाते हैं। यह एज़ेज़ द्वितीय एजीलाइसेस प्रथम का उत्तराधिकारी और आगे चलकर शासक हुआ, जिसका कार्यकाल 35 ई.-79 ई. तक था। एज़ेज़ द्वितीय का उत्तराधिकारी एज़ीलाइसेस द्वितीय था।

एज़ेज़ द्वितीय के राज्य काल में ही गोन्दोफनिर्स नामक पह्लव राजा ने उत्तरी पश्चिमी भारत के अधिकांश भाग जीत लिए थे। गोन्दोफनिर्स पहले एक पार्थियन या पह्लव गवर्नर था, जिसने आगे चलकर अपने आप को सम्राट घोषित कर लिया।

1.1.5. भारत में क्षत्रप

पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस समय में उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों-आर्यों और म्लेच्छों-में बंटा था। उनमें संघर्ष हो रहा था। जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि शुंगसातवाहन (आर्यों) और शक-यवन-पह्लवों (म्लेच्छों) में संघर्ष हो रहा था। इस संघर्ष में शक ही विजयी हुए और

भारत के कई क्षेत्रों पर उनका अधिकार हो गया। जैसे तक्षशिला, मथुरा, महाराष्ट्र, उज्जयिनी इत्यादि उनके विविध राज्य केंद्र थे, जहाँ शक नरेशों के भारतीय प्रदेशों के शासक क्षत्रप कहे जाते थे। महाक्षत्रप (सम्राट) और क्षत्रप (युवराज) मिलकर शासन करते थे।

1.1.5.1. तक्षशिला के क्षत्रप

महाराज मावेज के 78 वें राज्य वर्ष के तक्षशिला ताम्र-पत्र लेख में लियक कुसुलक और उसके पुत्र पतिक का उल्लेख मिलता है। इस लेख में मावेज को 'महरयस महन्तस' की उपाधि दी गई है, जिससे उसका सार्वभौमत्व सिद्ध होता है। इसी से यह भी ज्ञात होता है कि लियक कुसुलक, पतिक शहर और चुक्ष (तक्षशिला के आस-पास) क्षत्रप थे। इस प्रकार मावेज के राज्य-काल में तक्षशिला के आस-पास उत्तरी पंजाब में क्षत्रप थे। मार्शल के अनुसार संभव है किचुक्ष की सैट्रपी, सिंधु नदी के दोनों ओर विस्तृत थी, जिसमें पेशावर, हजारा, अष्टक और मियावाली के प्रांत (पश्चिमी पाकिस्तान) सम्मिलित थे।

एक ताम्रमुद्रा पर अभिसार प्रस्थ का भी उल्लेख मिलता है जहाँ शिवसेन क्षत्रप था। अभिसार प्रसिद्ध प्राचीन राज्य है और संभव है कि यहाँ भी इस पर्वतीय राज्य में एक अलग क्षत्रप नियुक्त किया गया था।

1.1.5.2. मथुरा के क्षत्रप

मध्य देश में अंतर्वेदी (गंगा-यमुना के बीच का दोआब) भी शकों के अधिकार में चला गया था। सोडाश के मथुरा सिंह स्तंभ लेख से मथुरा के शक क्षत्रप के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है। इस लेख में महाक्षत्रप राजुवुल और क्षत्रप सोडास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले राजुवुल महाक्षत्रप था और उसकी रानी अग्रमहिषी कहीं गई है। इस समय उसका पुत्र सोडास क्षत्रप था, परंतु आगे चलकर जैसा कि मथुरा लेख (राज्य वर्ष 72) से ज्ञात होता है, वह भी महाक्षत्रप हो गया था।

सिक्कों से खरोष्ठ नाम के अन्य क्षत्रप का भी उल्लेख मिलता है, जिसकी पहचान मथुरा सिंह स्तंभ में उल्लिखित युवराज खरोष्ठ से की गई है। इस प्रकार यह भी मथुरा का एक क्षत्रप था। संभवत: वह महाक्षत्रप राजुवुल का पुत्र था।

इस प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारंभ में मथुरा के आस-पास का क्षेत्र शक-क्षत्रप द्वारा शासित हो रहा था। कालांतर में यह भू-खंड कुषाणों के अधिकार में चला गया।

1.1.5.3. पश्चिमी भारत के क्षत्रप

सिंध, काठियावाड़ और समीप के भू-भाग पर यवनों का अधिकार था। यवनों को हटाकर शकों ने उस स्थान पर अपना अधिकार कर लिया था। इसीलिए निचले सिंधु को 'शकस्थान' का नाम दिया गया था। यहीं से शकों ने अपनी शक्ति सौराष्ट्र, काठियावाड़ और अन्य क्षेत्रों में भी स्थापित की थी। कालकाचार्य कथानक से प्रकट है कि सबसे पहेले उन्होंने काठियावाड़ पर अधिकार किया। सौराष्ट्र और दक्षिण गुजरात से उन्होंने उज्जयिनी पर आक्रमण कर राज्य स्थापित किया।

1.1.5.4. क्षहरात-क्षत्रप भूमक

इस देश का सबसे प्रथम क्षत्रप भूमक था, जिसके तांबे के सिक्के (बाण, चक्र वज्र, सिंहध्वज और धर्मचक्र चिह्नों वाले) प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों पर प्राप्त लेखों- 'छहरात छत्रपस भूमकस' में की 'क्षहरात' कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि वह क्षहरात या खखरात वंश का शासक था।

महाक्षत्रप नहपान

भूमक का उत्तराधिकारी नहपान था। उसके राज्य-काल के कई अभिलेख और सिक्के प्राप्त हुए हैं। अभिलेखों में 41 से 46 तक की तिथियों (शक संवत्) का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार उसका शासन काल संभवत: 119 ई. 125 ई. के आस-पास था। इसी समय सातवाहन सम्राट गौतमीपुत्र शातकर्णि दिग्विजय कर रहा था। उसके नासिक प्रशस्ति में बताया गया है कि उसने क्षहरात वंश का अंत कर दिया था।

नहपान के चांदी के सिक्के जोगलथम्बी (नासिक प्रांत) में ढेर में प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों के अधिकांश भाग को गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि ने अपने राज्य में फिर से चलाया था। इससे स्पष्ट होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरातों का अंत कर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया था।

नहपान और उसके दामाद उषवदात के लेखों से ज्ञात होता है कि यह शासन काल ब्राह्मण-संस्कृति का उन्नायक था।

एक नासिक लेख (वर्ष 19) में कहा गया है कि दीनीतपुत्र और क्षहरात क्षत्रप नहपान के जमाता उषवदात ने गो-दान, सुवर्ण दान, ब्राह्मण-दान के अतिरिक्त तीर्थों का भी निर्माण अथवा संस्कार कार्य किया था। इसी लेख में प्रसिद्ध प्राचीन प्रभास और पुष्कर तीर्थों का उल्लेख मिलता है साथ ही उसने कन्या-दान भी किए थे।

1.1.5.5. मालवा के क्षत्रप

मालवा के क्षत्रप का इतिहास उनके सिक्कों और लेखों से ज्ञात होता है। इस वंश ने पश्चिमी भारत पर कई पीढ़ियों तक राज्य किया। इस कुल का प्रथम शासक चस्टण था, जिसे उसके सिक्कों पर राजा यशोमतिक का पुत्र कहा गया है। अन्य सिक्कों पर उसे महाक्षत्रप भी कहा गया है। यह कर्दमक वंश का ही शासक था।

1.1.6. महाक्षत्रप रुद्रदामन

मालवा के क्षत्रप चस्टण का पुत्र जयदामन केवल क्षत्रप ही था। वह अपने पिता के बाद महाक्षत्रप नहीं हुआ जैसा कि अन्दौ अभिलेख से ज्ञात होता है, जहाँ चस्टण के साथ जयदामन पुत्र रुद्रदामन को उपराज (क्षत्रप) के रूप में उल्लिखित किया गया है। स्पष्ट है कि जयदामन अपने पिता के साथ क्षत्रप की भाँति उल्लिखित नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि जयदामन अपने पिता के जीवन काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया था और चस्टण के साथ उसका पौत्र रुद्रदामन उपराज था। भविष्य में चस्टण की मृत्यु के बाद ही रुद्रदामन महाक्षत्रप हो गया, जैसा कि उसके चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होता है।

शक क्षत्रप में रुद्रदामन (130-150 ई.) सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसके लेख और मुद्राएँ बाहुल्यता से प्राप्त होती हैं। उसकी सबसे प्रसिद्ध लिपि जूनागढ़ शिलालेख है, जिसमें सुदर्शन झील का इतिहास तथा उसकी विजय और उपलब्धियों का वर्णन किया गया है। जूनागढ़ अभिलेख ही प्रथम बड़ा संस्कृत अभिलेख है, जिससे हमें उस युग के संस्कृत गद्यकाव्य के स्वरूप का दर्शन होता है। अत: इसका न केवल राजनैतिक महत्व ही है वरन् उसका साहित्यिक महत्व भी है। सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि एक शक होते हुए भी उसके शासन काल में भारतीय संस्कृति के मूलांकुर संस्कृत कारूप प्रथमत: दृष्टिगत हुआ था। प्रो. कीलहार्न ने सर्वप्रथम इसका अनुवाद किया था।

1.1.6.1. परिचय

किसी भी शासक के श्रेष्ठत्व का कारण उसका चरित्र और व्यक्तित्व होता है। जूनागढ़ लेख की पंक्ति 4 में उल्लिखित है कि वह गुरुओं के संपर्क में आया था और उन्होंने ही उसे रुद्रदामन की संज्ञा दी थी।

1.1.6.2. विद्यादक्षता

जूनागढ़ लेख में उसे शब्दार्थ, संगीत, न्याय आदि विद्याओं में कुशल होने के कारण यशस्वी कहा गया है। व्याकरण और मीमांसकों ने क्रमशः 'शब्द' और 'अर्थ' प्रमाणों को स्वीकार किया है। 'शब्दार्थ' से तात्पर्य शब्द-शास्त्र और अर्थशास्त्र से भी हो सकता है। शब्दार्थ के पारण-धारण-विज्ञान और प्रयोग से उसका काव्याभ्यास और काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है। आचार्य मम्मट ने काव्य के स्वरूप और लक्षणों पर विचार करते हुए शब्दार्थ युगल पदरचना को काव्य कहा है। इसी लेख में आगे चलकर, पंक्ति 14 में इसे विविध शब्द और अलंकारों से युक्त गद्य-पद्य-काव्य-विधान में प्रवीण कहा गया है।

1.1.6.3. शारीरिक दक्षता

रुद्रदामन का शरीर सुडौल, सुंदर और सौष्ठव था एवं वाणी संगीत व व्याकरण के नियमों से परिबद्ध, शुद्ध थी। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह गंधर्व विद्या में भी प्रवीण था।

1.1.6.4. सैनिक दक्षता

जूनागढ़ लेख की पंक्ति 13 में उल्लिखित है कि उसने घोड़े, हाथी और रथ विद्याओं में भी कुशलता प्राप्त की थी। असि-चर्म (ढाल-तलवार) के युद्ध में भी वह कुशल था। इसी रण दक्षता के कारण वह शत्रुओं का नित्य पराभव कर सका।

1.1.6.5. धर्मप्रेम

रुद्रदामन के चरित्र और व्यक्तित्व में शिक्षा और विद्या का यह वांछनीय प्रभाव ही था कि उसमें धर्म के प्रति अनुराग था। गो-ब्राह्मण की रक्षा अथवा उन्नति के लिए उसने धर्म-कीर्ति का विस्तार किया था। उसका धार्मिक अनुराग इस तथ्य से भी सिद्ध होता है कि प्राणि-वध निवृत्ति की उसने सत्य प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार उसके चरित्र में दया का स्थान था, जिसके कारण शरण में आए हुए लोगों को वह शरण देता है।

1.1.6.6. राजकीय दक्षता

जन्म से लेकर राजत्व की प्राप्ति तक रुद्रदामन राजगुणों और लक्षणों से विभूषित था। इसीलिए सभी वर्णों के लोगों ने अपनी रक्षा के लिए उसे अपना स्वामी (राजा) चुना था। जूनागढ़ लेख में यह भी उल्लिखित है कि उसने स्वयं ही अपने पराक्रम से महाक्षत्रप के पद को प्राप्त किया था।

उसके पौरुष, पराक्रम तथा रूप-कांति का प्रमाण इस बात से भी प्राप्त होता है कि उसने स्वयंवरों में अनेक राजकन्याओं को प्राप्त कर अपनी शक्ति, शौर्य और सौंदर्य से राज-सभा को प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप वहीं उसको मालाओं से विभूषित किया गया।

1.1.6.7. साम्राज्य विस्तार

जूनागढ़ शिलालेख में ही रुद्रदामन को स्ववीर्यजित जनपदों वाला अर्थात् अपने पराक्रम से राज्यों को जीतकर साम्राज्य का स्थापक और शासक (महाक्षत्रप) कहा गया है। ये जनपद निम्नलिखित थे :-

अवंति

यह पश्चिमी मालवा का प्राचीन नाम था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

अनूप

अनूप देश को विंध्यप्रदेश में स्थित बताया गया है, जो नर्मदा के किनारे स्थित था और हैहयों का प्रसिद्ध नगर माहिष्मति इसकी राजधानी थी। इसीलिए अनूप देश हैहय देश भी कहलाता था। अवंति के निवासी भी हैहयों की एक शाखा थी। राजा महिष के द्वारा स्थापित माहिष्मती नर्मदा के तट पर स्थित थी, जिसकी पहचान डॉ. सरकार और बी. सी. ला द्वारा मान्धाता (आधुनिक नीमाड़, म.प्र.) से की गई है; परंतु अन्य विद्वान इसकी पहचान इन्दौर से 40 मील दक्षिण नर्मदा के तट पर स्थित महेश्वर अथवा महेश से करते हैं। यह चेदि मंडल में स्थित कलचुरियों की राजधानी थी।

नीवृत

स्कंदपुराण की कुमारिकाखंड देश-तालिका में नीवृत को एक मंडल कहा गया है, जिसमें 4 करोड़ गाँव सम्मिलित थे। जूनागढ़ अभिलेख में भी इसका नाम जनपद की तालिका में दिया गया है। यह पश्चिमी भारत में स्थित था। वृष्णि के पुत्र का नाम निवृत्ति था। निवृत्ति से बसाया हुआ या शासित देश ही नीवृत कहलाया, जिसको पश्चिमी भारत में वृष्णियों के राज्य से ही अथवा उसके किसी भाग से इसका तादाम्य कर सकते हैं।

आनर्त

यह उत्तरी गुजरात का भाग था, जिसकी राजधानी द्वारिका थी।

सुराष्ट्र

यह सौराष्ट्र या काठियावाड़ था।

श्वभ्र

यह साभ्रमती की घाटी थी। इस प्रदेश में खेटक भी सम्मिलित था।

मरु

यह राजस्थान का प्रसिद्ध मारवाड़ देश था जिसे मरु-मंडल, मरु-भूमि अथवा मरुस्थल भी कहा गया है। जल और वनस्पति की कमी के कारण ही इसका यह नाम पड़ा।

कच्छ

यह प्राचीन काल में कच्छेल्ल भी कहलाता था। यह आधुनिक कच्छ ही है।

सिंधु-सौवीर

यह सिंधु की निचली घाटी थी।

कुकुर

सिंधु और पारियात्र पर्वत के बीच स्थित भूखंड है, जिसमें राजपूताना और उत्तरी गुजरात के कुछ भाग सम्मिलित थे।

अपरांत

यह उत्तरी कोंकण का क्षेत्र था।

निषाद

इन्हें विंध्य पर्वत का निवासी कहा गया है। डॉ. रायचौधरी इन्हें पश्चिमी विंध्य और सरस्वती की घाटी में स्थित बताते हैं।

पश्चिमी भारत में समुद्र तट पर रहने वाली यह एक जाति थी। इससे रुद्रदामन का समुद्रपर्यंत पृथ्वी पर आधिपत्य सिद्ध होता है।

यौधेयों पर विजय

जूनागढ़ शिलालेख में ही उल्लिखित है कि रुद्रदामन ने उन यौधेयों को पराजित किया था, जिन्हें संपूर्ण क्षत्रियों ने अपना वीर मान लिया था। इसलिए जो अपने को अजेय मानते हुए उद्धत् स्वभाव के हो गए थे, रुद्रदामन ने बलपूर्वक उनका उन्मूलन किया। यौधेय एक प्राचीन प्रसिद्ध गण जाति थी, जिसने इतिहास में अपनी भूमि-भक्ति और सैन्य शक्ति से विदेशियों के विरुद्ध युद्ध करते हुए अपने देश की रक्षा की थी। सिक्कों के आधार पर ऐसा माना गया है कि उन्होंने कुषाणों के विरुद्ध एक संघ बनाया था। इस अभिलेख के कथन से कि सभी क्षत्रियों ने उसे अपना नेता चुना था, इससे सिद्ध होता है कि उसका तत्कालीन राजनैतिक जीवन में कितना महत्व था।

शातकर्णि पर विजय

जूनागढ़ लेख में उल्लिखित है कि रुद्रदामन ने दक्षिणापथ के शासक शातकर्णि को युद्ध में दो बार पराजित किया, किंतु संबंधों की निकटता के कारण उसके प्राण नहीं लिए। इन युद्धों में रुद्रदामन ने शातकर्णि को पराजित कर यश प्राप्त किया, डॉ. रायचौधरी का विचार है कि यह वसिष्ठ पुत्र शातकर्णि था। किंतु विद्वानों में इस विषय पर मतभेद हैं।

इन विजयों के अतिरिक्त रुद्रदामन को शत्रुओं को पराजित करने वाला बताया गया है। उसने अन्य भ्रष्ट राज्यों को भी प्रतिष्ठापित किया था, किंतु डॉ. चट्टोपाध्याय का विचार है कि इसका वास्तविक महत्व स्पष्ट नहीं है। समुद्रगुप्त के समान उसने संभवत: पराजित राजाओं को अपना यशवर्ती बनाकर फिर से प्रस्थापित कर दिया था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शक महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम की बहुमुखी प्रतिभा, प्रज्ञा और पराक्रम के द्वारा स्थापित कीर्ति तत्कालीन राजनैतिक इतिहास में उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गई जैसे कि इस युग के अन्य महान शासकों खारवेल और गौतमीपुत्र शातकर्णि की प्रतिष्ठा थी, किंतु मुख्य बात यह है कि उसने एक विदेशी होते हुए भी भारतीय संस्कृति, समाज, साहित्य और धर्म का पालन किया। वह प्रजावत्सल सम्राट था, जिसने अपने विजित राज्य को उदार शासन व्यवस्था द्वारा संगठित किया और इसीलिए यह राज्य अंततः समकालीन शक्तियों से संघर्ष करता हुआ उस समय तक बना रहा जब तक चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) को स्वयं ही उनके विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा।

1.1.6.8. शासन प्रबंध

प्राचीन स्रोतों से स्पष्ट है कि सभी वर्णों के लोगों ने उसे अपना राजा चुना था। इससे उसकी लोकप्रियता का पता चलता है। उसके साम्राज्य में विभिन्न जनपदों तथा नगरों और निगमों के लोग दस्युओं, सर्पों, हिंसक पशुओं और रोगों से मुक्त थे तथा संपूर्ण प्रजा उससे अनुक्त थी। इस प्रजा प्रेम का साक्ष्य इसी बात से मिलता है कि सुदर्शन झील की मरम्मत हेतु उसने अपने ही कोष से प्रजा को बिना कष्ट दिए हुए अर्थात् बिना कर लगाए हुए राशि स्वीकृत की थी। अतः स्पष्ट है कि रुद्रदामन एक 'प्रजा-प्रणय' से परिपूर्ण जन प्रिय शासक था।

प्राचीन हिंदू व्यवस्था का सिद्धांत है कि कर-नीति अत्यंत उदार होनी चाहिए। किसी भी राज्य के शासन की सफलता कोष की समृद्धि पर निर्भर करती है। रुद्रदामन का कोष सोना, चाँदी, रत्न और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं से भरा हुआ था, जिन्हें उसने न्याय से धर्मानुसार प्राप्त किया था। इन्हें उसने बलि, शुल्क व भाग के रूप में प्राप्त किया था। इस प्रकार उसका कोष आवश्यक संपत्ति और सामग्री से परिपूर्ण था। कामन्दकीय नीतिसार में भी कोष को मुक्ता, कनक रत्न आदि से भरा हुआ एवं पूर्वजों द्वारा प्राप्त तथा धर्मार्जित बताया गया है।

1.1.6.9. सेना

सेना भी राज्य का महत्वपूर्ण अंग थी, जिसकी कुशलता पर शासन की सफलता और राज्य की सुरक्षा निर्भर करती है। रुद्रदामन प्रथम कुशल सेनानायक था, जो रण-विद्या में भी दक्ष था। उसकी सेना चतुरंगिणी थी। असि-चर्म-युद्ध अर्थात् ढाल-तलवार का युद्ध अधिक प्रचलित था।

1.1.6.10. मंत्री

रुद्रदामन की शासन पद्धति में सचिवों और अमात्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। मति-सचिव और कर्म-सचिवों का उल्लेख मिलता है। मति-सचिव अथवा धी-सचिव मंत्रणा देने वाला अमात्य था और कर्म-सचिव कार्यकर्ता था। ये सचिव अमात्य गुणों से युक्त थे। इस प्रकार रुद्रदामन के शासन में 'मंत्रि-संपद्' का भी महत्व था। स्पष्ट है कि रुद्रदामन की शासन पद्धति भी प्रचलित प्राचीन सप्तांग राज्य-व्यवस्था पर आधारित थी।

राष्ट्र की समृद्धि के लिए ही सिंचाई का उत्तम प्रबंध किया गया था। इसीलिए रुद्रदामन ने सुदर्शन झील के महत्व को जानते हुए उसकी मरम्मत कराई थी।

1.1.7. रुद्रदामन के उत्तराधिकारी

रुद्रदामन के बाद अन्य शासक हुए जिनके विषय में उनकी मुद्राओं से ज्ञान प्राप्त होता है।

दामघ्सद/दामज़द

इस सम्राट के सिक्कों पर इसे राजा महाक्षत्रप रुद्रदामन का पुत्र और राजा क्षत्रप दामघ्सद/दामज़द का उल्लेख मिलता है। इसने अपने पिता के साथ क्षत्रप के रूप से शासन में सहायता की और वह रुद्रदामन के बाद स्वयं महाक्षत्रप हो गया।

1.1.7.1. जीवदामन

सिक्कों से ज्ञात होता है कि दामज़द का पुत्र जीवदामन ही महाक्षत्रप/राजा हुआ। जीवदामन के सिक्कों पर 100, 119, और 120 (क्रमशः 178, 197 और 198 ई.) तिथियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे उसके राज्यकाल की अवधि का ज्ञान होता है।

1.1.7.2. रुद्रसिंह (प्रथम)

यह महाक्षत्रप रुद्रदामन का पुत्र था जो पहले क्षत्रप और बाद में महाक्षत्रप हुआ। उसके सिक्कों पर 102, 118, 119 (क्रमशः 180, 196, 197 ई.) तिथियाँ मिलती हैं। इन मुद्राओं से ऐसा प्रकट होता है कि जीवदामन और उसमें समकालीनता थी। इससे यह सिद्ध होता है कि संभवतः दोनों में उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ था।

1.1.7.3. रुद्रसेन (प्रथम)

कालांतर में रुद्रसिंह (प्रथम) के पुत्र रुद्रसेन (प्रथम) ने शासन किया और क्षत्रप काल के सवंत् 121 (199-200 ई.) में सिक्के चलाए। 122 संवत् (200-201 ई.) द्वारिका के निकट उसका (मलवेसर) लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें उसे महाक्षत्रप कहा गया है। वैशाली की एक मोहर में भी उसे महाक्षत्रप कहा गया है।

सिक्कों से ज्ञात होता है कि रुद्रसेन (प्रथम) के बाद उसका भाई सिंहदामन शासक हुआ, जिसका शासन एक वर्ष तक ही रहा। इसी समय मालवा के लोगों ने स्वतंत्रता के लिए युद्धघोष प्रारंभ कर दिया था और डॉ. अल्तेकर का विचार है कि ''223 ई. में मालवों से युद्ध करते हुए सिंहदामन की मृत्यु हो गई।''

सिक्कों से पता चलता है कि सिंहदामन के बाद ही इस वंश का पतन प्रारंभ हो गया और अंतिम शक-क्षत्रप स्वामी रुद्रसेन (तृतीय) के समय ही चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य में विलीन कर लिया।

1.1.8. पह्लवों का इतिहास

भारत के पह्लवों (पारद अथवा पार्थियन राजाओं) का इतिहास अंधकार में है। उनके इतिहास पर कुछ प्रकाश सिक्कों और लेखों से पड़ता है। पार्थिया सीरिया साम्राज्य का एक प्रांत था जिसके गवर्नर अर्सकीज़ ने स्वतंत्र होकर पारद (पार्थियन) राज्य की स्थापना की। शकों के साथ इनका घनिष्ठ संबंध था। रुद्रदामन (प्रथम) के शासनकाल में उसका एक अमात्य पह्लव भी था, जिसका नाम सुविशाख था। इससे सिद्ध होता है कि शकों की भाँति ही पह्लव ने भी भारत में प्रवेश किया और वे द्वितीय शताब्दी ई. के मध्य तक भारतीय हो गए थे। सुविशाख नाम भारतीयता का परिचायक है। प्रारंभ में पह्लवों ने काबुल् गान्धार और सिंधु को जीत लिया था, ऐसा उसके सिक्कों से सिद्ध होता है।

इस वंश का पहला शासक जिसके विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह वानानीज़ था। उसने अर्कोसिया और सीस्तान में अपनी सत्ता स्थापित कर 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। उसके सिक्के भी प्राप्त होते हैं। उसने 'महरजस् रजसमहतस्' की उपाधि भी धारण की थी। इसके सिक्कों पर केवल ग्रीक लेख ही प्राप्त होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अब तक वह भारतीय राज्य से अधिक संबंधित नहीं था।

वानानीज़ के पश्चात् स्पेलिराइसिस सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके सिक्कों पर यूनानी लेखों के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि में भारतीय (प्राकृत) लेख भी मिलता है, जिससे इसका संबंध भारतीय भूभागों से सिद्ध होता है।

1.1.8.1. गोन्दोफनिर्स

गोन्दोफनिर्स इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा था। तख्तेबही लेख (103 सवंत्) में उसके शासन का साक्ष्य मिलता है कि वह उस समय राज्य कर रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे इस वंश का

पतन होता गया। इस पतन का मुख्य कारण उत्तर-पश्चिमी भारतीय द्वार से कुषाणों का आक्रमण और प्रभुत्व की स्थापना थी।

1.1.9. भारत में हूण

द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में चीन के पश्चिमी सीमा पर बसी हुई हूण (हूँग नू) जाति के विषय में विदित है कि इसने यू-ची नामक अपर जाति को पराजित कर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया। आगे चलकर हूण स्वयं एशिया के स्टेपी मैदानों से निकल कर भूमि, भोजन और चरागाहों की खोज में पश्चिम की ओर चल पड़े। वहाँ ये दो शाखाओं में विभाजित हो गए। एक शाखा ने वक्षु नदी की घाटी की ओर से होते हुए भारत में प्रवेश किया। द्वितीय शाखा ने वोल्गा नदी की घाटी से होते हुए यूरोप में प्रवेश किया। हूणों की संख्या, शक्ति और निर्दयता को भारत और यूरोप वासियों ने सहन किया। उनके खेत और गाँव उन्हीं के सामने जलाकर भस्म कर दिए गए और ये लोग बिना कारण मार दिए गए।

वक्षु-घाटी से लेकर फारस पर अधिकार करने वाली हूण शाखा इतिहास में श्वेत हूण के नाम से प्रसिद्ध है। वे फारस से आगे बढ़ कर काबुल होते हुए उत्तरी भारत पर टूट पड़े। उस समय महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त गुप्त-सिंहासन पर विराजमान थे।

हुआन सांग के अनुसार, ''मिहिरकुल ने बौद्धों पर बहुत अत्याचार किया। मिहिरकुल की क्रूरताओं से ही परेशान होकर संभवत: हिंदू शक्तियों ने एक संघ का संगठन कर मिहिरकुल पर आक्रमण किया।'' हुआन सांग के अनुसार बालादित्य ने ही इसे बंदी बनाया था। वहाँ से मुक्त होकर उसने कश्मीर नरेश के यहाँ शरण ली और अपने उदार आश्रयदाता को हटाकर स्वयं राजा बन बैठा। मिहिरकुल को यशोधर्मन ने भी परास्त किया था। वह शैव धर्म को मानने वाला था। अंत में वह मृत्यु का शिकार हुआ, किंतु भारत पर हूणों के आक्रमण निरंतर होते रहे।

कालांतर में हूण भारत में बस गए और भारतीय बनकर भारत के उन्नायक बन गए। भारतीय इतिहास में तोरमाण और मिहिरकुल प्रसिद्ध ऐतिहासिक हूण शासक हैं, जिनके विषय में हमें साहित्य और अभिलेखों में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। वराह मिहिर की वृहत्संहिता में इन्हें 'सितहूण' अथवा 'श्वेतहूण' कह कर चीन के सन्निकट मरुचीन (चीती तुर्किस्तान) का बताया गया है। वृहत्कथामंजरी में हूणों को कंबोजों, यवनों, बबर्रों, तुषारों, पारसीकों के साथ ही नीच म्लेच्छ कहा गया है। इसलिए कि वे आचारहीन, उद्धत् और उग्र थे। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ लेख में भी इन्हें म्लेच्छ कहा गया है। यहाँ पर यही बताया गया है कि स्कंदगुप्त से पराजित होकर वे 'म्लेच्छ देश' में चले गए। स्कंदगुप्त के भीतरी स्तंभ लेख में इस गुप्तवंशी वीर और हूण आक्रांता में भीषण संग्राम होने का उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार स्कंदगुप्त ने हूणों के आक्रमण से विचलित कुललक्ष्मी को नष्ट होने से बचा लिया। यद्यपि वह इसे स्थिर नहीं बना सका। बुधगुप्त के एरण स्तंभ लेख गुप्त संवत् 165 (= 484 ई0) पूर्वी मालवा प्रदेश में गुप्त आधिपत्य सिद्ध होता है। परंतु तोरमाण के एरण स्तंभ लेख से सिद्ध होता है कि इस क्षेत्र में हूणों का आधिपत्य स्थापित हो गया था।

1.1.9.1. तोरमाण

एरण में स्थापित की गई वराहमूर्ति पर तोरमाण का लेख अब भी यहीं विद्यमान है। इस लेख से ज्ञात होता है कि महाराजाधिराज तोरमाण के शासन काल में स्वर्गीय मातृविष्णु का छोटा भाई धन्यविष्णु इसी ऐरिकिण प्रांत (एरण) में हूणों का राज्यपाल था। पहले ये दोनों भाई गुप्त सम्राट बुधगुप्त की ओर से इसी प्रांत के शासक थे।

पंजाब के कूरा (साल्ट रेंज) अभिलेख में भी इस शासक को "राजाधिराज महाराज तोरमाण षाहि" कहा गया है। इसी लेख से ज्ञात होता है कि उसके परिवार में राजपुत्र, राजदुहिता, भाई, बहन और पत्नियाँ भी थीं। यह भी ज्ञात होता है कि वह बुद्ध धर्मावलंबी भी था।

कल्हण की राजतरंगिणी में भी तोरमाण का उल्लेख प्राप्त होता है। मिहिरकुल के ग्वालियर लेख (राज्य संवत् 15) से ज्ञात होता है कि तोरमाण महान गुणज्ञ राजा था, जिसने अपने राज्य का शासन शक्ति, न्याय और सत्य सनातन सिद्धांतों के अनुसार अत्यंत उदारता से किया।

1.1.9.2. मिहिरकुल

प्रतापी शासक तोरमाण का कुलवर्धन और यशस्वीपुत्र मिहिरकुल उसके बाद प्रसिद्ध सम्राट हुआ। वह शिव का उपासक था। इसे भी ग्वालियर लेख में पराक्रमी श्रेष्ठ शासक और प्रजा को शरदचंद्र के समान सुखद बताया गया है। इसीलिए वह राजाओं में श्रेष्ठ राजा (नृपः वृषः) कहा गया है, परंतु सिक्कों को देखने से ज्ञात होता है कि वृष उसके विरुद्ध ही था। इसीलिए द्विजगण उसका गुणगान करते हुए मंगल पाठ करते थे। ग्वालियर लेख में उसके द्वारा ग्वालियर (गोपद्रिगिरि) में सूर्य मंदिर स्थापित करवाया गया था। परंतु इसी लेख में सूर्य भक्ति के अतिरिक्त शिव भक्ति और विष्णु की भी भक्ति-पूजा का उल्लेख किया गया है। इस शिलालेख की तिथि उसका 15वाँ राज्यवर्ष है। अतः यही सिद्ध होता है कि उसने कम-से-कम 15 वर्ष अवश्य राज्य किया होगा।

मिहिरकुल के विषय में कुछ जानकारी यशोधर्मन के मंदसौर स्तंभ लेख से भी प्राप्त होती है। इस लेख में बताया गया है कि जिस मिहिरकुल का सिर शिव के अतिरिक्त और किसी के सामने नहीं झुकता था उसे यशोधर्मन के दोनों चरणों पर नीचे झुक कर प्रणाम करना पड़ा और साथ ही चूड़ा तथा पुष्पोपहार से भी मिहिरकुल ने यशोधर्मन की अर्चना की। इस प्रकार स्पष्ट है कि सं. 589 अथवा 522-33 ई. के लगभग मिहिरकुल की इसी मालवा प्रदेश में ही पराजय हुई।

कल्हण की राजतरंगिणी में भी हूणों के आधिपत्य स्थापित हो जाने और उस वंश के राजा मिहिरकुल का एक क्रूर-शासक के रूप में उल्लेख किया गया है। राजतरंगिणी में ही चंद्रव्याकरण का भी उल्लेख (राजतरंगिणी 1/175-176) किया गया है। चंद्रव्याकरण की सूत्रवृत्ति में दिए गए एक उदाहरण से- अजयद्-गुप्त हुणान् से हूणों की पराजय सिद्ध होती है। इसके प्रतिकूल सोमदेव से हूणों की चित्रकूट विजय का प्रमाण मिलता है। इन उल्लेखों से हूणों और हिंदू शक्तियों के संघर्ष का परिचय मिलता है, जिसकी पुष्टि तत्कालीन अभिलेखों से भी हो जाती है।

1.1.9.3. बालादित्य-मिहिरकुल

हुआन सांग के अनुसार मिहिरकुल का संबंध पंजाब के शाकल नगर(सियालकोट) से था। उसने आसपास के सभी राज्यों को जीतकर अपना अधिकार स्थापित किया। उसने बौद्धधर्म पर बहुत से अत्याचार किए। चीनी यात्री का कथन है कि मगध-नृप बालादित्य बुद्ध धर्मावलंबी था। उसने राज्य की सीमा सुरक्षा का प्रबंध कर हूण शासक को कर देना अस्वीकार कर मिहिरकुल का विरोध करना प्रारंभ किया। मिहिरकुल के आक्रमण के समक्ष बालादित्य ने भागकर एक द्वीप में शरण ली। मिहिरकुल ने उसका यहाँ भी पीछा किया, परंतु उसे बालादित्य ने बंदी बना लिया और वह उसका बध भी करना चाहता था; परंतु माता के कहने पर बालादित्य ने उसे मुक्त कर दिया। इस प्रकार छूटने के बाद मिहिरकुल ने कश्मीर के राजा के यहाँ शरण ली और उस कश्मीर के उदार राजा को कुछ वर्षों के बाद मार कर मिहिरकुल ने उसका राज्य हड़प लिया। इस कारण राजतरंगिणी (कश्मीर के इतिहास) में उसे क्रूर कहा गया है।

1.1.10. कुषाण युग

बेग्राम (प्राचीन कपिश, जो अफ़गानिस्तान में है) की खुदाई से गोन्दोफनिर्स के बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं। परंतु उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के नहीं मिले हैं, जिससे सिद्ध होता है कि कपिशा और काबुल नदी की घाटी में पह्लवों की सत्ता समाप्त हो चुकी थी और एक नए राज्य का उदय हो चुका था। पंजतार शिलालेख (64 ई.) से ज्ञात होता है कि पेशावर प्रांत में कुषाणों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था। चीन के ऐतिहासिक विवरणों से ज्ञात होता है कि कुषाण राजा कैडफाइसिस (प्रथम) ने पार्थिया पर आक्रमण किया और काबुल तथा कश्मीर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 64 ईसवी के पहले सिंधु नदी की घाटी में कैडफाइसिस (प्रथम) शासन कर रहा था। कैडफाइसिस (प्रथम) नामक कुषाण राजा के उदय से इतिहास में एक नए युग का प्रारंभ होता है, जिसे 'कुषाण-युग' कहा गया है।

कुषाण युग का महत्व

भारतीय इतिहास में कुषाण युग का विशेष महत्व है। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत में पहली बार एक ऐसा साम्राज्य बना, जिसमें पूर्व देश, मध्य देश और उत्तरापथ के अतिरिक्त हिंदुकुश की पहाड़ियों के उस पार मध्य एशिया के भू-भाग भी सम्मिलित थे। इससे भारत पुनः विदेशों के संपर्क में आया और इस युग में भारतीय संस्कृति और विचार प्राकृतिक सीमाओं को पार कर सुदूर देशों में भी फैले। बौद्ध महायान धर्म के उदय और विस्तार से मथुरा और गांधार-कला प्रस्फुटित हुई। गांधार-कला ने भी अपने रूप-शिल्प से मध्य एशिया की पहाड़ियों को भी एक अभिमंडित स्वरूप प्रदान किया जहाँ शिलाखंडों पर बुद्ध और उनकी लीलाओं का चित्रांकन किया गया है। इसी युग में संस्कृत के संपर्क और सहयोग से बौद्ध संस्कृति अधिक समृद्ध हुई। प्रसिद्ध ब्राह्मण और वैदिक विद्वान अश्वघोष कालांतर में बुद्ध भक्त बना। उसका 'बुद्ध-चरित' प्रथित संस्कृत काव्य है। आयुर्वेद के क्षेत्र में भी चरक और सुश्रुत प्रसिद्ध हैं। बौद्ध साहित्य में यदि हम इस युग को 'संस्कृत अवदानों का युग' कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। दिव्यावदान, ललितविस्तार, महावस्तु आदि अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ हैं, जिनमें तत्कालीन जीवन का सुचित्रण हुआ है।

1.1.10.1. यूचियों का अभियान

चीन के उत्तर पश्चिम स्थित कांसू प्रांत में यूची और हूँग नू नाम की दो जातियाँ रहती थीं। वे घुमक्कड़ जातियाँ अपने पशुओं के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमती-फिरती रहती थीं। 165 ई. पूर्व के आस-पास हूँग नू ने यू-ची जाति को पराजित कर अपने देश (कांसू प्रांत) को छोड़ने के लिए विवश किया। पश्चिम की ओर घूमते हुए गोबी के निकट वू सुन जाति से मुठभेड़ हुई। यू-ची लोग वू सुन का वध कर आगे बढे, क्योंकि उनका देश यथेष्ट उपयोगी न था। आगे बढ़कर शकों को पराजित कर उनके देश पर अधिकार कर लिया। अतएव पराजित शक भारत की ओर चल पड़े। यू-ची शकों के देश में कुछ समय रहने के बाद वहाँ ही उन्हें फिर हूँग नू जाति से पराजित होना पड़ा। हूँग नू जाति ने मृत वू सुन के पुत्र का पक्ष लेकर इन्हें शक देश छोड़ने को विवश किया। अब यू-ची शक देश छोड़कर आगे बढ़े और आक्सस (वक्षु) नदी के तट पर पहुँच कर बस गए। कालांतर में इस जाति का घुमक्कड़ी स्वभाव जाता रहा। वे पाँच शाखाओं राज्यों में विभक्त होकर वहीं बस गए। बैक्ट्रिया और सोग्डियना (बोखारा राज्य) भी इनके अधिकार में था। इनमें एक शाखा राज्य का नाम कोइशांग (कुशन) था, जिसके प्रधान कैडफाइसिस प्रथम ने शेष चारों राज्यों पर अधिकार स्थापित किया। इसी ने भारत में कुषाण राज्य की स्थापना की।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यू-ची जाति जिसने कुषाण के राज्य को स्थापित किया, मध्य एशिया से आयी थी और इसका तुर्किस्तान तथा तुखार देश से स्पष्ट संबंध था। इसीलिए पुराणों में इनको तुरुष्क (तुर्क) और तुखार (टोखारियन) कहा गया है। कल्हण की राजतरंगिणी में भी इन्हें तुरुष्कवंशी कहा गया है। राजतरंगिणी में कल्हण ने बताया है कि वे तुरुष्कवंशी होते हुए भी धार्मिक राजा थे और उन्होंने मठों तथा चैत्यादिकों का निर्माण कराया।

उनके राज्यकाल में कश्मीर में बौद्ध धर्म की भी उन्नति हुई। कल्हण के विचार पूर्णतः इतिहास सम्मत होते हुए भी आधुनिक इतिहासकारों द्वारा उपेक्षित रहे हैं। निश्चयतः तुरुष्क, म्लेच्छ और अधार्मिक तथा अच्छे घुड़सवार और युद्ध से मुँह न मोड़ने वाले लड़ाकू थे।

किंतु इतिहास से स्पष्ट है कि केजुल कैडफाइसिस, वीम कैडफाइसिस, कनिष्क, हुविष्क आदि धार्मिक सम्राट थे जैसा कि उनके सिक्कों और अभिलेखों से सिद्ध होता है। राजतरंगिणी, तुखारों को कम्बोज देश के पास ही स्थित बताती है और स्टाइन इनको यूचियों से संबंधित बताते हैं।

1.1.10.2. कुजुल कैडफ़ाइसिस/कैडफ़ाइसिस प्रथम

इस शासक ने कुषाण राज्य की नींव डाली थी। वह एक विजेता था, जिसने अपनी विजयों द्वारा हिंदुकुश पर्वत को पार कर पूर्व की ओर (कश्मीर या काफिस्तान) काबुल पर अपना अधिकार स्थापित किया। संपूर्ण अफगानिस्तान उसके अधिकार में था।

उसके तांबे के सिक्के मिले हैं जिनसे ऐसा ज्ञात होता है कि काबुल नदी की घाटी में अंतिम यवन शासक हर्मेयस को पराजित कर उसने वहाँ अपना अधिकार किया था। सिक्कों से ही ज्ञात होता है कि वह एक धार्मिक सम्राट था और संभवत: वह बौद्ध धर्मानुयायी था।

1.1.10.3. विमा कैडफाइसिस/कैडफाइसिस द्वितीय

अस्सी वर्ष की आयु में कुजुल कैडफाइसिस की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र वि मा कैडफाइसिस/कैडसाइसिस द्वितीय गद्दी पर बैठा। यह भी एक विजेता और आदर्शवादी धार्मिक सम्राट था, जिसने अपने पैतृक राज्य को विस्तारित कर साम्राज्य का स्वरूप दिया। उसके समय में रोम राज्य से भी भारत का व्यापारिक संबंध बना। भारत का माल वहाँ पहुँचने लगा और रोम से सोना यहाँ आने लगा। रोम की सुवर्ण मुद्राओं का प्रचार भारत में हुआ तथा कैडफाइसिस द्वितीय ने रोमन सिक्कों (डिनेरियस ऑरियस) के समान तौल वाले सोने के सिक्के भारत में भी चलाए। इन सुवर्ण-मुद्राओं पर ही शिव को नंदी के साथ खड़ा हुआ पाते हैं। वह कुशल शासक था एवं शैव था।

1.1.11. कनिष्क (प्रथम)

संभवतः कनिष्क ने गांधार की विजय अपने पिता के राज्यत्व काल में की थी, जैसा कि मार्शल का मत है। स्मिथ के अनुसार, ''कैडफाइसिस द्वितीय का राज्य अफगानिस्तान, पंजाब और पूर्व में गंगा और बनारस तक फैला हुआ था। कुषाण वंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट कनिष्क प्रथम था जो कैडफाइसिस द्वितीय के बाद सम्राट हुआ।''

फिर भी चीनी ऐतिहासिक विवरणों, अभिलेखों और सिक्कों के आधार पर उसके राज्य-काल का अध्ययन करना उचित है। उसके राज्यकाल के कई अभिलेख तथा सोने और ताँबे के सिक्के उपलब्ध हैं। सभी लिपियों के राज्य वर्षों में उसका उल्लेख है, परंतु यह निश्चित नहीं है कि वह किस संवत् की हैं। अतः प्रथमतः कनिष्क का समय जानना आवश्यक है। कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के बहुत से

अभिलेख प्राप्त हैं, परंतु जैसा स्पष्ट है कि उनकी तिथियाँ इस प्रकार से दी गई हैं कि उनके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए गए हैं। निम्नलिखित कुषाण अभिलेख विभिन्न तिथियों में प्राप्त हुए हैं-

(प्रथम) कनिष्क के लेख राज्य			वर्ष 1 से 23 तक
वासिष्क	”	”	24 से 28 तक
हुविष्क	”	”	28 से 60 तक
(द्वितीय) कनिष्क (आरा लेख)		”	41
वासुदेव	”	”	67 से 98 तक

इन तिथियों के क्रमिक चढ़ाव से न केवल कुषाण साम्राज्य का विकास परिलक्षित होता है, अपितु इनसे कनिष्क (प्रथम) से किसी विशेष संवत् का प्रचलन भी प्रतीत होता है। इतिहासकारों के समक्ष यह समस्या है कि यह संवत् कौन-सा था? अधिकांश विद्वान कनिष्क को (78 ई. से प्रारंभ होने वाला) शक संवत् का चलाने वाला मानते हैं। कनिष्क की तिथि संबंधी मतों का विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि सर्वमान्य संवत् शक संवत् ही है जिसे कनिष्क का संवत् माना गया है।

1.1.11.1. दिग्विजय और साम्राज्य विस्तार

कैडफ़िसस-युग में कुषाण सत्ता उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रदेश (उत्तरापथ) में सीमित रही थी, परंतु कनिष्क ने अपने पराक्रम से उसे मध्य देश और उत्तरापथ तथा पश्चिम भारत में स्थापित कर विशाल कुषाण साम्राज्य बनाया, जिसमें कश्मीर भी सम्मिलित था। उसने पर्वतों के उस पार मध्य एशिया तक अपनी धाक जमाई। अनुश्रुति के साथ उसके अभिलेखों और सिक्कों से भी पुष्ट होता है कि उत्तरी भारत में उसका साम्राज्य फैला हुआ था। उसके अभिलेख पेशावर से मथुरा होते हुए सारनाथ तक पाए गए हैं, जिससे प्रकट होता है कि मध्य देश और मगध तक उसका अधिकार था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कनिष्क एक महान विजेता था।

1.1.11.2. अंतर्वेदी

मध्य देश (सामान्यतः गंगा-यमुना दोआब या अंतर्वेदी) में उसके अधिकार के साक्ष्य, अभिलेखों और सिक्कों से मिलते हैं। उसका प्रारंभिक अभिलेख बनारस के निकट स्थित सारनाथ में मिला है। यह उसके राज्य के तीसरे वर्ष का है। इस लेख में महाराज कनिष्क के राज्य काल में जब वाराणसी और उसके आसपास का क्षेत्र (प्राचीन काशी राज्य) उसके क्षत्रप वनस्फर और खरपल्लन द्वारा शासित हो रहा था। खरपल्लन महाक्षत्रप था और वनस्फर एक क्षत्रप था। स्पष्ट है कि मध्य देश, जिसका केंद्र वाराणसी था, उसके राज्य का अभिन्न अंग था।

इस अभिलेख में भिक्षु बल द्वारा बोधिसत्व की मूर्ति और क्षत्रयष्टि प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। यह मूर्ति मथुरा और इसके निकट स्थित रूपवास आदि खानों से निकलने वाले लाल पत्थर की है, जिसके लिए मथुरा मूर्तिकला का केंद्र बन गया। यह मूर्ति मथुरा से ही सारनाथ को भेजी गई होगी। मथुरा भी कनिष्क राज्य का प्रसिद्ध केंद्र था। मथुरा में हुविष्क का अभिलेख मिला है। अतः मथुरा राज्य भी, जिसके स्वतंत्र अस्तित्व के साक्ष्य वहाँ के उपलब्ध सिक्के हैं, कनिष्क के राज्य में सम्मिलित था। कनिष्क की एक शिरहीन मूर्ति मथुरा के पास माट गाँव में पाई गई है, जो इस समय मथुरा संग्रहालय में है।

तिब्बती अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि कनिष्क ने ‘सोकेड’ (साकेत) की विजय की थी। मौर्योत्तर युग में पुनः अयोध्या-साकेत (प्राचीन कौशल राज्य) के स्वतंत्र अस्तित्व का साक्ष्य यहाँ के विशिष्ट प्रकार के सिक्के हैं। अतः स्पष्ट है कि कनिष्क को पूर्वी देश की विजय करने के पूर्व मथुरा और कौशल की भी

विजय करनी पड़ी थी। वृहत्संहिता में भी अयोध्या राज्य और साकेत का उल्लेख मिलता है। कुषाणों के पराभव होने पर ही साकेत में गुप्तवंश का उदय हुआ।

आर्जुनायन देश भी जिसकी स्थिति आगरा, भरतपुर, अलवर प्रांतों में थी, कनिष्क के हाथों अपनी स्वतंत्रता खो बैठा। इसी प्रकार कुणिंदों और यौधेयों तथा मालवों के राज्यों को पराभूत होना पड़ा। इस प्रकार थानेश्वर से लेकर वाराणासी तक संपूर्ण मध्य देश कनिष्क के राज्य में सम्मिलित हो गया।

पूर्व देश

कनिष्क की मृत्यु के कुछ बाद लिखे गए। बौद्धग्रंथ कल्पनामंडितिका में इसके लेखक कुमारलात ने लिखा है, ''कनिष्क ने पूर्वी भारत पर आक्रमण किया और उसे जीता। उसकी शक्ति अदम्य थी। पूर्व देश जीतने के बाद वह अपने देश को वापस गया।''

श्री धर्मपिटक निदान सूत्र के अनुसार, ''कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को करद बनाया। साथ ही वहाँ से उसने बौद्ध आचार्य अश्वघोष को भी अपनी राजधानी में ले गया। बिहार विजय पर उसके सिक्कों की प्राप्ति से भी ज्ञात होता है।''

डॉ. चट्टोपाध्याय का विचार है, ''चीनी वृत्तों के अनुसार उसने पश्चिमी बंगाल के कुछ भाग को भी जीता। मुरुंड नामक जाति, जिसे पूर्व देश से संबद्ध किया गया है, भी कनिष्क द्वारा पराजित हुई।''

पश्चिम देश

भावलपुर (पाकिस्तान) प्रांत के सुइविहार नामक स्थान में कनिष्क के राज्य के 11वें वर्ष का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसके अनुसार महाराज राजाधिराज देव-पुत्र कनिष्क इस क्षेत्र में राज्य कर रहे थे। सुइविहार जोहियाबार अर्थात् यौधेयगण के पुराने राज्य में स्थित है। अतः यह स्पष्ट है कि यौधेयों से ही यह प्रांत कनिष्क ने छीना होगा।

सुइविहार के दक्षिण पश्चिम में स्थित सिंध प्रांत भी उसके अधिकार में रहा होगा। कुषाण अक्षरों से युक्त कुछ पुराने मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े थल घाटी लोराकाई और बिलोचिस्तान में मिले हैं। इन के आधार पर स्टेन का मत है कि कनिष्क या उसके उत्तराधिकारी के शासन काल में कुषाण राज्य का प्रसार हुआ।

1.1.11.3. उत्तरापथ

पुराणों और राजतरंगिणी में कुषाणों को तुरुष्क कहा गया है। अतः स्वाभाविक था कि वे उत्तरापथ के स्वामी थे, जहाँ कैडफाइसिस प्रथम और द्वितीय ने अपना राज्य स्थापित किया था। कनिष्क ने इस राज्य का चतुर्दिक विस्तार किया।

सिंधु नदी के पश्चिमी तट पर ओहिंद के निकट स्थित जेदा गाँव से संवत्11 का एक लेख मिला है, जिससे कनिष्क का इस प्रदेश में अधिकार सिद्ध होता है। इसी क्षेत्र में उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) भी स्थित थी।

हुआन सांग के अनुसार, ''गांधार उसके राज्य में सम्मिलित था। कनिष्क के सिक्कों पर ईरानी, (पारसी) और यूनानी देवी देवताओं के नाम तथा मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं। इन सिक्कों का प्रचलन इन लोगों में ही मुख्य रूप से था जो विदेशी थे और उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रदेश में बसे हुए कनिष्क की प्रजा थे। कनिष्क के प्रयास और प्रोत्साहन से इस युग में यहाँ गांधार कला प्रस्फुटित हुई, जिसके फलस्वरूप बामियान के आसपास आज भी विशाल बौद्ध मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।''

कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार, ''कश्मीर उसके राज्य में सम्मिलित था और कनिष्कपुर नामक नगर की स्थापना भी कनिष्क ने ही की थी।''

1.1.11.4. मध्य एशिया

इस युग में चीन राज्य के सेनापति पंचाऊ ने चीनी सत्ता का अधिक विस्तार किया। वह विजय करता हुआ रोम राज्य की सीमा तक पहुँच गया। महाराज कनिष्क की महत्वकांक्षा ने भी करवट ली और उसने अपनी दृष्टि मध्य एशिया की ओर डाली। उसने पंचाऊ के पास अपने दूत द्वारा एक संदेश भेजा कि चीनी सम्राट अपनी कन्या का विवाह उसके साथ करे। इस संदेश को चीन के लिए अपमानजनक समझ कर उसने दूत को बंदी बना लिया, जिससे क्रुद्ध होकर कनिष्क ने घुड़सवारों की एक प्रचंड सेना को चीन विजय के लिए भेजा। दुर्गम पर्वतीय मार्ग को पार कर जब यह सेना घाटी के नीचे चीन में उतरी तब पंचाऊ ने इनको बड़ी सुगमता से पराजित कर दिया। अब कनिष्क को विवश होकर प्रति वर्ष चीन सम्राट को कर देना पड़ता था। इसका उसके राज्य की दृढ़ता पर कोई असर न पड़ा और भारतीय प्रांतों पर उसका अधिकार शिथिल न हुआ।

कुछ समय बाद सेनापति पंचाऊ की मृत्यु हो गई और अब पुनः कनिष्क ने आक्रमण किया और काशगर, यारकंद तथा खोतन के प्रांतों पर अधिकार जमाया। अनुश्रुति के अनुसार कहा जाता है कि कनिष्क ने बंधक की भांति चीनी राजकुमार को लाकर कश्मीर में रख दिया। इस कार्य से मध्य एशिया के साथ भारत का सांस्कृतिक आदान-प्रदान द्रुत गति से बढ़ गया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कनिष्क का साम्राज्य अत्यंत विशाल था, जिसे उसने सुशासन द्वारा सुदृढ़ और सुव्यवस्थित किया।

1.1.11.5. शासन प्रबंध

महाराज कनिष्क के शासन प्रबंध पर उसके अभिलेखों से प्रकाश पड़ता है। यह क्षत्रप प्रणाली थी, जिसमें साम्राज्य के प्रदेश और प्रांत महाक्षत्रपों तथा क्षत्रपों द्वारा शासित होते थे। कनिष्क के सारनाथ अभिलेख में वनस्फर को क्षत्रप तथा खरपल्लन को महाक्षत्रप कहा गया है। वे दोनों सारनाथ-वाराणसी में ही नियुक्त थे। उनके कार्यों और पदों में विभेदन करना कठिन है, क्योंकि अन्यंत्र महाक्षत्रप का उल्लेख नहीं किया गया है। डॉ. पुरी की ऐसी धारणा है कि खर-पल्लान कनिष्क राज्य के पूर्वी भाग का शासक था।

1.1.11.6. कनिष्क और बौद्ध धर्म

महाराज कनिष्क की बौद्ध धर्म में श्रद्धा थी और वह महायान संप्रदाय का था। उसने अत्यंत उत्साह से बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसके राजकीय वैभव से बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रसार हुआ। महाराज कनिष्क बौद्ध आचार्य पार्श्व से बौद्ध ग्रंथ पढ़ते थे। विभिन्न बौद्ध संतों ने मध्य एशिया और चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इन बौद्ध सतों में काश्यप-मातंग का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने कई बौद्ध सूत्रों का चीनी में अनुवाद किया।

कनिष्क के प्रोत्साहन से ही कश्मीर के निकट कुंडलवन में महती बौद्ध सभा हुई। इसके सभापति वसुमित्र तथा उपसभापति अश्वघोष हुए। इसमें त्रिरत्न पर टीकाएँ रची गईं तथा महाविभाष ग्रंथ भी बना। यह बौद्ध दर्शनों का विश्वकोश है। महायान-त्रिपिटक भी इसी सभा में निश्चित हुआ। इस सभा का पूर्ण कार्य संस्कृत में हुआ। अंत में सभी टीकाएँ ताम्रपत्रों पर लिखी गईं, जो कनिष्क द्वारा बनवाए गए स्तूपों में वहीं रखी गई।

कनिष्क के सिक्कों और अभिलेखों से सिद्ध होता है कि वह बौद्ध था, परंतु बौद्ध होते हुए भी सभी संप्रदायों के प्रति उदार और सहिष्णु था। उसके सिक्कों पर विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों और नामों से भी यही ज्ञात होता है।

यद्यपि सम्राट कनिष्क विदेशी-तुरुष्क-था, किंतु बिना किसी संकोच के उसने भारतीय संस्कृति धर्म, भाषा और विचारों का उन्नयन किया। वह विदेशी होते हुए भी भारतीय बन गया, जिसकी उदारता सराहनीय है। उसके ही राजाश्रय में गांधारकला और मथुरा कला की उन्नति हुई।

कनिष्क की मृत्यु 23 वर्ष तक शासन करने के बाद 101 ई. में हो गई। उसके बाद उनके पुत्र वासिष्क ही सम्राट हुए, जो मालवा में उपराज थे। वह 4 वर्ष के अल्पकाल तक शासक रहे और उनकी मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् हुविष्क गद्दी पर बैठा।

कनिष्क की मृत्यु के बाद ही उसके साम्राज्य के दुर्दिन प्रारंभ हो गए। कुछ विद्वान मानते हैं कि वासिष्क की मृत्यु (105 ई.) के बाद ही कुषाण साम्राज्य क्षीण होने लगा और उसका विभाजन भी हो गया। परंतु इसका कोई साक्ष्य नहींहै कि उसके साम्राज्य का बँटवारा हुआ।

1.1.11.7. हुविष्क

हुविष्क अभिलेख कनिष्क संवत् 28-62 वर्षों के प्राप्त हैं। उसके सिक्के कपिश से बिहार तक पाए गए हैं, जिससे सिद्ध होता है कि उसके समय में कुषाण साम्राज्य अक्षुण्ण बना रहा। उसके सोने और तांबे के सिक्कों से राज्य की समृद्धि भी सिद्ध होती है।

कल्हण भी राजतरंगिणी में हुष्कपुर का उल्लेख करते हैं, जिसकी स्थापना हुविष्क ने की थी।

अपने पिता (कनिष्क) की भाँति वह उदार और सहिष्णु था। उसके सिक्कों पर यूनानी, पारसी और भारतीय देवताओं को मूर्त्त रूप दिया गया है। ब्राह्मण धर्म के प्रति उसका विशेष झुकाव था। वह (जगदंबा) देवी का उपासक था।

1.1.11.8. वासुदेव

हुविष्क के दीर्घकालीन (लगभग 35 वर्ष) शासन के बाद वासुदेव राजा हुआ। यह कुषाण वंश का अंतिम सम्राट था। उसका नाम भारतीयता का परिचायक है। वह शैव था। उसके सिक्कों पर पार्वती और उमेश शिव का चित्रण है। संभवतः दूरस्थ प्रांतों में कुषाण सत्ता में शैथिल्य आने लगा। उसके अभिलेख कनिष्क संवत् 67 तक प्राप्त हुए हैं।

वासुदेव की मृत्यु के बाद कुषाण साम्राज्य टूट गया और शक्ति क्षीण हो गई। इस क्षीण युग में भी कुषाण शासक जिनके भी नाम कनिष्क आदि थे, राज्य करते रहे। इनके कमजोर होते ही स्वतंत्रता प्रिय जातियों ने अपना सिर उठाया और अपने राज्यों को जो कुषाण साम्राज्य में विलीन हो गए थे, स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया। इनमें यौधेय, आर्जुनायन, कुणिंद और मालव विशेष रूप में उल्लेखनीय गण जातियाँ हैं। नृप-सत्ताओं ने भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार कुषाण साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के उदय होने के बीच मध्य देश में स्वतंत्रता प्राप्ति का राष्ट्रीय आंदोलन चल पड़ा, जिसका अंत गुप्त साम्राज्य की स्थापना में हुआ और मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद पहली बार गुप्त युग में राष्ट्रीय शक्ति और एकता तथा शांति और समृद्धि की स्थापना हुई। फलतः संस्कृति की सर्वांगीण उन्नति हुई। परंतु यह मानना पड़ेगा कि समन्वय का युग कुषाण युग ही था। कुषाणों की इस सहिष्णु आधारशिला पर ही गुप्त वंश की स्थापना हुई।

कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत

कुषाण साम्राज्य के पतन के उपरांत और गुप्त चंद्रोदय के पूर्व उत्तरी भारत के इतिहास को अंधकार युग कहा जाता है। ऐसा स्मिथ का कथन है, किंतु जिस समय स्मिथ ने लिखा था उसके बाद शोधों से नए तथ्य प्रकाश में आए और डॉ. जायसवाल ने इस युग के इतिहास पर महत्वपूर्ण कार्य किया। उनके अनुसार इस युग में नाग-भारशिव साम्राज्यवाद का उदय हुआ जिसका आधार अश्वमेध यज्ञ का संपादन और दिग्विजय था। परंतु आधुनिक विद्वान इसे नहीं मानते हैं। डॉ अल्टेकर के मतानुसार यौधेयों, कुणिंदों, मालवों, नागों और मघों ने कुषाण सत्ता को उखाड़ फेंका। परंतु इस स्वतंत्रता संघर्ष में भारशिवों और वाकाटकों का कम योगदान नहीं रहा।

1.1.12. सारांश

चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस को परास्त कर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों तथा अफगानिस्तान पर अपना अधिकार कर लिया था, किंतु परवर्ती मौर्य नरेशों के निर्बल शासन काल में स्थिति बदल गई तथा मौर्य साम्राज्य के पतनोपरांत भारत पर पश्चिमोत्तर सीमा से पुनः विदेशियों के आक्रमण प्रारंभ हो गए। मौर्योत्तर काल में भारत में शकों, हूणों एवं कुषाणों द्वारा आक्रमण कर भारत के विभिन्न भागों पर अधिकार किया गया एवं उन पर शासन स्थापित किया गया।

भारत में शक

लगभग 200 ईसा पूर्व में उत्तरापथ (उत्तरी पश्चिमी भारत) पर केवल यूनानियों का ही आक्रमण और अधिकार नहीं हुआ था, बल्कि शकों और क्षत्रप ने भी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। प्राचीन स्रोतों में शकों और क्षत्रप का उल्लेख यवनों के साथ ही प्राप्त होता है।

भारत में क्षत्रप

पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस समय में उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों-आर्यों और म्लेच्छों-में बँटा था। उनमें संघर्ष हो रहा था। जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि शुंग-सातवाहन (आर्यों) और शक-यवन-पह्लवों (म्लेच्छों) में संघर्ष हो रहा था। इस संघर्ष में शक ही विजयी हुए और भारत के कई क्षेत्रों पर उनका अधिकार हो गया। जैसे तक्षशिला, मथुरा, महाराष्ट्र, उज्जयिनी इत्यादि उनके विविध राज्य केंद्र थे, जहाँ शक नरेशों के भारतीय प्रदेशों के शासक क्षत्रप कहे जाते थे। महाक्षत्रप (सम्राट) और क्षत्रप (युवराज) मिलकर शासन करते थे।

भारत में हूण

द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में चीन के पश्चिमी सीमा पर बसी हुई हूण (हूँग नू) जाति के विषय में विदित है कि इसने यू-ची नामक अपर जाति को पराजित कर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया। आगे चलकर हूण स्वयं एशिया के स्टेपी मैदानों से निकल कर भूमि, भोजन और चरागाहों की खोज में पश्चिम की ओर चल पड़े। वहाँ ये दो शाखाओं में विभाजित हो गए। एक शाखा ने वक्षु नदी की घाटी की ओर से होते हुए भारत में प्रवेश किया।

कालांतर में हूण भारत में बस गए और भारतीय बनकर भारत के उन्नायक बन गए। भारतीय इतिहास में तोरमाण और मिहिरकुल प्रसिद्ध ऐतिहासिक हूण शासक हैं, जिनके विषय में हमें साहित्य और अभिलेखों में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ लेख में इन्हें म्लेच्छ कहा गया है। यहाँ पर यही बताया गया है कि स्कंदगुप्त से पराजित होकर वे 'म्लेच्छ देश' में चले गए। स्कंदगुप्त के भीतरी स्तंभ

लेख में इस गुप्तवंशी वीर और हूण आक्रांता में भीषण संग्राम होने का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार स्कंदगुप्त ने हूणों के आक्रमण से विचलित कुललक्ष्मी को नष्ट होने से बचा लिया। यद्यपि वह इसे स्थिर नहीं बना सका।

भारत में कुषाण

चीन के ऐतिहासिक विवरणों से ज्ञात होता है कि कुषाण राजा कैडफाइसिस (प्रथम) ने पार्थिया पर आक्रमण किया और काबुल तथा कश्मीर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 64 ईसवी के पहले सिंधु नदी की घाटी में कैडफइसिस (प्रथम) शासन कर रहा था। कैडफाइसिस (प्रथम) नामक कुषाण राजा के उदय से इतिहास में एक नए युग का प्रारंभ होता है, जिसे 'कुषाण-युग' कहा गया है। कुषाण वंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट कनिष्क प्रथम था जो कैडफाइसिस द्वितीय के बाद सम्राट हुआ। कनिष्क ने अपने पराक्रम से उसे मध्य देश और उत्तरापथ तथा पश्चिम भारत में स्थापित कर विशाल कुषाण साम्राज्य बनाया, जिसमें कश्मीर भी सम्मिलित था। महाराज कनिष्क की बौद्ध धर्म में श्रद्धा थी और वह महायान संप्रदाय का था। इसने अत्यंत उत्साह से बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसके राजकीय वैभव से बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रसार हुआ। कुषाण साम्राज्य के पतन के उपरांत और गुप्त चंद्रोदय के पूर्व उत्तरी भारत के इतिहास को अंधकार युग कहा जाता है।

1.1.13. बोध प्रश्न

1.1.13.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शकों का इतिहास जानने के स्रोतों पर प्रकाश डालिए।
2. कुषाणों का इतिहास जानने के स्रोतों पर प्रकाश डालिए।
3. शकों का परिचय दीजिए।
4. कुषाण कौन थे? संक्षेप में लिखिए।
5. पश्चिमी क्षत्रप कौन थे?
6. मोग और मोग के उत्तराधिकारी के विषय में आप क्या जानते हैं?
7. मथुरा के क्षत्रप पर टिप्पणी लिखिए।
8. पश्चिमी भारत के क्षत्रप पर टिप्पणी लिखिए।
9. तक्षशिला के क्षत्रप पर टिप्पणी लिखिए।
10. महाक्षत्रप नहपान के विषय में आप क्या जानते हैं?

1.1.13.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पश्चिमी क्षत्रप कौन थे? रुद्रदामन की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
2. कनिष्क के जीवन चरित एवं उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
3. कुषाण कौन थे? कनिष्क के साम्राज्य विस्तार पर प्रकाश डालिए।
4. कुषाणकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास पर प्रकाश डालिए।
5. हूणों पर एक निबंध लिखिए।
6. भारत के क्षत्रप राज्यों का वर्णन कीजिए।
7. शातकर्णि पर एक निबंध लिखिए।
8. रुद्रदामन के उत्तराधिकारियों का वर्णन कीजिए।

9. कनिष्क के शासन प्रबंध का वर्णन कीजिए।
10. तोरमाण, मिहिरकुल एवं बालादित्य मिहिरकुल आदि हूण शासकों पर प्रकाश डालिए।

1.1.14. संदर्भ ग्रंथ

1. रमशेचन्द्र मजूमदार : प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द 1-2, हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, 1942
3. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, 1963
4. चन्द्रभान पाण्डेय : आंध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963
5. विमल चन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद।
6. मोतीचन्द्र : सार्थवाह, प्राचीन भारत का पथ पद्धति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, 1953
7. मिराशी, डॉ. वासुदेव विष्णु : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, 1964
8. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संस, वाराणसी, 1962
9. वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारत, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, सं. 2012 वि.।
10. मोतीचन्द्र : प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भारती भंडार, प्रयाग, सं. 2007।
11. प्रशांत कुमार जायसवाल - शककालीन भारत, साधना सदर लूकर गंज इलाहाबाद, फरवरी, 1993
12. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
13. राजबली पाण्डेय : विक्रमादित्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1960
14. हरिदत्त वेदालंकार : भारत का सांस्कृतिक इतिहास, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1962
15. ए.एल. वाशभ : अद्भुत भारत: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा, 1967
16. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की मीमांसा, हिन्दी भवन, जालंधर और इलाहाबाद, 1960
17. नगेन्द्रनाथ घोष : भारत का प्राचीन इतिहास: इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, 1951
18. हजारी प्रसाद द्विवेदी : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकार, बंबई, सितम्बर, 1952
19. बारनेट, एल.डी.: एण्टीक्विटीज ऑफ इण्डिया, लंदन 1913
20. मेस्सोन, ओरसैल तथा अन्य: एंशेण्ट इण्डिया, लंदन 1934
21. रैप्सन, ई.जे. : कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1
22. रैप्सन, ई.जे. : एंशेण्ट इण्डिया, कैम्ब्रिज 1922
23. राय चौधरी, एच.सी. : पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
24. नीलकंठ शास्त्री, के.ए. : हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1, एंशेण्ट इण्डिया, मद्रास, 1950
25. स्मिथ, वी.ए. : अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
26. मजूमदार तथा पुसलकर : दी वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।
27. मजूमदार तथा पुसलकर : दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
28. नीलकंठ शास्त्री : ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957

29. एलन, हेग, डाडवेल : दी कैम्ब्रिज शार्ट हिस्टरी ऑफ इण्डिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
30. सुधाकर चट्टोपाध्याय : अर्ली हिस्टरी ऑफ नार्थ इण्डिया। (लगभग 200 ई. पू. से 650): एकेडेमिक पब्लिशर्स, कलकत्ता, द्वि.सं. 1938

खंड-1 : मौर्योत्तर काल

इकाई-2 शिल्प, व्यापार, नगर (200 ई.पू. - 300 ई.)

इकाई की रूपरेखा

1.2.1 उद्देश्य
1.2.2. प्रस्तावना
1.2.3. स्रोत
1.2.3.1. साहित्यिक स्रोत
1.2.3.2. पुरातात्विक स्रोत
1.2.4. कृषि
1.2.5. पशुपालन
1.2.6. शिल्प तथा उद्योग
1.2.6.1. श्रेणियाँ
1.2.6.2. श्रेणियों के कार्य
1.2.6.3. रत्नोद्योग
1.2.7. व्यापार
1.2.7.1. वणिक
1.2.7.2. सार्थ
1.2.8. बंदरगाह/नगर
1.2.8.1. बार्बरिकोन
1.2.8.2. बेरीगाजा
1.2.8.3. मुजिरिस
1.2.8.4. नीलकंठ
1.2.8.5. कावेरीपट्टनम्
1.2.8.6. पोडुक
1.2.9. सारांश
1.2.10. बोध प्रश्न
1.2.10.1. लघु उत्तरीय प्रश्न
1.2.10.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
1.2.11. संदर्भ ग्रंथ

1.2.1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य मौर्योत्तर काल अर्थात् 200 ई. पूर्व से 300 ई. के मध्य भारत में शिल्प, व्यापार और नगरों की स्थिति पर प्रकाश डालना है। शुंग, सातवाहनों एवं कुषाणों द्वारा उनके काल में भारत में शिल्प और व्यापार किस प्रकार विकसित किए गए एवं किस प्रकार विदेशों के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित किए गए इन सभी तथ्यों से अवगत कराना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

1.2.2. प्रस्तावना

मौर्योत्तर काल आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व रखता है। 200 ई.पू. से 300 ई. के मध्य विदेशों के साथ भारत के समुद्री व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप विदेशों में भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ी, जिसकी पूर्ति हेतु विभिन्न उद्योग-धंधों की बहुत उन्नति हुई। कारीगरों और व्यापारियों की श्रेणी, निगम आदि विभिन्न संगठनों का विकास हुआ। मौर्योत्तर काल के रोमन साम्राज्य में भारत के सुगंधित द्रव्यों, बहुमूल्य रत्नों, मलमल और मसालों की माँग बढ़ जाने से भारत दूसरे देशों को निर्यात अधिक और आयात कम करता था। अतः यहाँ से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य आयात की जाने वाली वस्तुओं से अधिक होता था। इस अधिक मूल्य को चुकाने के लिए रोमन साम्राज्य तथा अन्य देशों को बड़ी मात्रा में सोना तथा स्वर्ण मुद्राएँ भारत भेजनी पड़ती थीं। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों से रोमन सम्राटों की स्वर्ण मुद्राएँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। दूसरे देशों का सोना भारत के अनुकूल व्यापार-संतुलन के कारण भारत में आ रहा था। इससे भारत सोने की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध होने लगा। संभवतः इसकी प्रचुरता और विदेशी व्यापार की आवश्यकताओं के कारण इस युग में सर्वप्रथम कुषाण सम्राटों ने स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन आरंभ किया। इससे पहले भारत में चाँदी और ताँबे के सिक्कों का ही अधिक प्रचलन था। परवर्ती काल में विदेशों में भारत को सोने की चिड़िया कहलाने का जो गौरव प्राप्त हुआ, उसका श्रीगणेश शुंग-सातवाहन युग की व्यापारिक उन्नति से आरंभ होता है और इसने इस युग को अति समृद्धि का स्वर्णयुग बनाया।

1.2.3. स्रोत

इस युग के शिल्प व्यापार नगर पर प्रकाश डालने वाले दो मूल स्रोत हैं-

1.2.3.1. साहित्यिक स्रोत

धार्मिक साहित्य

इस समय अपना वर्तमान स्वरूप धारण करने वाले सुप्रसिद्ध महाकाव्य वाल्मीकि रामायण, महाभारत, बौद्ध पालिग्रंथ मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्द प्रश्न), महानिद्देस तथा संस्कृत भाषा में लिखे बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान, महावस्तु, जातकमाला, अवदानशतक एवं ललित विस्तार हैं। जैन साहित्य के सूत्रों, भाष्यों और चूर्णियों का निश्चित समय निर्धारित करना बहुत कठिन है। फिर भी इनका बड़ा भाग छठी शती ई. के बाद का नहीं हो सकता। इसमें कुछ साहित्य कुषाण युग का है। बुधस्वामी का वृहत्कथालोकसंग्रह यद्यपि ईसा की पाँचवीं, छठी शताब्दी का ग्रंथ है, किंतु उसकी बहुत-सी सामग्री का आधार ईसा की पहली शताब्दी में लिखी गई गुणाढ्य की वृहत्कथा से है। संघदासकृत वसुदेव हिण्डिकी भी यही स्थिति है। जैन ग्रंथों में आर्थिक दशा पर प्रकाश डालने वाले कुछ निर्देश वृहत्कल्प सूत्र, आचारांग सूत्र, आवश्यक चूर्णि, ज्ञाताधर्म कथा, अंतगडदसाओ में मिलते हैं।

धर्म निरपेक्ष साहित्य

इस समय का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत तमिल साहित्य है। संगम युग की सुप्रसिद्ध रचनाएँ सिलप्पदिकारम् और मणिमेकलै तत्कालीन आर्थिक दशा पर सुंदर प्रकाश डालती हैं।

विदेशी विवरण

इस समय रोम के साथ भारत का व्यापार अधिक होने के कारण अनेक लेखकों ने भारत के साथ होने वाले व्यापार पर प्रकाश डाला है और व्यापारिक वस्तुओं के विवरण लिखे हैं। इनमें सब से अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ 'पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रियन सी' है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'हिंद महासागर की पथप्रदर्शक पुस्तक'। लैटिन में यद्यपि एरिथ्रा (Erythra) का अर्थ लाल होता है, किंतु प्राचीन काल में रक्त सागर का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता था, इसमें इसके अतिरिक्त अन्य समुद्र सम्मिलित थे। ईरान की खाड़ी सहित समूचे हिंद महासागर के लिए यूनानी और रोमन भूगोलवेत्ता 'एरिथ्रियन सी' शब्द का प्रयोग करते थे। उन दिनों में रोमन और यूनानी समुद्रयात्री नाविकों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए जो पुस्तकें लिखी जाती थीं उनका सामान्य नाम 'पेरिप्लस' हुआ करता था। ऐसे अनेक पेरिप्लस विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए। इस समय हमें जो पेरिप्लस मिलता है, उसके लेखक का नाम हमें ज्ञात नहीं है और इसकी तिथि के संबंध में तीन प्रकार के मत प्रचलित हैं, किंतु अधिकांश विद्वान इसे पहली शताब्दी. ई. के उत्तरार्द्ध में 80 ई. की रचना मानते हैं। दूसरा लेखक प्लिनी है। इसने अपनी पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री' (नेचुरलिस हिस्टोरिका) में भारत से रोम आने वाली व्यापारिक वस्तुओं का विस्तृत वर्णन किया है। तीसरे लेखक टोलेमी ने 140 ई. में लिखे अपने भूगोल विषयक ग्रंथ 'ज्योग्राफी' में भारत का परिचय देते हुए इसके विभिन्न बंदरगाहों का वर्णन किया है। इस युग का एक अन्य लेखक स्ट्रैबी (54-24 ई. पू.) भी है।

1.2.3.2. पुरातात्विक स्रोत

मौर्योत्तर काल के प्रमुख अभिलेखों, मुद्राओं तथा पुरातत्वीय उत्खनन से प्राप्त सामग्री भी तत्कालीन शिल्प, व्यापार एवं नगरों पर प्रकाश डालती है। मौर्योत्तर काल के प्रमुख अभिलेख निम्नलिखित हैं :-

1. अयोध्या का लेख
2. बेसनगर का लेख
3. भरहुत का लेख

उर्पयुक्त लेखों के अतिरिक्त साँची, बेसनगर, बोधगया आदि के प्राप्त स्तूप एवं स्मारक मौर्योत्तर शिल्प, कला एवं व्यापार की उत्कृष्टता का ज्ञान कराते हैं। इस काल की कुछ मुद्राएँ कौशांबी, अयोध्या, अहिच्छत्र तथा मथुरा से प्राप्त हुई हैं। इनसे भी तत्कालीन इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

1. नागनिका का नानाघाट (महाराष्ट्र के पूना जिले में स्थित) का लेख।
2. गौतमीपुत्र शातकर्णी के नासिक से प्राप्त दो गुहालेख।
3. गौतमी बलश्री का नासिक गुहालेख।
4. वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का नासिक गुहालेख।
5. वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का कार्ले गुहालेख।
6. यज्ञश्री शातकर्णी का नासिक गुहालेख।

उर्पयुक्त लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। लेखों के साथ-साथ विभिन्न स्थानों से सातवाहन राजाओं के बहुसंख्यक सिक्के भी प्राप्त किए गए हैं। इनके अध्ययन से उसके राज्य-विस्तार, शिल्प तथा व्यापार-वाणिज्य की प्रगति के संबंध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। नासिक के जोगलथंबी नामक स्थान से क्षहरात शासक नहपान के सिक्कों का ढेर मिलता है। यज्ञश्री शातकर्णी के

एक सिक्के पर जलपोत के चिह्न उत्कीर्ण हैं। इससे समुद्र के ऊपर उनका अधिकार प्रमाणित होता है, जिससे विस्तृत व्यापार की पुष्टि होती है।

उपरोक्त के आधार पर मौर्योत्तर युग के शिल्प, व्यापार तथा नगरों का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है।

1.2.4. कृषि

प्राचीन काल से वर्तमानकाल तक भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। मौर्योत्तर युग में भी ऐसी ही स्थिति थी। मिलिन्द प्रश्न में विभिन्न कृषि-कार्यों का विस्तृत उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि उस समय मुख्य रूप से भूमि से काँटों, पत्थरों और जंगली घास को हटाना, भूमि को जोतना, बोना, सींचना, खेतों के चारों ओर मेड़बंदी करना, पक्षियों तथा पशुओं से फसल की रक्षा करना तथा इसकी कटाई करना इत्यादि कृषि कार्य किए जाते थे। इस समय के ग्रंथों में खेतों में बोये जाने वाले अनेक प्रकार के अनाजों जैसे धान, जौ, सरसों, तिल, गेंहूँ आदि का उल्लेख मिलता है। इस समय के आयुर्वेद के ग्रंथों, जैसे- चरक सूत्र में विभिन्न प्रकार के धान्यों, फसलों तथा सब्जियों का विस्तृत विवरण मिलता है। विदेशी लेखकों में प्लिनी ने भारत की कृषि वस्तुओं में धान, जौ, सरसों का उल्लेख किया है और ऊन पैदा करने वाले पेड़ों तथा क्षौम अर्थात् अलसी के पौधों का तथा गन्ने का भी वर्णन किया है। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार इस काल में चावल कई प्रकार का होता था। इनमें बासमती चावल के कुछ उच्च गुणवत्ता वाले प्रकार राजाओं के ही उपभोग की वस्तु समझे जाते थे।

कृषि की वस्तुओं में सुगंधित द्रव्यों, मसालों और ऐसे पौधों को उगाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था जिनकी विदेशों में माँग थी और जिनकी खेती से बहुत लाभ होता था। मिलिन्द प्रश्न में इस प्रकार के पदार्थों में कपूर, तगर, चंदन और केसर की गणना की गई है। मौर्य युग में कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में चंदन के अनेक भेदों का उल्लेख किया है। मिलिन्द प्रश्न में बनारस के चंदन का भी उल्लेख किया गया है। महाभारत में चंदन का एक उत्पत्ति स्थान कामरूप को माना गया है और उत्तर-पूर्वी हिमालय में कालेयक नामक एक सुगंधित काष्ठ का वर्णन किया गया है। दिव्यावदान में दी गई पूर्ण की कथा में यह कहा गया है कि उन दिनों गोशीर्ष नामक चंदन पश्चिमी भारत में विदेशों से मँगाया जाता था और ज्वर की चिकित्सा में इसे अत्यंत उपयोगी माना जाता था। इसी कारण यह बहुत मँहगे दामों पर बिकता था।

पेरिप्लस और प्लिनी ने भारत की ऐसी अनेक बहुमूल्य वस्तुओं का उल्लेख किया है, जिनकी रोम में अत्यधिक माँग थी। इस कारण भारत में इनकी खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी। ऐसी वस्तुओं में निम्न पदार्थ उल्लेखनीय थे - कुठ, दारुहरिद्रा, जटमांसी या बालछड। ये तीनों वस्तुएँ हिमालय पर्वत के ऊँचे भागों में पैदा होती थीं। उत्तर पश्चिमी भारत के मैदानों में गंधतृण तथा गुग्गुल पाए जाते थे। काली मिर्च कोट्टोनारा अर्थात् केरल के क्लिोन तथा कोट्टायम के समीपवर्ती प्रदेश में पैदा की जाती थी। दालचीनी की खेती मालाबार तट के बंदरगाहों के पृष्ठवर्ती प्रदेशों में होती थी। पेरिप्लस के मतानुसार काठियावाड़ और उसके समीपवर्ती प्रदेश में गेहूँ, चावल, ईख और सरसों की खेती की जाती थी। इलायची मालाबार के प्रदेश में बोई जाती थी। हिमालय पर्वत के निचले ढालों में और दक्षिणी भारत की पहाड़ियों पर संभवतः कुटज के पेड़ उगाए जाते थे। प्लिनी ने भी भारत के बहुमूल्य पौधों में काली मिर्च, कुठ इलायची, गुग्गुल, दारुहरिद्रा तथा कुटज का उल्लेख किया है।

कृषि में सिंचाई का बहुत महत्व था। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार उन दिनों भारत में तीन बार नियमित रूप से वर्षा होती थी, किंतु यह वर्षा पर्याप्त नहीं थी। अतः सिंचाई की विशेष व्यवस्था आवश्यक

समझी जाती थी। महाभारत में राजा का प्रधान कर्तव्य यह बताया गया है कि उसे अपने राज्य में थोड़ी-थोड़ी दूर पर तालाबों और जलाशयों का निर्माण करना चाहिए, ताकि सिंचाई का कार्य सुगमतापूर्वक किया जा सके। सर्वविदित है कि रुद्रदामन ने मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त द्वारा गिरनार के निकट बनाए गए सुदर्शन नामक जलाशय का जीर्णोद्धार किया था। इस जलाशय के बाँध में प्रचंड वर्षा और तूफान के कारण दरारें पड़ गई, जिससे सारा पानी बह गया, जब इससे सिंचाई की कोई आशा न रही तो प्रजा में हाहाकार मच गया। अतः लोक-कल्याण की दृष्टि से रुद्रदामन ने मंत्रियों के विरोध की परवाह न करते हुए अपनी ओर से भारी व्यय करके इस बाँध की मरम्मत करवाई। इस युग के अभिलेखों में कुएँ, तालाब आदि बनवाने का उल्लेख पाया जाता है। राजा तथा प्रजा ऐसे कार्यों का करवाना बड़ा पुण्य प्रदान करने वाला समझते थे। राजा का यह कर्तव्य था कि वह प्रजा की रक्षा और सिंचाई की व्यवस्था समुचित रूप से करें। ऐसा करने पर ही उसे खेती की उपज का छठा भाग लेने का अधिकार था।

इस काल में भूमि को साफ करके कृषि-योग्य बनाने वाले किसान का उस पर स्वामित्व समझा जाता था। यद्यपि मनुस्मृति में यह कहा गया है कि राजा भूमि का अधिपति है, किंतु इसका अभिप्राय स्वामी न होकर उसका पालन करने वाला ही है, क्योंकि राजा, चोर, डाकू आदि आंतरिक उपद्रवों से और विदेशी शत्रुओं से भूमि की रक्षा करता था। इस पर स्वामित्व कृषक का ही होता था। इन दिनों जमींदारों जैसी कोई श्रेणी संभवतः नहीं थी। याज्ञवल्क्य ने ठेके पर खेती कराने का संकेत किया है। शायद यह जमींदारी प्रथा का श्रीगणेश था। गाँवों के चारों ओर पशुओं के चरने के लिए सामूहिक चारागाह छोड़ने की प्रथा थी। भूमि के विनिमय के लिए याज्ञवल्क्य के समय तक लेख की प्रथा आवश्यक हो गई थी। इस समय के अभिलेखों में दिए जाने वाले दानों का पंजीकरण किया जाता था। गौतमीपुत्र शातकर्णी ने वैजयंती से भेजी हुई 18वें वर्ष की अपनी एक आज्ञा में किसी खेत के लिए दान दिया है। इसके अंत में यह कहा गया है कि इसका नियमपूर्वक पंजीयन कराया जाना चाहिए।

12.5. पशुपालन

कृषि की भाँति यह कार्य उस समय वैश्य समाज का परंपरागत धंधा समझा जाता था। पेरिप्लस के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि पहली शताब्दी ई. पूर्व के उत्तरार्द्ध में काठियावाड़ के आसपास के प्रदेशों में पशुपालन बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता था, इससे प्राप्त होने वाले पदार्थों का निर्यात प्रचुर मात्रा में पूर्वी अफ्रीका के प्रदेशों में किया जाता था। इस समय युद्धों में घोड़े अत्यंत उपयोगी थे। उत्तम नस्ल के घोड़ों को यद्यपि विदेशों से मंगाया जाता था, किंतु पूर्वी भारत में घोड़ों की कुछ अच्छी नस्लें होती थीं। महाभारत में यह बताया गया है कि प्राग् ज्योतिष के राजा ने तथा पूर्वी भारत के अन्य राजाओं ने राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर को विभिन्न प्रकार के बढ़िया नस्ल के घोड़े उपहार में प्रदान किए थे।

12.6. शिल्प तथा उद्योग

1.2.6.1. श्रेणियाँ

इस युग में मौर्यकाल की भाँति विभिन्न प्रकार के धंधे और व्यवसाय करने वाले शिल्पियों की श्रेणियाँ विद्यमान थीं और उनका संगठन पहले की अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं परिपक्व था। व्यापार की आवश्यकताओं के कारण इस समय कुछ उद्योगों में बड़ी उन्नति हुई। जातक-साहित्य में हमें 19 शिल्पों और श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। यह संख्या इस युग में भी इस प्रकार बनी रही, यद्यपि महावस्तु खंड-3 में इनका स्वरूप जातकों में वर्णित श्रेणियों से कुछ भिन्न है। कुछ श्रेणियों का उल्लेख इसके अभिलेखों

में भी पाया जाता है। महावस्तु में कपिलवस्तु की निम्नलिखित श्रेणियों का उल्लेख है– सौवर्णिक या हैरण्यिक (सुनार), प्रावारिक (चादर बेचने वाले), शांखिक (शंख का काम करने वाले), दंतकार (हाथी-दांत के शिल्पी), मणिकार (मनियारे), प्रास्तरिक (पत्थर का काम करने वाले), गंधी, कोशाविक (रेशमी तथा ऊनी कपड़े वाले), घृतकुंडिक (घी बेचने वाले), गौड़िक (गुड़ विक्रेता), वारिक (पानी बेचने वाले), कार्पासिक (कपास बेचने वाले), दध्यिक (दही विक्रेता), पूपिक (पुए बेचने वाले), खंडकार (खाड बेचने वाले), मोदकारक (लड्डू बेचने वाले), कंडुक (हलवाई), समित कारक (आटा बनाने वाले), सत्तूकारक (सत्तू बनाने वाले), फलवणिज (फल विक्रेता), चूर्णकुट्टतैलिक (सुगंधित चूर्ण और तेल बेचने वाले), गुड़पाचक (गुड़ बनाने वाले), सोंठ बेचने वाले, शर्करवणिज (शक्कर बेचने वाले), मूलवणिज (कंद-मूल बेचने वाले), सीधुकारक (शराब बेचने वाले)। इन श्रेणियों के अतिरिक्त विभिन्न उद्योग धंधे करने वाले कुछ वर्गों को उस समय शिल्पायतन कहा जाता था। इनमें लुहार, ताँबा पीटने वाले, ठठेरे, पीतल बनाने वाले, राँगे के कारीगर, शीशे का काम करने वाले तथा खराद चढ़ाने वाले मुख्य थे। अन्य शिल्पी कुम्हार, चर्मकार, मालाकार, गद्दियों को भरने वाले (पुरिमकार), रंगरेज, सुईकार, तांती, चित्रकार, सोने चाँदी के गहने बनाने वाले, समूरों के कारीगर, पुताई करने वाले, नाई, स्थपति, सूत्रधार, कुएँ खोदने वाले, लकड़ी बाँस आदि का व्यापार करने वाले, नाविक, सर्वंपधोवक/नदियों की बालू धोकर उसमें से सोना निकालने वाले या सोना साफ करने वाले थे।

इस काल में नगरों में कुशल शिल्पियों का विशेष महत्व एवं स्थान था, जो सबसे अच्छे कारीगर होते थे, उन्हें महत्तर कहा जाता था। सुवर्णकार-महत्तर सोने के गहने बनाता था। वह गहनों की गढ़ाई, बनवाई, पालिश आदि के कामों में बड़ा प्रवीण होता था। मणिकार-महत्तर मोती, वैदूर्य, शंख, मूंगा, यशब इत्यादि का पारखी होता था। शंख-वलयकारमहत्तर हाथीदाँत की (खूंटियाँ), अंजनशलाका, पेटियाँ, सिंगारदान, कड़े चूड़ियाँ बनाता था। यंत्रकार-महत्तर खराद पर चढ़कर तरह-तरह के खिलौने, पंखे, कुर्सियाँ, मूर्तियाँ बनाता था। वार्धकि महत्तर विभिन्न प्रकार की कुर्सियाँ, मंच, पीठ तथा अन्य फर्नीचर बनाने में चतुर होता था।

महावस्तु में वर्णित उपयुक्त श्रेणियों के अतिरिक्त अभिलेखों में वर्णित कुछ अन्य श्रेणियाँ ये हैं– जुलाहे (कौलिकनिकाय), कुम्हार (कुलैरिक), पानी उठाने के यंत्र बनाने वाले (औदयंत्रिक), अनाज के व्यापारी (धञ्ञिक), बाँस का काम करने वाले (वसाकर), केसेरे (कंसकार)। इन श्रेणियों का मुखिया श्रेष्ठी कहलाता था, इसके अधिकारों के संबंध में हमें कोई जानकारी नहीं है, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि राजदरबार में इनका स्थान बड़ा महत्वपूर्ण होता था। महाभारत में गंधर्वों से हारने पर दुर्योधन ने कहा था कि अब मैं श्रेणी-मुख्यों को कैसे मुँह दिखलाऊँगा। विनयपिटक से यह प्रतीत होता है कि एक ही पेशे (श्रेणी) के विभिन्न सदस्यों में होने वाले झगड़ों में पंच का कार्य श्रेष्ठी किया करता था।

1.2.6.2. श्रेणियों के कार्य

श्रेणियों का प्रधान कार्य अपने सदस्यों के हितों की सुरक्षा तथा अनुचित प्रतिद्वंद्विता की होड़ को रोकना एवं अपने व्यवसाय की उन्नति के लिए आवश्यक कार्य करना था। इसके अतिरिक्त ये श्रेणियाँ बैंकों का कार्य करती थीं। इनके पास अक्षयनीवी अर्थात् कभी व्यय न किए जाने वाले मूलधन के रूप में कुछ राशि जमा कर दी जाती थी, ताकि इसके सूद से कुछ कार्य किए जा सकें। इस समय के अनेक अभिलेखों में विभिन्न श्रेणियों के पास विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति के लिए रुपये जमा करवाने का वर्णन मिलता है। नासिक की गुहा संख्या 10 में उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार उषवदात ने यहाँ रहने वाले

भिक्षुओं के वस्त्रादि के व्यय/चीवरक तथा भोजन व्यय/कुषाणमूल के लिए 3000 कार्षापण की स्थायी निधि/अक्षयनीवी के रूप में गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियों के पास जमा किए, 2000 कार्षापण की राशि जुलाहों (कौलिक निकाय) की एक श्रेणी के पास 12 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर पर तथा 1000 कार्षापण 9 प्रतिशत की ब्याज की दर पर जमा किए। ये अप्रतिदातव्य वृद्धि योग्य थे अर्थात् इन्हें कभी वापिस नहीं लिया जाता था, इनका ब्याज ही लिया जाता था। दो हजार कार्षापण के वार्षिक ब्याज से 20 भिक्षुओं में से प्रत्येक को बारह वस्त्र (चीवर) दिए जाते थे और 1000 के ब्याज से खाने-पीने की छोटी-मोटी वस्तुओं का व्यय। उषवदात के इस दान को निगम सभा में सुनाया गया तथा लेखा रखने के दफ्तर में तत्कालीन परंपरा और नियम (चरित्र) के अनुसार रजिस्ट्री (निबद्ध) कराया गया। इस लेख से यह भी पता लगता है कि उस समय कार्षापण और सुवर्ण अर्थात् ताँबे और सोने के मूल्य का अनुपात 35 : 1 था। यह लेख पहली शताब्दी ई.पू. का है। इस गुहा में तीसरी शताब्दी ई. के आभोर राजा ईश्वरसेन के राज्यकाल के एक अभिलेख में शक-उपासिका विष्णु दत्ता द्वारा भिक्षु संघ को दवा-दारू (गिलानभेषज) के लिए कुम्हारों (कुलरिक) की श्रेणी के पास एक हजार कार्षापण की तथा पानी उठाने के लिए यंत्र बनाने वाली श्रेणी (औद्ययांत्रिक) के पास दो हजार कार्षापण जमा करवाने का वर्णन है। जुन्नर के तीन छोटे अभिलेखों में बाँस का काम करने वालों (बसकर-वंशकार), कसेरों (कांसकार) तथा अनाज के व्यापारियों की श्रेणियों के पास धन जमा करने का वर्णन है।

उपर्युक्त अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि श्रेणियों का कार्यक्षेत्र सातवाहन युग में पहले से बहुत अधिक बढ़ गया था। वे अपना धंधा करने के अतिरिक्त वर्तमान बैंकों की भाँति लोगों का रुपया जमा करती थीं और इस पर सूद देती थीं। श्रेणियों की स्थिरता इतनी अधिक समझी जाती थी कि स्थायी रूप से जमा की जाने वाली धनराशियाँ अक्षयनीवी के रूप में इनके पास जमा की जाती थी, यहाँ तक कि राजा लोग भी अपने दान की ऐसी निधियाँ इनके पास जमा करवाते थे। उस समय की निगम सभाएँ अर्थात् नगरों की संस्थाएँ उनकी साख मानती थीं, जिन धरोहरों का वे पंजीयन करती थी, वे श्रेणियों में जमा की जा सकती थीं। उस युग में श्रेणियों का प्रधान कार्य यद्यपि अपना व्यवसाय करना होता था, किंतु इनकी साख और स्थिरता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि वे बैंकों का काम भी करने लगी थीं। श्रेणियों ने यह कार्य इससे पहले किसी युग में नहीं किया था। इससे यह स्पष्ट है कि उनके इस कार्य का विकास सातवाहन युग में अभूतपूर्व समृद्धि और व्यापारिक उत्कर्ष का परिणाम था।

तत्कालीन स्मृतियों से और महाभारत से यह ज्ञात होता है कि इन श्रेणियों के अपने नियम हुआ करते थे। ये नियम श्रेणी धर्म कहलाते थे। एक श्रेणी के सदस्यों में विवाद उत्पन्न होने पर न्याय एवं निर्णय का कार्य श्रेणियाँ ही करती थीं। मनुस्मृति में उन लोगों के लिए दण्ड-विधान किया गया है, जो श्रेणी आदि सामूहिक संस्थाओं द्वारा किए गए समझौते का उल्लंघन/समय-भेद या संविद् व्यतिक्रम करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस प्रकार संविद् का उल्लंघन करने वाले के लिए उसकी सारी जायदाद की जब्ती और देश निकाले के उग्र दंड का विधान किया गया है।

श्रेणियों द्वारा किए जाने वाले प्रमुख उद्योगों में से कुछ महत्वपूर्ण व्यवसायों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है:-

1.2.6.3. रत्नोद्योग

प्रथम शताब्दी ई. में रोमन साम्राज्य के वैभव-संपन्न नागरिकों में मोतियों और मणियों के आभूषण धारण करने का फैशन बहुत बढ़ गया था। इसके परिणामस्वरूप वहाँ भारत से आने वाले

मोतियों और रत्नों की माँग निरंतर बढ़ रही थी, अतः भारत में इनके उत्पादन और निर्यात पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। पेरिप्लस के वर्णनानुसार प्रथम शताब्दी ई. में भारत में मोतियों के उत्पादन के चार बड़े प्रसिद्ध केंद्र थे। पहला केंद्र पाण्ड्य राज्य में ताम्रपर्णी नदी के निकट कोरकै, दूसरा केंद्र मन्नार की खाड़ी और तीसरा पाक जलडमरूमध्य में था। इन क्षेत्रों पर राज्य का एकाधिपत्य था। मन्नार की खाड़ी के मोती अपराधियों द्वारा निकलवाए जाते थे और इन स्थानों की सारी उपज राजधानी में लाई जाती थी। चौथे केंद्र बंगाल में भी मोती निकाले जाते थे। मुक्ता-उत्पादन का एक अन्य केंद्र प्लिनी ने पेरिमूल नामक स्थान बताया है। इसकी पहचान पश्चिमी समुद्र-तट पर बंबई के निकट आधुनिक चोल-नामक स्थान से की गई है। इसका पुराना नाम सैमिल्ला था।

मौर्योत्तर युग में भारत अपने बहुमूल्य रत्नों और मणियों के लिए प्रसिद्ध था। प्लिनी ने ऐसे रत्नों की लंबी सूची देते हुए यह लिखा है कि भारत अतीव मूल्यवान रत्नों की महान जन्मभूमि है। उसका यह कथन हमें भारत के संबंध में खलीफा उमर को कही गई एक अरब व्यापारी की इस उक्ति का स्मरण कराता है कि भारत की नदियाँ मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वृक्ष इत्र हैं। प्लिनी ने भारतभूमि को रत्नधात्री मानते हुए यहाँ के अनेक रत्नों का वर्णन किया है, इनमें ये उल्लेखनीय हैं :– पन्ना, उत्पल, गोमेद, ओनिक्स, सार्डोनिक्स, कार्बकल, इंद्रगोप (कार्नेलियन), एमिथिस्ट, हिआसिंध। इनमें से कुछ के स्वरूप के संबंध में बड़ा मतभेद है। कुछ महत्वपूर्ण एवं प्रधान रत्नों का ही विवरण इस प्रकार है–

टालमी के कथनानुसार उन दिनों हीरों का प्रधान उत्पत्ति स्थान कोस नामक नगर, सबराई का प्रदेश और एडमास नदी का मुहाना था। इनकी पहचान क्रमशः वर्धा नदी वाले बरार के प्रदेश, संबलपुर के प्रदेश और वैतरणी नदी की सांक नामक शाखा से की गई है। मध्य युग में हीरों की उत्पत्ति का प्रधान स्थान मध्य भारत की खानें थीं, किंतु रोमन साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। उस समय रोम में भारतीय पन्नों की माँग अधिक थी। टालमी ने पोन्नाटा नामक स्थान को इसका प्रधान उत्पत्ति केंद्र माना है। इसकी पहचान कोयंबटूर जिले के एक स्थान से की जाती है। वस्तुतः उन दिनों इस जिले के पन्नों की माँग रोम में बहुत अधिक थी और मलाबार के बंदरगाहों से इसका निर्यात हुआ करता था। प्लिनी ने लिखा है, ‘‘पन्ना भारत के अतिरिक्त अन्य स्थानों में बहुत कम मिलता है। मणिकार इसे षट्कोण के रूप में इस प्रकार काटते हैं कि विभिन्न कोणों में इसकी चमक बहुत बढ़ जाती है। यदि इन्हें किसी अन्य ढंग से काटा जाय तो इनमें कोई भी चमक नहीं रह जाती है।’’ सबसे अधिक मूल्यवान वे पन्ने समझे जाते हैं, जिनका रंग समुद्र के विशुद्ध हरे रंग से मिलता है। भारत में लोगों को लंबाकार पन्ने धारण करने का शौक है और उनके मतानुसार केवल यही ऐसे रत्न हैं जिन्हें सोने के बिना भी धारण किया जा सकता है। पेरिप्लस ने गोमेद और कार्नेलियन के बारे में यह लिखा है कि ये दक्षिण में पाए जाते हैं और वहाँ से पश्चिमी देशों को भेजे जाते हैं। टालमी के मतानुसार भारत में सार्डोनिक्स नामक पर्वत में इसी नाम के रत्न पाए जाते हैं।

भारत में पाए जाने वाले रत्नों के वैविध्य और विदेशों में इनकी भारी माँग होने के कारण यहाँ रत्नोद्योग का अच्छा विकास हुआ था। उन दिनों भारत में सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वह विभिन्न प्रकार के रत्नों की परीक्षा करने में कुशल हो। दिव्यावदान से यह ज्ञात होता है कि उन दिनों व्यापारियों के पुत्रों को इस कला की नियमित रूप से शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायन ने अपनी चौंसठ कलाओं (अंगविद्या) में रूप्य रत्नपरीक्षा को भी सम्मिलित किया है। इस समय के जौहरियों की कुशलता का प्रमाण हमें कुषाण काल के प्राचीन स्थानों की खुदाई से मिले विभिन्न प्रकार की मणियों के नमूनों से मिलता है। तक्षशिला की खुदाई से निम्न प्रकार के रत्नों के नमूने मिले हैं–

स्फटिक, धारीदार गोमेद, याकूत, एमिथिस्ट, एक्वामेरीन, पीला स्फटिक। ये सब तक्षशिला के धर्मराजिक स्तूप की खुदाई से मिले हैं। संगम युग के तामिल साहित्य से भी यह सूचित होता है कि उस समय रत्नों एवं मणियों का उद्योग बड़े उत्कर्ष पर था।

1.2.7. व्यापार

व्यापार में व्यापारियों के दो वर्ग थे -

1.2.7.1. वणिक

उद्योग-धंधों की उन्नति के कारण इस समय देश के आंतरिक एवं विदेशी व्यापार को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला। तत्कालीन साहित्य में अनेक प्रकार के व्यवसायियों और व्यापारियों के वर्णन मिलते हैं। उस समय के व्यापारियों के दो बड़े वर्ग उल्लेखनीय हैं। पहले वर्ग के व्यापारी वणिक् कहलाते थे। ये एक स्थान या दुकान पर बैठकर अपना माल बेचा करते थे। महाभाष्यकार ने लिखा है,''वणिक् का तराजू के साथ गहरा संबंध था। उन दिनों ब्राह्मण लोग वणिक् व्यवसाय में बहुत कम प्रवृत्त होते थे।'' पतंजलि ने लिखा है,''उड़द के समान काले रंग वाले आदमी को दुकान में बैठा देखकर कोई यह नहीं समझेगा कि वह ब्राह्मण है।'' वणिक् लोग नाना प्रकार की वस्तुओं के क्रय-विक्रय से अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। उस समय विशेषीकरण की प्रवृत्ति प्रबल थी। विशिष्ट वस्तुओं का व्यापार करने के आधार पर इन व्यापारियों के नाम पड़ जाते थे, जैसे घोड़ों का व्यापारी अश्ववाणिज, गौओं का व्यापारी गोवाणिज, बाँस का व्यापारी वंशकठिनिक। ये व्यापारी मद्र, कश्मीर वाणिज कहलाते थे। खनिज द्रव्यों और पत्थरों का व्यापार करने वाला व्यवसायी प्रास्तरिक कहलाता था। कपड़ा बेचने वाले उन दिनों वर्तमान समय की भाँति बनारस का बढ़िया माल रखा करते थे।

1.2.7.2. सार्थ

व्यापारियों का दूसरा प्रधान वर्ग सार्थ कहलाता था। उन दिनों एक स्थान से दूसरे स्थान तक व्यापारिक माल ले जाने में चोर-डाकुओं तथा जंगली जानवरों के कई प्रकार के खतरे होते थे, अतः व्यापारी अकेले यात्रा करना निरापद नहीं समझते थे। वे अपनी सुरक्षा के लिए बड़े-बड़े समूहों या काफिलों में यात्रा किया करते थे। इन समूहों को उस समय सार्थ कहा जाता था। सार्थ बनाकर चलने वाले व्यापारी सार्थिक या सार्थवाह कहलाते थे। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने इस शब्द की सुंदर व्याख्या करते हुए लिखा है,''जो पूँजी द्वारा व्यापार करने वाले यात्रियों/पांथों का अगुआ हो वह सार्थवाह है। (सार्थान् सधनान् पान्थान् वहित इति सार्थवाहः)।'' वस्तुतः सार्थ का अभिप्राय है समान अर्थ (पूँजी) लगाकर चलने वाले व्यापारी। जो व्यक्ति बाहर मंडियों के साथ व्यापार करने के लिए अपनी पूँजी लगाकर एक साथ टांडा लादकर चलते थे, वे सार्थ कहलाते थे। हिंदी का साथ शब्द संस्कृत के इसी सार्थ से निकला है। उस समय जब कोई उत्साही और साहसी व्यापारी व्यापार के लिए संकल्प करता था तो उसके साथ अनेक व्यक्ति भी सम्मिलित हो जाते थे। ये सब मिलकर व्यापारियों के एक बड़े काफिले या सार्थ का निर्माण करते थे। ये सार्थ अपने एक बड़े नेता या अध्यक्ष (सार्थवाहजेठक या प्रमुख) के नेतृत्व में मरुभूमियों और जंगलों की लंबी दूरियों को पार किया करते थे। उन दिनों यदि कोई व्यापारी कभी अकेला भी चल पड़ता था तो घना जंगल या कान्तार आने पर रुक जाता था और किसी सार्थ की प्रतीक्षा करता था। किसी सार्थ के वहाँ आने पर उसमें सम्मिलित हो जाता था और उस कान्तार से निकल जाने पर वह फिर उस सार्थ को छोड़कर स्वतंत्र रूप से चलने लगता था। उन दिनों चोर-बदमाश/डाकू इन जंगलों के मार्गों के किनारे छिपकर बैठ जाते थे और अकेले-दुकेले निकलने वाले वणिजों को लूट लेते थे।

महाभाष्य के अनुसार इस प्रकार के चोर को पारिपंथिक या बटमार कहा जाता था। घने जंगलों या कांतारों में होने वाली लूटपाट से बचने के लिए व्यापारी सार्थों में बड़े समूह बनाकर चला करते थे। निरंतर एवं सतत् रूप से इस प्रकार के साथ-साथ चलने वाले वणिजों को अपरस्पर सार्थ कहते थे। सार्थ का नेता बड़ा उत्तम मार्ग प्रदर्शक होता था और उसके संबंध में यह माना जाता था कि उसे जंगलों के विभिन्न रास्तों का पूरा ज्ञाता, मेधावी और निपुण व्यक्ति होना चाहिए।

मिलिन्द प्रश्न में सार्थों के कुछ नियम दिए गए हैं। इनसे ज्ञात होता है कि इनमें व्यापारी अपनी ही जिम्मेदारी पर सम्मिलित हुआ करते थे और रास्ते में बाँसों के पुल आने पर अपना माल उतारने से पहले वे इन पुलों की मजबूती की परीक्षा कर लिया करते थे। इन सार्थों में यात्रियों का सामान लादकर चलने वाली बैलगाड़ियों की संख्या बहुत अधिक हुआ करती थी। पाटलिपुत्र जाने वाले एक व्यापारी के साथ पाँच सौ बैलगाड़ियों के काफिले का उल्लेख है। इन दिनों व्यापारी लोग सार्थों में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक लंबी यात्राएँ किया करते थे। इनके तक्षशिला से वाराणसी तक आने का वर्णन मिलता है। अवदानशतक में कहा गया है कि ये व्यापारी उत्तर से दक्षिण तक जाया करते थे। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस समय के व्यापारियों और सार्थवाहों का वर्णन करते हुए लिखा है - ‘‘भारतीय व्यापारिक जगत में जो सोने की खेती हुई उसके फूल, पुष्प चुनने वाले व्यक्ति सार्थवाह थे। बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान, साहस के भंडार, व्यावहारिक सूझबूझ में पगे हुए, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखने वाले, नई स्थिति का स्वागत करने वाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष, यवन, शक, पहलव, रोमन, ऋषिक, हूण आदि विदेशियों के साथ कंधा रगड़ने वाले, उनकी भाषा, रीति नीति के पारखी भारतीय सार्थवाह महोदधि/बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित ताम्रलिप्ति से लेकर सीरिया की अंताखी नगरी तक, यवद्वीप और कटाह द्वीप/जावा और केडा से चोल मंडल के सामुद्रिक पत्तनों तक और पश्चिम में यवन एवं बर्बर देशों तक के विशाल जल-थल पर छा गए थे।

उपरोक्त के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के व्यापारी समुद्री व्यापार किया करते थे। इनका परिचय हमें बौद्ध एवं जैन साहित्य में वर्णित कोटिकर्ण, पूर्ण, ज्ञाताधर्म, सानुदास आदि व्यापारियों की कथाओं से होता है। समुद्र-यात्रा पर प्रस्थान करने से पूर्व प्रायः एक व्यापारी नगर में घंटा बजाकर यह घोषणा करता था कि वह विदेश-यात्रा के लिए रवाना होने वाला है, अन्य जो व्यापारी उसके साथ जाना चाहते हों, वे भी उसके साथ चल सकते हैं। इस प्रकार प्रयास करने वाले भारतीय व्यापारी स्वदेश और विदेश के बंदरगाहों में बहुत दूर-दूर तक के स्थानों की यात्रा किया करते थे। मिलिन्द प्रश्न में इस प्रकार के एक व्यापारी द्वारा समुद्रों में अपना जहाज चलाते हुए वंश, तक्कलो, चीन, सौवीर, सुरठ, अलसंद, कोलपट्टन, सुवर्ण भूमि तथा अन्य बंदरगाहों का भ्रमण करने का उल्लेख है। महानिद्देस में कहा गया है कि एक व्यापारी अनेक कष्टों को सहते हुए अनेक बंदरगाहों पर पहुँचा।

सानुदास की कथा भी सुवर्णद्वीप और मध्य एशिया के विभिन्न व्यापारिक स्थानों का वर्णन करती है। आर्यशूर की जातकमाला के सुपारग जातक में सुपारग अर्थात् जहाजरानी की कला में और समुद्र पार करने की यात्राओं में कुशल व्यापारी की एक बड़ी साहसिक और चमत्कारपूर्ण कथा का वर्णन है। इसमें भीषण समुद्री तूफानों का सामना करते हुए यात्रियों द्वारा खुरमाल, दधिमाल, कुशमाल, नलमाल आदि समुद्रों को पार करने के बाद सोने, चाँदी और विभिन्न रत्नों को लाने का वर्णन है। इन समुद्रों की पहचान फारस की खाड़ी, लाल सागर और भूमध्यसागर के विभिन्न प्रदेशों से की गई है। दिव्यावदान में कोटिकर्ण नामक व्यापारी की कथा में समुद्र-यात्रा में आने वाले संकटों का सुंदर वर्णन किया गया है। समुद्री यात्रा के लिए जब जहाज पर बहुत अधिक भीड़ एकत्र हो गई, तब पूर्ण ने लोगों से कहा कि

''समुद्र में अनेक अनजाने भय हैं, वहाँ तिमि और तिमिंगल नाम के बड़े समुद्री जंतु रहते हैं बड़े-बड़े कछुए दिखलाई देते हैं, ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं। जहाज कभी-कभी पानी के नीचे छिपी चट्टानों से टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं। यहाँ तूफानों (कालिकावात) का भी भय रहता है। समुद्री डाकू नीले कपड़े पहन कर जहाजों को लूटते रहते हैं।'' जैन साहित्य में भी बौद्ध साहित्य की भाँति भारत के समुद्री यात्रियों के अनेक सजीव वर्णन मिलते हैं। आवश्यक चूर्णि से यह ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत के मदुरा नामक बंदरगाह से सौराष्ट्र तक जहाज चला करते थे। ज्ञाताधर्म की एक कथा में भारतीय व्यापारियों द्वारा सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप/संभवतः जंजीबार की यात्राओं का वर्णन मिलता है।

जैन साहित्य में समुद्री यात्रा की विभिन्न परिभाषाओं और विभिन्न प्रकार के बंदरगाहों का भी उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ बृहत्कल्पसूत्र भाष्य के अनुसार जलपट्टन ऐसे समुद्री बंदरगाह होते थे जहाँ विदेशी माल उतारा जाता था और देशी माल का चालान होता था। स्थलपट्टन ऐसे स्थानों को कहते थे जहाँ बैलगाड़ियों से माल उतरता था। द्रोणमुख ऐसे स्थान थे जहाँ जल और स्थल दोनों से माल आता था, जैसे ताम्रलिप्ति और भरुकच्छ। निगम व्यापारियों की ऐसी बस्ती को कहते थे जहाँ लेन-देन और ब्याज-बट्टे का काम होता था। सार्थों की बस्तियों और पड़ावों को निवेश कहा जाता था। जिन स्थानों में बड़ी मात्रा में थोक माल बड़ी-बड़ी गाँठों में आता था और उसे छोटे व्यापारियों को बेचने के लिए माल की गाँठें तोड़ी जाती थीं उन स्थानों को पुटभेदन कहा जाता था। शाकल का सुप्रसिद्ध नगर इसी प्रकार पुटभेदन था। महावस्तु के अनुसार जिस स्थान से सुवर्णन द्वीप आदि जाने वाले जहाज गहरे समुद्रों में प्रवष्टि होते थे, उसे समुद्रपट्टन कहते थे।

1.2.8. बंदरगाह / नगर

इस समय विदेशों के साथ व्यापार में वृद्धि होने पर भारत के पश्चिमी और पूर्वी समुद्र तटों पर अनेक बंदरगाहों का विकास हुआ था। इनका परिचय हमें पेरिप्लस और टालमी के विवरणों से मिलता है। पेरिप्सल में पहली शताब्दी ई. में सिंधु नदी के मुहाने से गंगा के डेल्टे तक22 बंदरगाहों का उल्लेख किया गया है, टालमी ने दूसरी शताब्दी ईस्वी में 40 पत्तनों का वर्णन किया है। यह तथ्य एक ही शताब्दी में तत्कालीन व्यापार के उत्कर्ष पर सुंदर प्रकाश डालता है। पेरिप्लस के लेखक ने स्वयमेव भारत के पश्चिमी तट के बंदरगाहों की यात्रा की थी। उसके विवरण से तत्कालीन व्यापारिक दशा पर सुंदर प्रकाश पड़ता है। पश्चिमी तट से पूर्वी तट की ओर यात्रा करते हुए उस समय के प्रधान बंदरगाह निम्नलिखित थे–

1.2.8.1. बार्बरिकोन

पहला बंदरगाह सिंधु नदी के मुहाने के मध्य में बार्बरिकोन था। इसका भारतीय नाम संभवतः बर्बरक था, क्योंकि यहाँ से बर्बर या अफ्रीका के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा के लिए व्यापारी रवाना होते थे। बार्बरिकोन सिंधु देश का प्रधान बंदरगाह था। विदेशों से आने वाला माल यहाँ जहाजों से उतार कर कश्तियों में लादा जाता था और सिंध की राजधानी मीननगर (पातल) ले जाया जाता था। पेरिप्लस के समय यहाँ पह्लव राजाओं का शासन था। इस बंदरगाह से कश्मीर से आने वाला कुठ और चीन से आने वाले रेशम, नील, विभिन्न प्रकार के रत्नों, खालों का निर्यात होता था। यहाँ से बाहर जाने वाले अन्य पदार्थ गुग्गुल, दारुहरिद्रा, गंधतृण तथा फिरोजा और लाजवर्द थे। आयात की जाने वाली वस्तुओं में भूमध्यसागर का मूंगा, अरब का लोबान, एक प्रकार का सुगंधित निर्यास स्टोरेक्स, शीशे के बर्तन, शराब, सोने-चाँदी की प्लेटें तथा पुखराज थे।

1.2.8.2. बेरीगाजा

दूसरा बड़ा बंदरगाह बेरीगाजा था। यह नर्मदा नदी के सागर में मिलने वाले स्थान पर वर्तमान भड़ौच है। उन दिनों यहाँ नम्वेनस नामक राजा का शासन था। इस राजा के लिए विदेशों से चाँदी, बहुमूल्य पात्र, गाने वाले लड़के, अंतःपुर के लिए सुंदर स्त्रियाँ, बारीक कपड़े और बढ़िया शराबें भेंट के लिए लाई जाती थीं। विदेशी शराबों में इटली की, अरब की और सीरिया के लाओडिसिया नामक स्थान की शराब बहुत पसंद की जाती थी। इसके अतिरिक्त यहाँ सोने और चाँदी की मुद्राएँ, ताँबा, रांगा, सीसा, मूंगा, कमरबंद या रंगीन पेटियाँ, मन्सल, संखिया, स्वीट क्लोवर, चकमक के चूर्ण से बनाया जाने वाला विशुद्ध चमकीला शीशा थे। यहाँ से निर्यात की प्रधान वस्तुएँ बालछड़ या जटामांसी, गुग्गुल, कुठ, हाथीदाँत, गोमेद, कार्नेलियन और दारुहरिद्रा, सब प्रकार का सूती कपड़ा, मलमल, रेशम, सूत और बड़ी पिप्पली थीं। इस बंदरगाह में जहाजों को उथले पानी के कारण बड़ी दिक्कत रहा करती थी। बेरीगाजा तक पहुँचने वाली जलप्रणाली बहुत पतली थी, नर्मदा के मुहाने पर पानी में छिपा लंबा, पतला और पथरीला कगार था। पानी उथला होने से समुद्री धाराओं के प्रवाह में सहसा परिवर्तन आ जाने से यहाँ नौचालन बड़ा कठिन कार्य था। इन सब कठिनाइयों से जलपोतों की रक्षा के लिए त्राप्पग और कोटिंबा नामक बड़ी-बड़ी नावों में नाविक राज्य की ओर से नदी के मुहाने पर तैनात रहा करते थे। ये नाविक समुद्र में उत्तर की ओर चलकर काठियावाड़ तक पहुँच जाते थे। यहाँ से ये बेरीगाजा आने वाले जहाजों का पथ-प्रदर्शक बनते थे, इन्हें खाड़ी के मुहाने में पानी में छिपे कगार से बचाकर बंदरगाह की गोदियों में सुरक्षित रूप से पहुँचा दिया करते थे। उन दिनों राजाओं को इस बंदरगाह के समुद्री व्यापार से बड़ी आमदनी होती थी। अतः वे यहाँ तक जहाजों के पथ-प्रदर्शन के लिए विशेष नाविक भेजा करते थे। बेरीगाजा के बाद अगले बड़े बंदरगाह सोपारा, कल्याण और सेमिल्ला चोल थे। ये सब दक्षिणापथ के बंदरगाह कहलाते थे। यहाँ पेरिप्लस ने अन्य अनेक छोटे बंदरगाहों और टापुओं का वर्णन किया है। ये सब उस समय के सातवाहन साम्राज्य में सम्मिलित थे।

1.2.8.3. मुजिरिस

उपरोक्त के पश्चात् तमिल देश शुरू हो जाता था, इसका सबसे बड़ा बंदरगाह मुजिरिस था। इसकी पहचान आधुनिक कांगनोर से की जाती है। महाभारत में इसे मुचिरिपट्टन कहा गया है। यह कालीमिर्च के व्यापार का एक प्रधान केंद्र था। प्राचीन तमिल कवियों ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि यहाँ यवनों के सुंदर और बड़े जहाज केरल की सीमा के भीतर फेनिल पेरियार नदी का पानी काटते हुए सोना लाते हैं और यहाँ से अपने जहाजों पर मिर्च लादकर ले जाते हैं। एक दूसरे कवि के शब्दों में मुचिरी में धान और मछली की अदला-बदली होती है। यहाँ घरों से बाजारों में मिर्च के बोरे लाए जाते हैं। इसके बदले में सोना जहाजों से डोंगियों पर लादकर लाया जाता है, यहाँ लहरों का संगीत कभी बंद नहीं होता। मुजिरिस केरल राज्य का सबसे बड़ा बंदरगाह था। यहाँ रोमन सम्राट ऑगस्टस की स्मृति में एक मंदिर विद्यमान था।

12.8.4. नीलकंठ

पाण्ड्य राज्य का प्रसिद्ध बंदरगाह पश्चिमी तट पर नीलकंठ था। प्लिनी के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि कालीमिर्च के व्यापार पर अधिकार पाने के लिए केरल एवं पाण्ड्य राज्यों में बड़ी प्रतिस्पर्धा थी। मुजिरिस में समुद्री डाकुओं का आतंक बढ़ने के कारण व्यापारी नेलकिंडा संभवतः कोट्टायम के निकट नीलकंठ आना अधिक पसंद करते थे। पहली शताब्दी ई. के मध्य में 45 ई. के लगभग मानसून हवाओं की सहायता से अरब के समुद्र-तट से जहाज 41 दिन में सीधा मुजिरिस और नेलकिण्डा के बंदरगाहों पर आने लगे थे। इससे यहाँ के व्यापार में बड़ी उन्नति हुई। इन बंदरगाहों से निर्यात होने वाले

पदार्थ ये थे– कोटोनारा/उत्तरी मलाबार की मिर्च, अच्छी किस्म के मोती, हाथी दाँत, रेशमी कपड़े, गंगा के प्रदेश का जटामांसी तथा तमालपत्र अर्थात् दालचीनी के पत्ते या तेजपात, हीरे, नीलम तथा विभिन्न प्रकार के पारदर्शी रत्न, सुवर्णद्वीप से आने वाली तथा निकटवर्ती टापुओं से उपलब्ध होने वाली कछुए की खोपड़ियाँ। पूर्वी तट पर पांडयों का एक प्रसिद्ध बंदरगाह ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर कोरकै या कोलकोई अथवा कोरके था। यह मोतियों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था, यहाँ मनार की खाड़ी से मोती निकाले जाते थे।

1.2.8.5. कावेरीपट्टनम्

पूर्वी तट पर चोल राज्य की राजधानी अरगरु/त्रिचनापल्ली के निकट उरैयूर अपने मोतियों और मलमल के लिए प्रसिद्ध थी। यहाँ का सबसे बड़ा बंदरगाह कावेरी नदी की उत्तरी शाखा के मुहाने पर कावेरीपट्टनम् या पुहार था। प्राचीन तमिल काव्य सिलप्पदिकारम् में इसकी समृद्धि के गीत गाते हुए कहा गया है कि यहाँ के व्यापारियों के पास इतना धन था कि उसके लिए बड़े प्रतापशाली राजा ललचाया करते थे। सार्थ जल और स्थल मार्गों से वहाँ इतने प्रकार के माल लाते थे कि ऐसा प्रतीत होता था कि मानों यहाँ सारी दुनिया का माल इकट्ठा हो गया हो। जगह-जगह लोगों की आँखें अक्षय संपत्ति वाले यवनों विदेशी व्यापारियों के मकानों पर पड़ती थीं। यहाँ की गलियों में रेशमी, कपड़े, मूंगे, चंदन, बहुमूल्य गहनों, मोतियों और सोने की दुकानें थीं।

1.2.8.6. पोडुक

चोल राज्य के अन्य बंदरगाह पोडुके (पांडिचेरी) तथा सोपात्मा थे। पांडिचेरी के पास अरिकमेडु की खुदाई से यह पता लगा है कि प्रथम सदी ई. में यह एक समृद्धशाली बंदरगाह था और रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार का एक प्रधान केंद्र था। सोपात्मा की पहचान तामिल साहित्य के सोपट्टिनम् से और वर्तमान समय में मद्रास और पांडिचरी के मध्यवर्ती मरवणम् नामक स्थान से की जाती है। चोल राज्य के उत्तर में पेरिप्लस ने आंध्र प्रदेश के मसलिया और कलिंग के दोसरेने तथा गंगा के मुहाने पर विद्यमान गंगेज नामक बंदरगाहों का उल्लेख कियाहै। मसलिया के मलमल का, दोसरेने से हाथीदाँत का तथा गंगा के मुहाने से तमालपत्र, जटामांसी, मोतियों तथा बढ़िया प्रकार की मलमल का निर्यात होता था। टालमी ने कृष्णा गोदावरी के प्रदेश में कोंट कस्सिला (घंटसल), पितिंद्र (पिथुंठ) तथा कलिंग में पलौरा और गंगा के मुहाने में विद्यमान गंगे तथा तमलित (ताम्रलिप्ति) के बंदरगाहों का उल्लेख किया है।

1.2.9. सारांश

मौर्योत्तर कालीन शिल्प व्यापार नगर पर प्रकाश डालने वाले दो मूल स्रोत हैं– साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोत। साहित्यिक स्रोतों में धार्मिक साहित्य, धर्मनिरपेक्ष साहित्य एवं विदेशी यात्रियों के विवरण तथा पुरातात्विक स्रोतों में अभिलेख, मुद्राएँ, शिल्प तथा स्थापत्य एवं प्रतिमाएँ।

कृषि

प्राचीन काल से वर्तमानकाल तक भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। मौर्योत्तर युग में भी ऐसी ही स्थिति थी। मिलिन्द प्रश्न में विभिन्न कृषि-कार्यों का विस्तृत उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि उस समय मुख्य रूप से भूमि से काँटों, पत्थरों और जंगली घास को हटाना, भूमि को जोतना, बोना, सींचना, खेतों के चारों ओर मेड़बंदी करना, पक्षियों तथा पशुओं से फसल की रक्षा करना तथा इसकी कटाई करना

इत्यादि कृषि कार्य किए जाते थे। इस समय ग्रंथों में खेतों में बोए जाने वाले अनेक प्रकार के अनाजों जैसे धान, जौ, सरसों, तिल, गेंहूँ आदि का उल्लेख मिलता है।

पशुपालन

कृषि की भाँति यह कार्य उस समय वैश्य समाज का परंपरागत धंधा समझा जाता था। पेरिप्लस के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि पहली शताब्दी ई. पूर्व के उत्तरार्द्ध में काठियावाड़ के आसपास के प्रदेशों में पशुपालन बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता था, इससे प्राप्त होने वाले पदार्थों का निर्यात प्रचुर मात्रा में पूर्वी अफ्रीका के प्रदेशों में किया जाता था।

शिल्प

इस युग में मौर्यकाल की भाँति विभिन्न प्रकार के धंधे और व्यवसाय करने वाले शिल्पियों की श्रेणियाँ विद्यमान थीं और उनका संगठन पहले की अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं परिपक्व था। व्यापार की आवश्यकताओं के कारण इस समय कुछ उद्योगों में बड़ी उन्नति हुई। जातक-साहित्य में हमें 19 शिल्पों और श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। यह संख्या इस युग में भी इस प्रकार बनी रही, यद्यपि महावस्तु खंड-3 में इनका स्वरूप जातकों में वर्णित श्रेणियों से कुछ भिन्न है। कुछ श्रेणियों का उल्लेख इसके अभिलेखों में भी पाया जाता है। महावस्तु में कपिलवस्तु की निम्नलिखित श्रेणियों का उल्लेख है– सौवर्णिक या हैरण्यिक (सुनार), प्रावारिक (चादर बेचने वाले), शांखिक (शंख का काम करने वाले), दंतकार (हाथी-दांत के शिल्पी), मणिकार (मनियारे), प्रास्तरिक (पत्थर का काम करने वाले), गंधी, कोशाविक (रेशमी तथा ऊनी कपड़े वाले), घृतकुंडिक (घी बेचने वाले), गुड़ विक्रेता (गौड़िक), वारिक (पानी बेचने वाले), कार्पासिक (कपास बेचने वाले), दध्यिक (दही विक्रेता), पूपिक (पुए बेचने वाले), खंडकार (खाड बेचने वाले), मोदकारक (लड्डू बेचने वाले), कंडुक (हलवाई), समित कारक (आटा बनाने वाले), सत्तूकारक (सत्तू बनाने वाले), फलवणिज (फल विक्रेता), चूर्णकुट्टतैलिक (सुगंधित चूर्ण और तेल बेचने वाले), गुड़पाचक (गुड़ बनाने वाले), सोंठ बेचने वाले शर्करवणिज (शक्कर बेचने वाले), मूलवणिज (कंद-मूल बेचने वाले), सीधुकारक (शराब बेचने वाले)। इन श्रेणियों के अतिरिक्त विभिन्न उद्योग धंधे करने वाले कुछ वर्गों को उस समय शिल्पायतन कहा जाता था। इनमें लुहार, ताँबा पीटने वाले, ठठेरे, पीतल बनाने वाले, राँगे के कारीगर, शीशे का काम करने वाले तथा खराद चढ़ाने वाले मुख्य थे। अन्य शिल्पी कुम्हार, चर्मकार, मालाकार, गद्दियों को भरने वाले (पुरिमकार), रंगरेज, सुईकार, तांती, चित्रकार, सोने चाँदी के गहने बनाने वाले, समूरों के कारीगर, पुताई करने वाले, नाई, स्थपति, सूत्रधार, कुएँ खोदने वाले, लकड़ी बाँस आदि का व्यापार करने वाले, नाविक, सर्वंपधोवक/नदियों की बालू धोकर उसमें से सोना निकालने वाले या सोना साफ करने वाले थे।

व्यापार

वणिक्

उद्योग-धंधों की उन्नति के कारण इस समय देश के आंतरिक एवं विदेशी व्यापार को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला। तत्कालीन साहित्य में अनेक प्रकार के व्यवसायियों और व्यापारियों के वर्णन मिलते हैं। उस समय के व्यापारियों के दो बड़े वर्ग उल्लेखनीय हैं। पहले वर्ग के व्यापारी वणिक् कहलाते थे। ये एक स्थान या दुकान पर बैठकर अपना माल बेचा करते थे। महाभाष्यकार ने लिखा है कि वणिक् का तराजू के साथ गहरा संबंध था। उन दिनों ब्राह्मण लोग वणिक् व्यवसाय में बहुत कम प्रवृत्तहोते थे।

सार्थ

व्यापारियों का दूसरा प्रधान वर्ग सार्थ कहलाता था। उन दिनों एक स्थान से दूसर स्थान तक व्यापारिक माल ले जाने में चोर-डाकुओं तथा जंगली जानवरों के कई प्रकार के खतरे होते थे, अतः व्यापारी अकेले यात्रा करना निरापद नहीं समझते थे। वे अपनी सुरक्षा के लिए बड़े-बड़े समूहों या काफिलों में यात्रा किया करते थे। इन समूहों को उस समय सार्थ कहा जाता था। सार्थ बनाकर चलने वाले व्यापारी सार्थिक या सार्थवाह कहलाते थे। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने इस शब्द की सुंदर व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो पूँजी द्वारा व्यापार करने वाले यात्रियों/पान्थों का अगुआ हो वह सार्थवाह है। (सार्थान् सधनान् पान्थान् वहित इति सार्थवाहः)। वस्तुतः सार्थ का अभिप्राय है समान अर्थ (पूँजी) लगाकर चलने वाले व्यापारी। जो व्यक्ति बाहर मंडियों के साथ व्यापार करने के लिए अपनी पूँजी लगाकर एक साथ टांडा लादकर चलते थे, वे सार्थ कहलाते थे।

बंदरगाह/नगर

इस समय विदेशों के साथ व्यापार में वृद्धि होने पर भारत के पश्चिमी और पूर्वी समुद्र तटों पर अनेक बंदरगाहों का विकास हुआ था। इनका परिचय हमें पेरिप्लस और टालमी के विवरणों से मिलता है। पेरिप्सल में पहली शताब्दी में सिंधु नदी के मुहाने से गंगा के डेल्टे तक 22 बंदरगाहों का उल्लेख किया है, टालमी ने दूसरी शताब्दी में 40 पत्तनों का वर्णन किया है।

1.2.10. बोध प्रश्न

1.2.10.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मौर्योत्तर कालीन शिल्प व्यापार एवं नगरों पर प्रकाश डालने वाले धार्मिक साहित्य का विवरण दीजिए।
2. मौर्योत्तर कालीन अभिलेखों का विवरण दीजिए।
3. मौर्योत्तर कालीन विदेशी विवरण के विषय में लिखिए।
4. श्रेणी से आप क्या समझते हैं?
5. सार्थवाह से आप क्या समझते हैं?
6. मौर्योत्तर काल में पशुपालन पर प्रकाश डालिए।
7. वणिक से आप क्या समझते हैं?
8. मौर्योत्तर काल में सिंचाई व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
9. श्रेणियों के पाँच कार्य लिखिए।
10. सार्थों के नियम लिखिए।

1.2.10.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मौर्योत्तर कालीन शिल्प व्यापार तथा नगरों की जानकारी हेतु स्रोतों का वर्णन कीजिए।
2. मौर्योत्तर कालीन कृषि का विस्तृत विवरण दीजिए।
3. मौर्योत्तर कालीन शिल्प के विषय में विस्तार से लिखिए।
4. मौर्योत्तर कालीन उद्योग धंधों पर प्रकाश डालिए।
5. मौर्योत्तर कालीन श्रेणियों के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
6. मौर्योत्तर कालीन आंतरिक व्यापार का वर्णन कीजिए।

7. मौर्योत्तर कालीन रत्नोद्योग की विवेचना कीजिए।
8. मौर्योत्तर कालीन बार्बरिकोन और बेरीगाजा बंदरगाहों का वर्णन कीजिए।
9. मौर्योत्तर कालीन मुजिरिस और नीलकंठ बंदरगाहों का वर्णन कीजिए।
10. मौर्योत्तर कालीन अरगरू और पांडिचेरी नगरों का वर्णन कीजिए।

1.2.11. संदर्भ ग्रंथ

1. रमशेचन्द्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द 1-2, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, 1942
3. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल: पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, 1963
4. चन्द्रभान पाण्डेय: आंध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963
5. विमल चन्द्र पाण्डेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद।
6. मोतीचन्द्र: सार्थवाह, प्राचीन भारत का पथ पद्धति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, 1953
7. मिराशी, डॉ. वासुदेव विष्णु: वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, 1964
8. राजबली पाण्डेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एंड संस, वाराणसी, 1962
9. वासुदेवशरण अग्रवाल: पाणिनिकालीन भारत, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, सं. 2012 वि.।
10. मोतीचन्द्र: प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भारती भंडार, प्रयोग, सं. 2007
11. प्रशांत कुमार जायसवाल - शककालीन भारत, साधना सदर लूकर गंज इलाहाबाद, फरवरी, 1993
12. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
13. राजबली पाण्डेय: विक्रमादित्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1960
14. हरिदत्त वेदालंकार: भारत का सांस्कृतिक इतिहास, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1962
15. ए.एल. वाशभ: अद्भुत भारत: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा, 1967
16. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की मीमांसा, हिंदी भवन, जालंधर और इलाहाबाद, 1960
17. नगेन्द्रनाथ घोष एम.ए.: भारत का प्राचीन इतिहास: इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयोग, 1951
18. हजारी प्रसाद द्विवेदी: प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हिंदी ग्रंथ रत्नाकार, बंबई, सितम्बर, 1952
19. बारनेट, एल.डी.: एण्टीक्विटीज ऑफ इण्डिया, लंदन 1913
20. मेस्सोन, ओरसैल तथा अन्य: एंशेण्ट इण्डिया, लंदन 1934
21. रैप्सन, ई.जे.: कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1
22. रैप्सन, ई.जे.: एंशेण्ट इण्डिया, कैम्ब्रिज 1922
23. राय चौधरी, एच.सी.: पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
24. नीलकंठ शास्त्री, के.ए.: हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1, एंशेण्ट इण्डिया, मद्रास, 1950
25. स्मिथ, वी.ए.: अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
26. मजूमदार तथा पुसलकर: दी वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

27. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
28. नीलकंठ शास्त्री: ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957
29. एलन, हेग, डाडवेल: दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इण्डिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
30. सुधाकर चट्टोपाध्याय: अर्ली हिस्टरी ऑफ नार्थ इण्डिया। (लगभग 200 ई. पू. से 650): एकेडेमिक पब्लिशर्स, कलकत्ता, द्वि.सं. 1938

खंड – 1 : मौर्योत्तर काल

इकाई – 3 : सुदूर दक्षिण का इतिहास: चोल, पांड्य, चेर

इकाई की रूपरेखा

1.3.1 उद्देश्य
1.3.2 प्रस्तावना
1.3.3 चोल वंश
1.3.4 पांड्य वंश
1.3.5 चेर वंश
1.3.6 सारांश
1.3.7 बोध प्रश्न
1.3.7.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
1.3.7.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
1.3.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.3.1 उद्देश्य

सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक राजवंशों में चोल, पांड्य, चेर प्रमुख थे। उन्होंने संगम-युग में शासन किया। यद्यपि इन राजवंशों के प्रारंभिक इतिहास के विषय में अत्यंत अल्प जानकारी उपलब्ध है किंतु फिर भी वर्तमान में उपलब्ध जानकारी के आधार पर इनके इतिहास से परिचित कराना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

1.3.2 प्रस्तावना

भारत का प्राचीनतम साहित्यिक ग्रंथ ऋगवेद है। इसके एक मंत्र में कहा गया है कि जिस व्यक्ति का आर्य संस्कृति से बहिष्कार कर दिया जाता है, वह दक्षिण की ओर चला जाता है। यहाँ पर दक्षिण के लिए विभिन्न विद्वानों ने दक्षिणापथ, दक्षिणपदा अथवा दक्षिणापद कहा है। एस.के. आयंगर के अनुसार यह दक्षिणापथ है। दक्षिणापथ पर सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक राजवंशों में चोल, पांड्य, चेर प्रमुख थे। उन्होंने संगम-युग में शासन किया। इन राजवंशों के इतिहास पर मुख्यतः संगम साहित्य ही प्रकाश डालता है। चोल, पांड्य, चेर के जनपदों की सीमाएँ एक दूसरे को स्पर्श करती थी, इसलिए उनमें प्रायः युद्ध होते रहते थे। संगम-युग का राजनैतिक इतिहास वस्तुतः इन्हीं राज्यों के बीच समय-समय पर हुए संघर्षों का विवरण है। इन राजवंशों में कौन अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन था, कहना कठिन है। मेगस्थनीज तथा कौटिल्य ने सुदूर दक्षिण के केवल पांड्य राज्य के विषय में कुछ सूचना दी है। परंतु मौर्य सम्राट अशोक के शिला लेख संख्या दो में चोल, पांड्य तथा केरल (चेर) राज्यों के साथ सतियपुतों (सत्यपुत्रों) का भी उल्लेख हुआ है। तमिल व्याकरण ग्रंथ तोल्काप्पियम् में चेरों का विवरण चोलों के पहले दिया गया है। इन राजवंशों के केवल कुछ ही शासकों का तिथि-क्रम निश्चितता के साथ निर्धारित किया जा सका है। सत्यपुत्रों के विषय में बहुत ही कम सूचना मिलती है। अतः उनके इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना संभव नहीं है।

1.3.3 चोल वंश

संगम-युग में चोल मुख्यतः कोरोमंडल-समुद्रतट, तिरुचिरापल्ली तंजोर तथा कावेरी नदी से घिरे भूभाग के शासक थे। के.ए. नीलकान्त शास्त्री के अनुसार प्राचीन चोल राज्य पूर्वी समुद्र-तट पर पेन्नार नदी से बेल्लार तक और पश्चिम में कुर्ग की सीमा तक विस्तृत था। इसके अंतर्गत तोंडमंडलम क्षेत्र भी शामिल था। चोलों का उल्लेख करने वाले प्राचीन साक्ष्यों में पाणिनि की अष्टाध्यायी, संगम-साहित्य, महाभारत तथा अशोक की शिलालेख संख्या दी है। चोलों ने अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय माना और पुराणों में वर्णित शिवि एवं मनु से संबंधित किया।

टालमी के अनुसार उसके समय में दो चोल राज्य थे। दक्षिण के चोलों की राजधानी उरगपुर या उरैपुर थी और उत्तर के चोलों की शक्ति का केंद्र अर्काट था। टी.वी. महालिंगम ने अर्काट का समीकरण तंजौर जिले के आरक्काडु नामक स्थान से किया है। चोलों की प्राचीनतम राजधानी उरैयूर कावेरी नदी के तट पर स्थित थी प्राचीन चोल वंश का प्रथम महत्वपूर्ण शासक उरुवप्पहरेइलमसेतसेन्नि था। उसकी राजधानी उरैयूर थी। उसने वेलीर वंश से वैवाहिक संबंध स्थापित किया। उसके राज्य में तोंडमंडलम् क्षेत्र नहीं शामिल था। संगम-साहित्य में वस्तुतः कारैकाल के पूर्ववर्ती कई चोल शासकों के नाम वर्णित हैं, परंतु स्पष्ट प्रमाणाभाव के कारण उनके वंशानुक्रम एवं तिथिक्रम के संबंध में काफी मत-भिन्नता तथा अनिश्चितता है।

उरुवप्पहरे का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कारैकाल बहुत शक्तिशाली तथा महान शासक था। उसकी उपलब्धियों का भावी पीड़ियों के मानस-पटल पर गहरा प्रभाव पड़ा और परवर्ती काल में उससे संबंधित अनेक कथानक गढ़े गए जिनके विवरण शिलप्पदिकारम् के अतिरिक्त 11-12वीं शती तक के साहित्यक ग्रंथों एवं अभिलेखों में मिलते हैं। करिकाल का पितामह पेरुननिकिल्लि चेर शासक कुदक्को का समकालीन था और दोनों परस्पर युद्ध करते हुए एक साथ मारे गए थे। कारैकाल के पिता की मृत्यु राज्यारोहण के पहले ही हो गई थी। इसलिए वह (करिकाल) बचपन में ही विषम परिस्थितियों से घिर गया था और उसे अपने राज्य से भागकर करुर में शरण लेनी पड़ी। वहीं से वह चोल-राजसिहांसन पर प्रतिष्ठित किए जाने के कारण लंगड़ा हो गया था। विभिन्न विद्वानों द्वारा अग्नि से बुरी तरह जल जाने के लिए लाया गया था। करिकाल बचपन में अग्नि से बुरी तरह जल जाने के कारण लंगड़ा हो गया था। विभिन्न विद्वानों द्वारा सुझाये गए उनके नाम के विभिन्न शाब्दिक अर्थ इस प्रकार हैं -

1. जिसकी टांग जल गई हो।
2.जो करि अर्थात् शत्रुरूपी हाथियों के लिए काल के समान हो।
3. कलि को समाप्त करने वाला।
4. काली टांग वाला।

इसमें द्वितीय अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

करिकाल के सम्मान से रची हुई पट्टिनप्पलै में उसकी विजयी तथा अन्य उपलब्धियों का विस्तृत एवं अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। इस साक्ष्य से हमें ज्ञात होता है कि शासन के प्रारंभिक भाग में करिकाल को अनेक राजनैतिक झंझावातों का सामना करना पड़ा। उसके शत्रुओं ने चोल राज्य को अधिकृत कर उसे जेल में डाल दिया था। परंतु वह किसी प्रकार जेल से मुक्ति पाकर पुनः राजसिंहासन प्राप्त करने में सफल हुआ। राज्य एवं राजधानी में राजनैतिक स्थिरता स्थापित करने के उपरांत उसने

महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी योजना को कार्यान्वित करना प्रारंभ किया। उसे अनेक राज्यों एवं राजाओं पर विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया गया है जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

करिकाल ने वेण्णि (तंजौर से लगभग 24 किलो मीटर पूर्व में स्थित) में दो महत्वपूर्ण युद्ध किए थे। प्रथम संघर्ष में उसने अपने प्रमुख प्रतिद्वंदी पाड्यों चेरों तथा उनके मित्र 11 सामंत शासकों की सम्मिलित सेनाओं को निर्णायक रूप से पराजित कर दिया। इस युद्ध में चेर राजा की पीठ पर घाव लग गया था जिससे अपमानित होकर उसने युद्ध-स्थल पर ही दम तोड़ दिया। करिकाल की यह शानदार विजय न केवल उसके लिए बल्कि, दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनीति में दिशा परिवर्तक सिद्ध हुई।

करिकाल का दूसरा महत्वपूर्ण युद्ध वाहैप्परन्दलै नामक स्थान पर हुआ था। इसमें उसने नौ छोटे छोटे शासकों को पराजित कर उसके राजकीय छत्र आदि अपहृत कर लिए और उन पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर दी। उसने पेन्नार नदी के निचले कांढे में निवास करने वाले अरुवालर लोगों पर भी आक्रमण किया इनके अतिरिक्त करिकाल को पश्चिमी क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया गया है और बतलाया गया कि उसने नागवंश से संबंधितओलियन नामक एक असभ्य जनजाति को सभ्य बना दिया था। पट्टिनप्पालै में करिकाल की विजयों में एयिनार, ओलियार, अरुवालर तथा बड़वर को भी शामिल किया गया है। टी.वी महालिंगम के अनुसार इनमें से प्रथम तीन तोंडमंडलम की जनजातियाँ थी और वडवर तमिल देश की सीमा के बाहर स्थित क्षेत्र में शासक थे।

कारैकाल को उत्तर में हिमालय पर्वत तक के क्षेत्र का विजेता बतलाया गया है। इस कथन में कहाँ तक सत्यता है, कहना कठिन है। शिलप्पदिकारम् के अनुसार करिकाल ने मगध, वज्र तथा अवंति राज्यों के शासकों से कूटनीतिक संबंधबनाए। एस. के. आयंगर ने इस विवरण को प्रमाणिक माना है और वज्र का समीकरण बुंदेलखंड से किया है।

करिकाल के राज्य-काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना उसके द्वारा श्रीलंका की विजय थी। श्रीलंका के शासक को पूर्णरूपेण पराजित कर वह वहाँ से 12,000 व्यक्तियों को बंदी बनाकर अपने साथ लाया था। बाद में उसने इन कैदियों तथा कुछ अन्य पराजित शासकों की सहायता से कावेरी नदी के मुहाने पर पुहार नामक पत्तन का निर्माण कराया। उसकी सिंहल-विजय प्रमाणित करती है कि उसके पास शक्तिशाली नौसेना भी थी। पुहारपत्तन के निर्माण-कार्य में उसने जिन शासकों का सहयोग लिया था, उनमें त्रिनेत्रपल्लव भी शामिल था।

एक महान शासक तथा विजेता होने के साथ-साथ करिकाल तमिल साहित्य एवं ब्राह्मण धर्म का उदार संरक्षक था। उसने आर्थिक सुधारों पर भी ध्यान दिया और कृषि तथा व्यापार को काफी प्रोत्साहन प्रदान किया। उसने जंगली भूमि को अधिकृत कर उसे साफ कराया और सिचाई के लिए तालाबों आदि का निर्माण कराया। उसने चोल राज्य में अन्य क्षेत्रों को स्थानांतरण करने पर प्रतिबंध लगा दिया था। करिकाल एक न्याय-प्रिय शासक था और प्रतिभोजों, सुरापान एवं स्त्रियों में अभिरुचि रखता था। पट्टिनप्पलै कविता के रचयिता अपने संरक्षित कवि को उसने 1,60000 सोने के सिक्के पुरस्कार के रूप में दिए थे। उसने परणर तथा कलत्तैयर नामक कवियों को भी संरक्षण प्रदान किया। करिकाल ने कावेरीपट्टिनम् नगर का निर्माण करा कर उसे अपनी राजधानी बनाया।

चेर शासक सेंगुटटुवन तथा सिंहल के राजा गजबाहु से समकालीनता के आधार पर मुख्यतः करिकाल का राज्यकाल निर्धारित किया गया है। टी.वी महालिंगम के अनुसार उसने 140 तथा 19र्0 इ. के बीच के अंतराल में शासन किया। वह संगम-युग का सबसे महान शासक था और तेलुगू क्षेत्र के कई परवर्ती राजवंशों एवं राजाओं ने उसे अपना पूर्वज माना।

करिकाल के उत्तराधिकारी

करिकाल की मृत्यु के उपरांत चोल राज्य विघटित होकर अराजकता का शिकार हो गया। उसके दो पुत्र थे-मनक्किलल्लि तथा पेरुविर्रकिरल्लि। मनक्किलल्लि की राजधानी उरैयूर थी। उसका पुत्र नेन्दुकिल्लि तथा पौत्र पेरवरनर किल्लि था। पेरचर नर किल्लि था। पेरचर नर किल्लि के तीन पुत्र थे- 1. किल्लिवलवन 2. नलनकिल्लि, 3. मवलत्तन। एस. के आयंगर के अनुसार करिकाल की मृत्यु केउपरांत उसका पुत्र या पौत्र नेडमुडिकिल्लि राजा हुआ। उसने कारियारू नामक स्थान पर चेरों तथा पांड्यों को पराजित किया। उसी के शासनकाल में कावेरीपट्टिनम का विनाश हो गया था। करिकाल के उपर्युक्त उत्तराधिकारियों के विषय में बहुत कम सूचना मिलती है। चेरों के अभ्युदय काल में चोल राज्य की सीमाएँ काफी संकुचित हो गई थीं, किंतु वे अपनी स्वतंत्रता कायम रखने में प्रायः सफल रहे। पांड्यों तथा पल्लवों के उत्कर्ष के परिणामस्वरूप प्राचीन चोल राजवंशों की अवशिष्ट शक्ति तथा गरिमा समाप्त हो गई और नवीं शताब्दी के मध्य के लगभग विजयालय चोल के अभ्युदय तक उनका इतिहास अस्पष्ट, अन्धकारमय तथा अनिश्चित है।

1.3.4 पांड्य वंश

सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक राजवंशों में पाड्यों का महत्वपूर्ण स्थान था और वे संगम-युग में चोलों के प्रमुख प्रतिद्वंदी थे। पांड्य राजवंश के इतिहास के तीन प्रमुख चरण है-
1. संगम-युग के पांड्य, 2. कडुंगोन द्वारा स्थापित प्रथम पांड्य साम्राज्य3. मारवर्मन सुंदर पांड्य प्रथम द्वारा स्थापित द्वितीय पांड्य साम्राज्य

पांड्यों के प्राचीनतम उल्लेख हमें कात्यायन के वार्तिक (ई. पू. चैथी शताब्दी) तथा मेगास्थनीज की इंडिका में प्राप्त होते हैं। मेगास्थनीज ने लिखा है कि पांड्य राज्य में स्त्रियाँ शासन करती थीं और उस समय वहाँ की शासिका हेराक्लीज की पुत्री पंडिया थी। वह कुशल प्रशासिका थी। उसके राज्य में 365 ग्राम थे जो नियमित रूप से कर एवं भेंटे देते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बतलाया गया है कि पांड्य जनपद की राजधानी मदु (मदुरई) नगर उत्तम वस्त्रों तथा बहुमूल्य मोतियों के उत्पादन एवं व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। अशोक के शिलालेख दो में पांड्य राज्य को मौर्य साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर स्थित जनपदों में शामिल किया गया है।

रामायण तथा महाभारत में भी पांड्य राज्य के उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में बतलाया गया है कि यह राज्य चंदन के लिए प्रसिद्ध था।

गुंफा अभिलेख के अनुसार पांड्यों को पराजित करने के उपरांत कलिंगराज खारवेल पांड्य राज्य से हाथी, घोड़े तथा बहुमूल्य मुक्ता-मणि ले गया था। परंतु इस युद्ध का ब्यौरा नहीं दिया गया है। ये हमें ज्ञात होता है कि दक्षिण में कोमारी (कन्याकुमारी) से लेकर कारकै तक का क्षेत्र पांड्य राज्य में सम्मिलित था। इस जनपद में प्रवाहित होने वाली ताम्रपर्णी नदी उत्कृष्ट मुक्ताओं के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थी। टालमी (लगभग 150 ई.) ने भी पांड्य राज्य तथा इसकी राजधानी मदुरा का उल्लेख किया है। स्ट्रैवो ने लिखा है कि पांड्य शासक ने रोम के सम्राट अगस्तस के राज दरबार में अपना दूतमंडल भेजा था।

पांड्य राज्य चोल राज्य के दक्षिण में स्थित था और इसके अंतर्गत मोटे और पर वर्तमान मदुरई, तिरुनेनेलवेलि, रामनाथपुरम तथा तिरुचिरापल्ली जिलों के अतिरिक्त भूतपूर्व ट्रावनकोर राज्य का कुछ भू-भाग भी शामिल था। इसकी सबसे प्राचीन राजधानी कोरकाई (कोलकाई) थी। प्रथम शताब्दी में वैगई नदी के तट पर स्थित मदुरा (मदुरई) पांड्यों का शक्तिकेंद्र बना।

प्राचीन अनुश्रुतियों तथा साहित्यिक साक्ष्यों में पांड्य शासक बदिमबलन-बनिन्र का उल्लेख मिलता है जिसे मदुरई का शासक कहा गया है। पी. एन. चोपड़ा, एन. सुब्रमण्यम तथा टी. के रवीन्द्रन के अनुसार व्याकरण ग्रंथ तोल्काप्पिनम् की एक टीका में इसी राजा का मर्किति के नाम से उल्लेख हुआ है। मदुरा के प्रारंभिक पांड्य शासकों में मुदुक्कुडुमिपेरुवलुदि उल्लेखनीय है। उसे महान विजेता, कवियों का आश्रयदाता तथा अनेक वैदिक-यज्ञों को संपन्न करने वाला बतलाया गया है। उसके बाद के पांड्य राजाओं में मदिवननपोरकै तथा इलमपेरुव के नाम मिलते है।

मागुडिमरुदन के मदुरैक्कंजि तथा कुछ अन्य साक्ष्यों में नेडियोन, पलशालइमुदुक्कुडुमि एवं नेडुंजेलिश्यन के उल्लेख हुए हैं। इनमें नेडियोन अर्थात् लंबे कद वाला के विषय मे प्रामाणिक सूचना का अभाव है। वेलविक्कुडि तथा शिन्नमनूर-ताम्रपत्रो में उसकी कुछ उपलब्धियों का विवरण प्राप्त होता है। उसे पहरुलि नदी को उत्पन्न करने तथा समुद्र-पूजा को व्यवस्थित स्वरूप देने का श्रेय दिया गया है। वेलविक्कुडि-ताम्रपत्रों में पालशालैमुदुक्कुडुमि का प्रथम पांड्य शासक के रूप में उल्लेख हुआ है। उसने बहुत से यज्ञ संपन्न किए और इसीलिए पलशालइ का विरुद धारण किया।

संगम-युग के पांड्य शासकों में नेडुजेलियन सर्वाधिक शक्तिशाली था। वह अल्पायु में ही राजा बन गया था। संभवतः इसीलिए उसके शासक के प्रारंभ में चेरों तथा चोलों ने पाँच अन्य छोटे शासकों के साथ पांड्य य राज्य पर आक्रमण कर दिया। नेडुंजेलियन ने तलैयालंगानम (तिरुवालूर से लगभग 20 किलो मीटर उत्तर-पश्चिम में स्थित) नामक स्थान पर इस शत्रु संघ का वीरता पूर्वक सामना किया, उन्हें पराजित कर मदुरा से खदेड़ दिया तथा तंजौर तक उनका पीछा किया। इस निर्णायक संघर्ष के प्रारंभ होने के पहले ही नेडुंजेलियन ने चेर शासक शेय की बंदी बनाने की प्रतिज्ञा की थी। जिसे उसने पूरा भी किया। पांड्य साक्ष्यों में इस युद्ध को काफी महत्व दिया गया और कम से कम 10वीं शती तक के अभिलेखों में गर्व के साथ इसका वर्णन किया गया। नेडुंजेलियन ने कोंगु प्रदेश के शासक अलियन तथा निडूर के राजा एव्वि के विरुद्ध भी सफलताएँ प्राप्त कीं। एव्वि को पराजित करने के उपरांत उसने मिललय एवं मुत्तू क्षेत्र अधिकृत कर लिए थे।

नेडुंजेलियन स्वयं कवि था और मागुंडिमरुदन् कल्लादनार तथा नक्कीरर उसके संरक्षित कवि थे। इन दरबारी कवियों ने पारंपरिक अतिशयोक्ति के साथ उसकी उपलब्धियों तथा महानता का वर्णन किया है। वह ब्राह्मण का अनुयायी था और उसने कई वैदिक-यज्ञ संपन्न किए। उसने व्यापार को भी प्रोत्साहन प्रदान किया। मदुरैक्कांजि में नेडुंजेलियन के शासन काल में पांड्यों की राजधानी मदुरा के वैभव एवं गरीमा का विस्तृत विवरण है।

नेडुंजेलियन ने चोल करिकाल तथा कांची के शासकइलंदिरैयन के राज्य काल के बाद में शासन किया। नेडुंजेलियन नाम के एक से अधिक पांड्य शासक थे। इसलिए इस नेडुंजेलियन को तलैयालंगनातच्चेरुवेन (तलैयालंगानम के युद्ध का विजेता) कहा गया है। उसी के शासन काल में कण्णगी के निर्दोष पति कोवलान को मृत्यु दंड दिया गया था जिसका विस्तृत तथा रोमांचकारी विवरण शिलप्पदिकारम् काव्य में मिलता है। जब उसे अपने इस अक्षम्य अपराध की जानकारी प्राप्त हुई तो उसने शोक संतृप्त होकर दम तोड़ दिया।

नेडुंजेलियन का छोटा भाई वेरिवरशेलिय कोरकै में शासन कर रहा था। नेडुंजेलियन की मृत्यु के पश्चात् वह मदुरा का भी राजा बन गया और उसने कोवलान की पतिव्रता पत्नी कण्णगी के सम्मान में एक उत्सव का समारंभ किया। वह चेर शासक सेंगुटटुवन का समकालीन था। चूँकि भित्ति-चित्रों को देखने के

दौरान उसकी मृत्यु हुई थी, इसलिए वह चित्तिरमदत्तुंजियवरमरन के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। ननभरन की उपाधि उसने संभवतः मदुरा का शासक होने के उपरांत धारण की थी।

1.3.5 चेर वंश

चेरों का सर्वप्रथम उल्लेख संभवतः ऐतरेय आरण्यक में हुआ है। परवर्ती काल में चेर राज्य केरल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चेरों को 'वान-वन' तथा 'मलैयर' भी कहा गया है। कात्यायन (ई. पू. चैथी शताब्दी) के वातिक तथा अशोक के शिला लेख दो में पांड्यों एवं चोलों के साथ केरलों का भी उल्लेख हुआ है। रामायण एवं महाभारत में भी इसका वर्णन है। प्राचीन चेर राज्य का विस्तार पश्चिमी समुद्र-तटवर्ती क्षेत्र में कोंकण तथा दक्षिणी मलाबार तट तक था और इसमें उत्तरी ट्रावन्कोर, कोचीन तथा दक्षिणी मलाबार क्षेत्र शामिल थे। इस प्रकार चेर, पांड्य राज्य के उत्तर में पश्चिमी घाटों की पर्वत- शृंखला तथा समुद्र के मध्यवर्ती भूभाग के शासक थे। परंतु ये सीमाएँ समय-समय पर घटती-बढ़ती रहीं। प्राचीन चेर राज्य की दो राजधानियाँ थी।

1. वंजि (तिरुचिरापल्ली जिले में करवूर या करूर)
2. तोंड़ी (पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित)

वंजि चेरों की शक्ति का अधिक महत्वपूर्ण केंद्र था। परंतु इसके समीकरण के संबंध में काफी मत-भिन्नता है। कुछ विद्धानों ने इसे तिरुचिरापल्ली जिले के करूर नामक स्थान और कुछ ने कोचीन के समुद्र तट पर स्थित तिरुवंजिकुलम् (तिरुवाजैक्कलम्) माना है। अन्य विद्वान इसका समीकरण पेरियर नदी के मुहाने के निकटवर्ती क्रांगनोर नामक स्थान से करते हैं। जिसे यूनानी लेखकों ने संभवतः मुजरिस कहा है। मुजरिस महत्वपूर्ण बंदरगाह था। टालमी ने करौरा को चेरों की राजधानी बतलाया है। इस स्थान के निकट काफी संख्या में रोम के सम्राटों के सिक्के प्राप्त हुए हैं।

चेर राजवंश का प्रथम महत्वपूर्ण शासक उदयजीरल (लगभग 130 ई.) था। उसके विषय में कहा गया है कि कुरुक्षेत्र की दोनों (कौरव एवं पाडंव) सेनाओं का भक्षण करने के उपरांत उसने उदयंजीरल की उपाधि धारण की थी। उसने द्वितीय शताब्दी के पूर्वाद्ध में शासन किया।

उदयंजीरल के पश्चात् उसका पुत्र नेदुंजीरलम (नेदुंजेराल) 155 ई. के आस-पास राजा हुआ। वह वेलीर वंशीय राजकुमारी वेलियानवेनि-मालनल्लिनी से उत्पन्न हुआ। उसे महान विजेता तथा चक्रवर्ती सम्राट के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसकी विजयों में कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक के समस्त राज्यों को शामिल कर दिया गया है। नेदुंजीरल ने इमयवरम्बन् का विरुद धारण किया जिसका अर्थ विभिन्न विद्वानों ने इस प्रकार किया है-

1. जिसने अपने राजकीय चिह्नों को हिमालय पर्वत पर उत्कीर्ण कराया हो।
2. हिमालय जिसके राज्य की सीमा हो।
3. जिसका यश हिमालय तक पहुँच गया हो।
4. देवानांप्रिय (इमइ-अनवन) अर्थात् देवताओं का प्रिय जिसका प्रयोग मौर्य सम्राट अशोक ने किया था।

नेदुंजीरल के पास शक्तिशाली नौ सेना थी। उसकी निम्नलिखित महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ तथ्य पर आधारित प्रतीत होती हैं-

1. उसने मलावार तट के यवनों को बंदी बनाकर उनके हाथ पीछे की ओर बंधवा दिए, उनके सिर पर तेल डलवाया और उन्हें अन्य प्रकार से भी अपमानित एवं प्रताड़ित किया। इसके उपरांत उसने यवनों से हीरे, मोती, बहुमूल्य मणियाँ तथा बर्तन आदि प्राप्त कर उन्हें मुक्त कर दिया।

प्राचीन भारतीय साक्ष्यों में पहले यवन शब्द का प्रयोग यूनान के लोगों के लिए किया गया और बाद में विदेशी के सामान्य अर्थ में नंदुजीरल संदर्भ में यवनों का तात्पर्य संभवतः यूनान, रोम या अरब के व्यापारिक अथवा सामुद्रिक-दस्युओं से हो सकता है।

2. नेदुंजीरल की दूसरी महान उपलब्धि थी 'कड़म्बु' नामक जनजाति का दमन। प्राचीन तमिल साहित्य में कारवाड़ से मंगलौर तक के सामुद्रिक दस्युओं के क्षेत्र की कड़म्बु कहा गया है। इस भूभाग में संभवतः कड़म्बु नामक वृक्ष भी पैदा होता था। नेदुंजीरल के राज्यकाल में पश्चिमी समुद्र के इस क्षेत्र का पाश्चात्य जगत के साथ व्यापार उन्नत अवस्था में था और कड़म्बु डाकू पाट द्वारा इसमें संभवतः विघ्न उपस्थित करते थे। इसलिए नेदुंजीरल इन दस्तुओं का पूर्णरूप से दमन कर सामुद्रिक व्यापार को उनके खतरे से मुक्त कर दिया।

एस. कृष्णस्वामी आयंकर की संभावना है कि इसी कड़म्बु जनजाति के लोग परवर्ती काल में कदम्ब कहलाने लगे। परंतु यह मत किन्हीं पुष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य द्वारा समर्थित न होकर केवल कुछ बाह्य नाम-साम्य पर ही आधारित है।

नेदुंजीरल ने सात शत्रु-शासकों को पराजित करने के उपरांत 'अधिराज' की उपाधि धारण की। उसका चोल शासक उरुवप्पहरेर् इलैयन् से भी युद्ध हुआ जिसमें दोनों ही मारे गए और उनकी पत्नियाँ सती हो गईं यदि यह विवरण तथ्य पर आधारित है तो इसे प्राचीन भारतीय इतिहास के अद्भुत उदाहरणों में से एक मानना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार नेदुंजीरल ने 55 वर्ष तक शासन किया और कुछ के अनुसार 58 वर्ष तक।

नेदुंजीरल की मृत्यु के उपरांत उसका भाई पल्यानैशेल्केलुकुट्टुवन चेर राजसिंहासन पर बैठा। उसे कोंगु जनपद तथा अगप्पा के दुर्ग का विजेता कहा गया है। उसके विषय में अधिक सूचना नहीं मिलती नेदुंजीरल के तीन पुत्रों के नाम मिलते हैं-

1. कलंगायक्कणिनाडमुडिच्छच्छीरल-जो 175 ई. के आस-पास शासन कर रहा था। उसका युद्ध नारमुडि नामक शासक से हुआ था।
2. चोल राजकुमारी से उत्पन्न सेंगुट्टुवन
3. इलंगोअदिगल

इसमें सेगुटटुवन (लगभग 180 ई.) सबसे शक्तिशाली था। उसकी उपलब्धियों तथा महानता का प्रशंसात्मक विवरण संगम-युग के कवि परणर ने किया है। सेंगुटटुवन को पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के बीच के समस्त भू-भाग का विजेता बतलाया गया है। उसने उत्तर भारत के आर्यों को पराजित किया, कोडुगूर को जीता, पलययान के धार्मिक वृक्ष को नष्ट किया, वयिलपुरम् के युद्ध में नौ चोल शासकों को पराजित किया और कड़म्बुओं का विनाश करने के उपरांत कदलपिरक्कोतिय (अर्थात् समुद्र के पीछे हटाने वाला) की उपाधि धारण की। परणर के अनुसार उसके पास सुदृढ़ नौसेना थी, जिसके द्वारा उसने पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र तटों के द्वीपों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। उसने मुहूर तथा वियालूर के शासकों पर भी विजय प्राप्त कीं। के.ए नीलकांत शास्त्री के अनुसार मुहूर पांड्य राज्य का ही एक भाग था।

परणर के अनुसार सेंगुटटुवन कुशल अश्वारोही तथा गजारोही हिमालय लेकर कन्याकुमारी तक के अनेक शासकों का विजेता, सात राजमुकुटों की माला धारण करने वाला, शत्रुओं के दुर्गों में घेरा डालने में चतुर, युद्ध-प्रिय तथा सुरापान में अनुरक्त था। उसने इलंगोवेनिमाल नाम की वेलीर वंशीय राजकुमारी के साथ विवाह किया। वह विद्या एवं धर्म का भी उत्साही संरक्षण था। उसी के शासन काल में पातिव्रत-धर्म की अधिष्ठात्री देवी कण्णगी की पूजा का प्रारंभ हुआ। उसने इस देवी का एक मंदिर

बनवाया और उसमें कण्णगी प्रतिमा स्थापित की। शिलप्पदिकारम् में यह वर्णित है कि इस मूर्ति के निर्माण हेतु पत्थर लाने के लिए सेंगुटटुवन ने हिमालय पर्वत की साहसिक यात्रा की थी। प्रतिमा कीस्थापना के अवसर पर जिन अनेक शासकों को उसने आमंत्रित किया था, उसमें लंका का राजा गजबाहु प्रथम भी शामिल था। गजबाहु से समकालीनता के आधार पर उसका राज्यकाल द्वितीय शताब्दी के तृतीत चरण में रखा गया है। सेंगुटटुवन ने55 वर्ष तक शासन किया।

सेंगुटटुवन के पश्चात्उसका पुत्र पेरुंजीरलइरुमपोरय (लगभग 190 ई.) राजा हुआ। उसने पोत्ति के चोल शासक तथा वलैयनमारन को पराजित किया और प्रस्तर से निर्मित पाँच दुर्गों को अधिकृत किया। उसने विच्चि तथा पांड्य शासक के विरुद्ध भी सफलता प्राप्त की और इन युद्धों में प्राप्त बहुत सी धन-संपत्ति सहित अपनी राजधानी वंजि वापस आया। इरमपोरय को कलुवूल एवं अडिगयमान नामकसामंतों को भी पराजित करने का श्रेय दिया गया है। उसने तगडूर (सलेम जिले में धर्मपुरी) में स्थित अडिगयमान के एक दुर्ग पर अधिकार कर लिया था। परंतु बाद में इन दोनों राजाओं में मित्रता हो गई। इरमपोरय के उत्तराधिकारियों में सेइयै (लगभग 210 ई.) का नाम उल्लेखनीय है। उसने पांड्यों तथा चोलों से युद्ध किया था। अटूकोतपुत्तूचेरलआदन नामक एक अन्य राजा ने चेर राज्य के कुछ प्रदेश पर 38 वर्ष तक शासन किया। उसे दंडकारण्य की कुछ जनजातियों द्वारा चुराए गएपहाड़ी बकरे-बकरियों को पुनः प्राप्त कर उन्हे तोड़ी में लाने का श्रेय दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उसकी राजधानी वंजि न होकर संभवतः तोन्डी थी। अदुकोतपुत्तचेरलआदन ने कुडनाडु में एक नगर ब्राह्मणों को दान में दिया मलवारों पर विजय प्राप्त की और वानरवरम्बन की उपाधि धारण की।

उपर्युक्त चेर शासकों के अतिरिक्त अन्दुवन , शेनवक्कुडगोन, वालिआदन ऐ तथा पारि आदि के नाम भी मिलते हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें शाखा-राजवंश से संबंधित किया है। ये राजा ब्राह्मण धर्म के संरक्षण थे। परंतु उनके राज्यकाल के विषय में कोई महत्वपूर्ण सूचना नहीं मिलती।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभिक शताब्दियों में चोल, पांड्य तथा चेर राज्यों के महत्वाकांक्षी शासक सुदूर दक्षिण की प्रभुसत्ता के लिए आपस में संघर्ष करते रहे और बारी-बारी से एक-दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए किंतु उनमें कोई ऐसा शासक नहीं हुआ जो तीनों राजवंशों को एकता के सूत्र में बाँध पाता। अतः निश्चित है कि उनमें एकता का पूर्णतः अभाव था।

1.3.6 सारांश

भारत का प्राचीनरतम साहित्यिक ग्रंथ ऋगवेद है। इसके एक मंत्र में कहा गया है कि जिस व्यक्ति का आर्य संस्कृति से बहिष्कार कर दिया जाता है, वह दक्षिण की ओर चला जाता है। यहाँ पर दक्षिण के लिए विभिन्न विद्वानों ने दक्षिणापथ, दक्षिणपदा अथवा दक्षिणापद कहा है। एस.के. आयंगर के अनुसार यह दक्षिणापथ है। दक्षिणापथ पर सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक राजवंशों में चोल, पांड्य, चेर प्रमुख थे। उन्होंने संगम-युग में शासन किया। इन राजवंशों के इतिहास पर मुख्यतः संगम साहित्य ही प्रकाश डालता है। चोल, पांड्य, चेर के जनपदों की सीमाएँ एक दूसरे को स्पर्श करती थी, इसलिए उनमें प्रायः युद्ध होते रहते थे। संगम-युग का राजनैतिक इतिहास वस्तुतः इन्हीं राज्यों के बीच समय-समय पर हुए संघर्षों का विवरण है। इन राजवंशों में कौन अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन था, कहना कठिन है। मेगस्थनीज तथा कौटिल्य ने सुदूर दक्षिण के केवल पांड्य राज्य के विषय में कुछ सूचना दी है। परंतु मौर्य सम्राट अशोक के शिला लेख संख्या दो में चोल, पांड्य तथा केरल (चेर) राज्यों के साथ सतियपुतों (सत्यपुत्रों) का भी उल्लेख हुआ है।

टालमी के अनुसार उसके समय में दो चोल राज्य थे। दक्षिण के चोलों की राजधानी उरगपुर या उरैपुर थी और उत्तर के चोलों की शक्ति का केंद्र अर्काट था। प्राचीन चोल वंश का प्रथम महत्वपूर्ण शासक उरुवप्पर्रे इलमसेतसेन्नि था। उसकी राजधानी उरैयूर थी। उसने वेलीर वंश से वैवाहिक संबंध स्थापित किया। उसके राज्य में तोंडमंडलम् क्षेत्र नहीं शामिल था। उरुवप्पर्रे का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कारैकाल बहुत शक्तिशाली तथा महान शासक था।

करिकाल के सम्मान से रची हुई पट्टिनप्पलै में उसकी विजयी तथा अन्य उपलब्धियों का विस्तृत एवं अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। इस साक्ष्य से हमें ज्ञात होता है कि शासन के प्रारंभिक भाग में करिकाल को अनेक राजनैतिक झंझावातों का सामना करना पड़ा। उसके शत्रुओं ने चोल राज्य को अधिकृत कर उसे जेल में डाल दिया था। परंतु वह किसी प्रकार जेल से मुक्ति पाकर पुनः राजसिंहासन प्राप्त करने में सफल हुआ। राज्य एवं राजधानी में राजनैतिक स्थिरता स्थापित करने के उपरांत उसने महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी योजना को कार्यान्वित करना प्रारंभ किया।

सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक राजवंशों में पाड्यों का महत्वपूर्ण स्थान था और वे संगम-युग में चोलों के प्रमुख प्रतिद्वंदी थे। पांड्य राजवंश के इतिहास के तीन प्रमुख चरण है-

1. संगम-युग के पांड्य, 2. कडुंगोन द्वारा स्थापित प्रथम पांड्य साम्राज्य 3. मारवर्मन सुंदर पांड्य प्रथम द्वारा स्थापित द्वितीय पांड्य साम्राज्य

पांड्यों के प्राचीनतम उल्लेख हमें कात्यायन के वार्तिक (ईसा पू0 चैथी शताब्दी) तथा मेगास्थनीज की इंडिका में प्राप्त होते हैं। मेगास्थनीज ने लिखा है कि पांड्य राज्य में स्त्रियाँ शासन करती थीं और उस समय वहाँ की शासिका हेराक्लीज की पुत्री पंडिया थी। वह कुशल प्रशासिका थी। उसके राज्य में 365 ग्राम थे जो नियमित रूप से कर एवं भेंटे देते थे।

चेरों का सर्वप्रथम उल्लेख संभवतः ऐतरेय आरण्यक में हुआ है। परवर्ती काल में चेर राज्य केरल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चेरों को 'वान-वन' तथा 'मलैयर' भी कहा गया है। कात्यायन (ई. पूर्व चैथी शताब्दी) के वातिक तथा अशोक के शिला लेख दो में पांड्यों एवं चोलों के साथ केरलों का भी उल्लेख हुआ है। रामायण एवं महाभारत में भी इसका वर्णन है। प्राचीन चेर राज्य का विस्तार पश्चिमी समुद्र-तटवर्ती क्षेत्र में कोंकण तथा दक्षिणी मलाबार तट तक था और इसमें उत्तरी ट्रावन्कोर, कोचीन तथा दक्षिणी मलाबार क्षेत्र शामिल थे। इस प्रकार चेर, पांड्य राज्य के उत्तर में पश्चिमी घाटों की पर्वत-शृंखला तथा समुद्र के मध्यवर्ती भूभाग के शासक थे।

प्रारंभिक शताब्दियों में चोल, पांड्य तथा चेर राज्यों के महत्वाकांक्षी शासक सुदूर दक्षिण की प्रभुसत्ता के लिए आपस में संघर्ष करते रहे और बारी-बारी से एक-दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए

1.3.7 बोध प्रश्न

1.3.7.1 लघुत्तरीय प्रश्न

1. चोल वंश की भौगोलिक सीमाएँ बताइए।
2. कारैकाल के विषय में आप क्या जानते हैं?
3. कारैकाल के उत्तराधिकारियों के नाम लिखिए।
4. पांड्य राजवंश के तीन चरण कौन से हैं?
5. गुंफा अभिलेख में क्या जानकारी उत्कीर्ण है?
6. मेगस्थनीज ने इंडिका में पांड्य राज्य के विषय में क्या लिखा है?

7. नेंडूजेलियन का परिचय दीजिए।
8. चेर वंश की भौगोलिक सीमाएँ बताइए।
9. सेंगुटटुवन के विषय में आप क्या जानते हैं?
10. चेर शासकों के नाम लिखिए।

1.3.7.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. प्रारंभिक चोल वंश का वर्णन कीजिए।
2. कारैकाल की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
3. प्रारंभिक पांड्य वंश का वर्णन कीजिए।
4. नेंडुजेलियन की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
5. प्रारंभिक चेर वंश का वर्णन कीजिए।
6. नेंदुजीरल की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
7. सेंगुटटुवन की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
8. चोल, पांड्य तथा चेर राज्यों के मध्य संबंधों की विवेचना कीजिए।

1.3.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शास्त्री, के.ए.एन.: हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया, ऑक्सफोर्ड, 1966
2. शास्त्री, के.ए.एन.: दि चोलाज, मद्रास, 1935
3. शास्त्री, के.ए.एन.: दि पांड्यन किंगडम, ऑक्सफोर्ड, 1956
4. शास्त्री, के.ए.एन.: दि सोर्सेज ऑफ साउथ इंडियन हिस्ट्री, बॉम्बे, 1964
5. शास्त्री, के.ए.एन.: दि फॉरेन नोटिसेज ऑफ साउथ इंडिया, मद्रास, 1939
6. यजदानी, जी. (सं.): अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेक्कन, भाग-1, लंदल, 1960
7. लॉ, बी.सी.: हिस्टोरिकल जिओग्रफी ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पेरिस, 1954
8. आइंगर, के.जी.एस.: चेरा किंग्स ऑफ दि संगम एज, मद्रास, 1937
9. आइंगर, एस.के: बिग्निंग्स ऑफ साउथ इंडियन हिस्ट्री, मद्रास, 1918
10. आइंगर, एस.के: एन्शियन्ट इंडिया एंड साउथ इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर, भाग-1, पूना, 1941
    भंडारकर, आर.जी.: अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेक्कन, बॉम्बे, 1894
11. चट्टोपाध्याय, एस.: सम अर्ली डायनेस्टीज ऑफ साउथ इंडिया, दिल्ली, 1974
12. महालिंगम, टी.वी.: कांचीपुरम इन अर्लीसाउथ इंडियन हिस्ट्री, मद्रास, 1969
13. मजूमदार, आर.सी.: क्लासिकल अकाउंट ऑफ इंडिया, कैलकटा, 1960

खंड-1 : मौर्योत्तर काल

इकाई-4 : संगम युग एवं साहित्य

इकाई की संरचना

1.4.1. उद्देश्य

1.4.2. प्रस्तावना

1.4.3. संगम कालीन तमिल राज्य

1.4.3.1. चेर राज्य

1.4.3.2. चोल राज्य

1.4.3.3. पांड्य राज्य

1.4.4. संगम कालीन संस्कृति

1.4.4.1. संगम साहित्य

1.4.4.1.1. प्रथम संगम

1.4.4.1.2. द्वितीय संगम

1.4.4.1.3. तृतीय संगम

1.4.4.2. संगम साहित्य के प्रमुख ग्रंथ

1.4.4.2.1. तोलकाप्पियम

1.4.4.2.2. सिलप्पदिकारम्

1.4.4.2.3. मणिमेकलै

1.4.4.2.4. जीवक चिंतामणि

1.4.4.3. संगम कालीन समाज

1.4.4.4. धार्मिक स्थिति

1.4.4.5. शासन प्रणाली

1.4.4.6. आर्थिक स्थिति

1.4.5. सारांश

1.4.6. अपनी प्रगति की जाँच करें प्रश्नों के उत्तर

1.4.7. बोध प्रश्न

1.4.8. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.4.1. उद्देश्य

इस इकाई के लेखन के उद्देश्य निम्नवत हैं–

1. संगम युग क्या है? इस तथ्य से अवगत कराना।
2. तीन संगम कौन से थे इसकी जानकारी प्रदान करना।
3. संगम युगीन तमिल राज्यों चेर, चोल एवं पांड्य से अवगत कराना।
4. संगम साहित्य पर प्रकाश डालना।
5. संगम युगीन संस्कृति के मूलभूत तथ्यों की जानकारी प्रदान करना।

1.4.2. प्रस्तावना

सुदूर दक्षिण भारत की प्रमुख शक्तियाँ चेर, चोल एवं पांड्य आदि राज्यों के बारे में जानकारी का प्रमुख स्रोत साहित्य है। संगम युग के ये तीनों ही राज्य तमिल प्रदेश के अंतर्गत आते थे। उत्तर-पूरब में चोल, दक्षिण-पश्चिम में चेर तथा दक्षिण-पूरब में पांड्यों का राज्य स्थित था। तत्कालीन तमिल राजनीति में प्रमुखतः इन्हीं तीन राज्यों का विशेष महत्व है। इन राज्यों में विविध राजाओं के शासनकाल का स्पष्ट तिथि निर्धारण संभव न होने पर भी संगम साहित्य से कृष्णा नदी के दक्षिण में तमिल प्रदेश (सुदूर प्रायद्वीप) तक राजनीतिक गतिविधि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। संभवतः ई.पू. प्रथम सदी तक ये तीनों राज्य अस्तित्व में आ चुके थे। कलिंग राज खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने शासन काल के ग्यारहवें वर्ष में दक्षिण की ओर जाकर तमिल संघ का भेदन किया। (भिदनि-त्रमिर-दह-संघात)। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेल का सामना करने के लिए सुदूर दक्षिण के तमिल राजाओं ने कोई संघ बना लिया था, जिसे खारवेल ने नष्ट कर दिया। ये तीनों तमिल राज्य संभवतः चेर, चोल एवं पांड्य ही रहे होंगे। मगर इससे भी पहले मेगास्थनीज ई.पू. चौथी सदी में पांड्यों के राज्य का उल्लेख करता है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक (पुरातात्विक एवं साहित्यिक) स्रोतों के अतिरिक्त संगम कवियों ने इन तीन बड़े राज्यों को प्राचीनता एवं सम्मानित परंपरा प्रदान करने के उद्देश्य से इनका संबंध महाभारत के कौरव-पांडव युद्ध से जोड़ा है, किंतु बिना किसी ठोस एवं प्रमाणित साक्ष्य के हम इन कवियों की कल्पना को प्रामाणिक नहीं मान सकते। चूँकि इन राज्यों का विवरण विभिन्न ग्रंथों में चेर-चोल-पांड्य क्रम में मिलता है, हम इससे यह अनुमान लगा सकते हैं कि चेर राज्य संगमकालीन राज्यों में सबसे प्राचीन होगा।

1.4.3. संगम कालीन तमिल राज्य

1.4.3.1. चेर राज्य (The Chera's)

चेर राज्य पश्चिमी तमिलकम अर्थात् आधुनिक उत्तरी त्रावणकोर, कोचीन तथा दक्षिणी मालाबार के क्षेत्र में विस्तृत था। संगम कवियों ने चेर राज्य की प्राचीनता को महाभारत के युद्ध से जोड़ने का प्रयास किया है, जो मात्र कवियों की कल्पना ही है। चेरों की राजधानी पणजी थी। अशोक के शिलालेखों में चेर राज्य को 'केरल पुत्र' कहा गया है। चेर राज्यों के शासक चोल-पांड्य संघर्ष में कभी चोलों के साथ रहे तो कभी पांड्यों के साथ।

संगमकालीन प्रथम ऐतिहासिक चेर शासक उदियनजेरल (लगभग 130 ई.) हुआ, जिसकी राजधानी मरंदै थी। संगमकालीन कवियों के अनुसार इस शासक ने महाभारत युद्ध में भाग लेने वाले सभी योद्धाओं को भोजन कराया था। मगर यह कथन कपोल कल्पित है। उदियनजेरल को बरामभन एवं पेरूनजोरम उदियन भी कहा जाता था। वह कवि परणर का समकालीन था जो संगम काल का सर्वाधिक समय तक जीवित रहने वाला कवि था एवं परणर उत्तरी हिमालय अभियान के नेतृत्व कर हिमालय तक पहुँचा था। इसके अतिरिक्त उदियनजेरल के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती।

उदियनजेरल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नेदुनजेरल आदन (लगभग 155 ई.) हुआ। उसने मालाबार तट पर किसी शत्रु को नौसैनिक युद्ध में पराजित करके कुछ यवन व्यापारियों को बंदी बनाया, बाद में उनसे अधिकाधिक धन प्राप्त कर उन्हें छोड़ दिया। यहाँ यवनों से तात्पर्य संभवतः रोम तथा अरब के व्यापारियों से है। एक अनुश्रुति के अनुसार इसने सैनिकों के साथ शिविर में रहकर कई वर्षों तक युद्ध करके एक 'अभिषिक्त शासक' को हराकर 'अधिराज' की उपाधि धारण की। इसने मुकुटधारी राजाओं के साथ (सात राजाओं) लड़ाइयाँ जीतीं और इसी कारण 'अधिराज' कहलाया, कुछ विद्वानों का यह मत है

कि इसे संगम साहित्य में 'श्रमयवरंबन' (अर्थात् जिसकी सीमा हिमालय तक हो) कहा जाता है। यह उपाधि उसके इस दावे को प्रकट करती है कि उसने सारे भारत को जीत लिया था तथा हिमालय पर चेर राजवंश के राजचिह्न 'धनुष' को उत्कीर्ण किया। यह निश्चित ही काव्य एवं कल्पनात्मक अतिशयोक्ति है। इसकी राजधानी का नाम 'मरंदै' था। अपने समकालीन चोल राजा के साथ उसका युद्ध हुआ एवं इस युद्ध में दोनों ही राजा मारे गए और दोनों की ही रानियाँ सती हो गईं

आदन के दो भिन्न रानियों से दो पुत्र थे। इनमें से एक 'कलंगाय माला तथा तंतु मुकुट वाला चेर' के नाम से प्रसिद्ध था एवं दूसरा पुत्र सेंगुट्टूवन(Senguttuvan) अर्थात् न्यायपारायण गुट्टुवन (180 ई.)। संगमकालीन सर्वदीर्घजीवी कवि परनार या परनर ने अपने गीतों में इसका भी यशगान किया है। सेनगुट्टुवन को लाल चेर (अच्छा चेर) भी कहा गया है। वह घुड़सवारी, हाथी की सवारी तथा दुर्ग की घेरेबंदी में कुशल था। परनर ने इसके समुद्री अभियान का उल्लेख किया है। वह एक वीर योद्धा एवं कुशल सेनानायक था, उसने भी 'अधिराज' उपाधि धारण की थी। उसने पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र के बीच अपना राज्य विस्तृत किया था। वह साहित्य और कला का उदार संरक्षक था।

सेंगुट्टुवन (Senguttuvan) यद्यपि एक महान विजेता था, परंतु चेर इतिहास में उसका नाम 'कण्णगी' पूजा प्रारंभ करने के लिए जाना जाता है। 'कण्णगी' का अर्थ होता है पत्नी अर्थात् एक आदर्श तथा पवित्र पत्नी को देवी रूप में मूर्ति बनाकर पूजा जाना। कहा जाता है कि लाल चेर ने इस मूर्ति का पत्थर किसी आर्य राजा को युद्ध में हराकर प्राप्त किया तथा गंगा नदी में स्नान कराने के बाद उसे अपनी राजधानी ले आया था।

सेंगुट्टुवन का पुत्र पेरुंजेरल इरंपोरई (लगभग 190 ई.) भी महान विजेता था। इसके विरुद्ध सामंत आदिगइमान ने चोल तथा पांड्य राज्यों को मिलाकर एक मोर्चा तैयार किया, किंतु इस संयुक्त मोर्चे को मुँह की खानी पड़ी। कालांतर में आदिगइमान उसका मित्र बन गया। आदिगइमान को नडुमान अंजी भी कहा जाता है। एक अनुश्रुति के अनुसार दक्षिण में गन्ने की खेती आरंभ करने का श्रेय आदिगइमान को ही दिया जाता है।

चेर वंश का अगला राजा कुडक्को इलंजेराल इरंपोरई (190 ई.) हुआ। इसने चोल तथा पांड्यों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। संगमकालीन अंतिम चेर शासक गजमुखशीय(हाथी की आँख वाला शीश) था। इसकी उपाधि मांदरंजेरल इरंपोरई (210 ई.) थी। उसके समकालीन पांड्य शासक नेडुंजेलियन ने उसे पराजित कर चेर राज्य की स्वाधीनता का लगभग अंत कर दिया।

1.4.3.2. चोल राज्य (The Chola's)

सुदूर दक्षिण भारत के राज्यों में चोल राज्य सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली था। यह राज्य पूर्वी तमिलनाडु में 'पेन्नार' तथा दक्षिणी 'वेलार' नदियों के मध्य स्थित था। चोलों की प्रारंभिक राजधानी उत्तरी मनलूर थी, बाद में उरैयूर (जो कपास के लिए प्रसिद्ध था) तथा तंजाबूर भी राजधानियाँ बनीं। कात्यायन ने चोलों का उल्लेख किया है। इनका प्रतीक चिह्न बाघ था। चोल राज्य को चोलमंडलम् या कोरोमंडल कहा जाता था।

चोलों का ही नहीं अपितु संगम काल का भी सबसे प्रमुख एवं महत्वपूर्ण शासक'कारैकाल' (190 ई.) था। कारैकाल के पिता 'अनेक सुंदर रथों वाला' इलनजेतचेन्नी एक वीर राजा एवं प्रतापी योद्धा थे। 'कारैकाल' नाम का अर्थ है वह व्यक्ति, जिसके पैर झुलसे हों। बचपन में इसके पैर एक दुर्घटना स्वरूप जल गए थे, शायद इसीलिए नाम कारैकाल पड़ा। एक और अनुश्रुति के अनुसार, ''कारैकाल को संस्कृत का एक सामासिक शब्द भी माना गया है, जिसका अर्थ होता है 'करि' के लिए मृत्यु अर्थात् 'शत्रु

(हाथियों) के लिए मृत्यु'। पत्त पाट्ट (दस ग्रामीण गीत) में चोल राजधानी कावेरीपट्टनम पर एक लंबी कविता में कवि ने बतलाया है कि अपने जीवन के प्रारंभिक काल में कारैकाल को सिंहासनाच्युत करके बंदी बना लिया गया था।'' जिस साहस के साथ वह जेल से निकल आया तथा पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ, वह उसके साहस का प्रतीक है। 190 ई. के लगभग कारैकाल ने अपने समस्त शत्रुओं को हराकर अपने राज्य पर अधिकार स्थापित किया। अपने शासन काल के प्रारंभ में वेण्णि (तंजौर से 15 मील दूर, आधुनिक कोविल वेण्णि) नामक स्थान पर कारैकाल ने अपने समकालीन चेर-पांड्य राजाओं सहित उनके सहयोगी ग्यारह सामंत राजाओं के एक संघ को भी पराजित किया। पांड्य तथा चेर शासकों का यश धूल में मिल गया। इस प्रकार कारैकाल ने काफी बड़े शत्रु संघ का अंत कर ख्याति अर्जित की। कारैकाल द्वारा प्राप्त इस ख्याति का यशोगान कई संगमकालीन कवियों ने किया।

कारैकाल की दूसरी बड़ी सफलता थी वाहैप्परन्दलइ के युद्ध में 9 छोटे-छोटे राजाओं को परास्त करना। इसके कारण अन्य राजाओं के साथ-साथ पांड्य राजा भी कारैकाल से भयभीत हो गए। इन विजयों का सर्वप्रमुख फल यह हुआ कि कारैकाल ने कावेरी नदी-घाटी में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

कारैकाल वास्तव में एक महान प्रतापी साम्राज्य निर्माता था, परंतु तत्कालीन कवियों ने कारैकाल की उपलब्धियों का अतिश्योक्तिपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कारैकाल ने हिमालय तक सैनिक अभियान किया तथा वज्र मगध और अंवति राज्यों को जीत लिया। इसी प्रकार कुछ अनुश्रुतियों में उसकी सिंहल विजय का वृतांत मिलता है। कुछ अनुश्रुतियाँ यह भी बतलाती हैं कि कारैकाल ने सिंहल से 12,000 युद्ध-बंदियों को लाकर पुहार के समुद्री बंदरगाह के निर्माण में लगा दिया था। मगर इन विवरणों में कवि की कल्पना अधिक है, इतिहास के तथ्य कम। अतः उन्हें हम प्रामाणिक नहीं मान सकते।

कारैकाल ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था तथा उसने इस धर्म को प्रश्रय भी दिया, उसने अनेक वैदिक यज्ञ भी किए। विद्वान होने के साथ-साथ उसने दरबार में विद्वानों को आश्रय भी दिया। स्थापत्य के क्षेत्र में भी उसने तृतीय राजधानी पुहारपत्तन (आधुनिक कावेरी पतनम) का निर्माण कराया। इसके अतिरिक्त उसने सिंचाई की उत्तम व्यवस्था हेतु कावेरी नदी के मुहाने पर160 किमी. लंबा बाँध बनवाया, जिसके जल का उपयोग सिंचाई कार्य में लिया जाता था। इस उद्देश्य से उसने नहरों का भी निर्माण कराया था। उसके समय कृषि के साथ-साथ उद्योग-धंधों एवं व्यापार का भी विकास हुआ। अतः निःसंदेह कारैकाल एक महान विजेता, लोकहितकारी, प्रजा वत्सल शासक था। वह चोल शासकों में महानतम था।

कारैकाल के पश्चात् चोल राज्य पर अधिकार हेतु कारैकाल के पुत्र नलन्गिल्लि तथा नेडुंजेलि के बीच एक लंबा गृह-युद्ध छिड़ा। अंततः कारियारू के युद्ध में नलन्गिल्लि पराजित हुआ तथा मार डाला गया। इस युद्ध का विवरण संगम ग्रंथ मणिमैक्कलै से मिलता है।

इनके पश्चात् के चोल राजाओं की उपलब्धियाँ नगण्य थीं। कोप्पेरूलोमन नामक शासक ने गृह कलह से तंग आकर आत्मदाह कर लिया था। पेरूनरकिल्ल नामक शासक ने राजसूय यज्ञ किया था। कोच्चेगनान या शेण्गणान शैव मतानुयायी था, साथ ही उसने सात मंदिरों का भी निर्माण कराया था। एलारा नामक शासक ने श्रीलंका को विजित किया था, परंतु इन सभी की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। उपर्युक्त सभी उपलब्धियाँ कवि की कल्पना भी हो सकती हैं। संगमयुगीन शासकों में चोल शासकों ने तीसरी-चौथी सदी तक शासन किया। तत्पश्चात् उरैयूर के चोल वंश का इतिहास 9वीं शताब्दी तक अंधकारमय हो जाता है, जबकि विज्यालय के नेतृत्व में पुनः चोल वंश का पुनउत्पाद या पुनरुत्थान हुआ था।

1.4.3.3. पांड्य राज्य(Pandaya's State)

संगमयुगीन राज्यों में तीसरा प्रमुख राज्य पांड्यों का था। इस राज्य का सर्वप्रथम उल्लेख मेगास्थनीज ने किया है। अशोक के शिलालेख में भी पांड्य राज्य का उल्लेख मिलता है। कलिंग राज खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में भी पांड्यों के विरुद्ध खारवेल के अभियान का उल्लेख मिलता है। अतः चोल एवं चेरों की तुलना में हमें प्राचीनकालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों में पांड्यों का उल्लेख कहीं अधिक मिलता है। इसके बावजूद भी हमें पांड्यों के इतिहास को जानने के लिए मुख्यतः संगम साहित्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

पांड्य राज्य भारतीय प्रायद्वीप के सुदूर दक्षिण तथा दक्षिण-पूरब भाग में फैला था। इसमें आधुनिक मदुरा तथा तिन्नवेल्ली के जिले और त्रावणकोर का कुछ भाग शामिल था। इनकी राजधानी मदुरा थी। इनका प्रतीक चिह्न मछली था।

चेर एवं चोलों की ही तरह संगम साहित्य में पांड्यों के विषय में जो विवरणदिया गया है, वह काफी भ्रामक है। अतः इनका वैज्ञानिक प्रविधि से तथ्यपरक विश्लेषण करके ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। पांड्य वंश का प्रथम महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली राजा'नेडुंजेलियन (Nedunjeliyan)' (290 ई.) हुआ। पूर्ववर्ती तीन राजाओं के नाम भी हमें संगम साहित्य से प्राप्त होते हैं। जो नेडियोन, पलशालइ (पलशालै उपाधि), मुदुक्कुडुमी तथा नेडुंजेलियन थे, परंतु इनके शासन काल एवं उपलब्धियों के बारे में कुछ भी पता नहीं चलता।

नेडियोन ने समुद्र पूजा आरंभ की। नेडुंजेलियन ने रोमन सम्राट आगस्टस के दरबार में अपना दूत भेजा था। मेगास्थनीज ने बताया कि पांड्य राज्य पर 'हेरावल' की पुत्री का शासन था एवं यह राज्य मंत्रियों के लिए प्रसिद्ध था।

नेडुंजेलियन के शासनकाल में प्रारंभ में ही, चेर और चोल तथा पाँच अन्य राजाओं ने मिलकर उसके राज्य को जीता तथा राजधानी मदुरा पर घेरा डाल दिया। इन विपरीत परिस्थितियों में साहस का परिचय देते हुए नेडुंजेलियन ने अपने शत्रुओं को राजधानी से खदेड़ दिया और उनका पीछा किया तथा पीछा करते हुए चोल राज्य की सीमा में घुस गए, जहाँ 'तलैयालंगानम्' (तंजौर जिला) के युद्ध में चेर, चोल एवं अन्य पाँच राजाओं को परास्त किया। इस युद्ध को जीतने से इसकी ख्याति में आशातीत वृद्धि हुई। चेर शासक गजमुखशीय को उसने बंदी बनाकर अपने कारागार में डाल दिया। नेडुंजेलियन नेमिललै तथा मुत्तरु नामक दो प्रदेशों पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अत्यंत अल्पकाल में नेडुंजेलियन ने न केवल अपने पैतृक राज्य को सुरक्षित किया वरन् उसका विस्तार भी किया।

मदुरा तथा पांड्य देश के संबंध में'मदुरै काँजी' नामक रचना में नेडुंजेलियन के कुशल शासन का हमें विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। नेडुंजेलियन ने किसान एवं व्यापारियों के हित में अनेक कार्य किए। वह स्वयं एक कवि था तथा विद्वानों को उसने आश्रय भी दिया। उसका शासनकाल 210 ई. था। वह वैदिक धर्म का पोषक था तथा उसने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान कराया था। उसकी राजधानी तत्कालीन भारत की अत्यंत प्रसिद्ध व्यापारिक एवं सांस्कृतिक नगरी बन गई थी।

चोलों की तरह ही नेडुंजेलियन के पश्चात् कुछ वर्षों के लिए पांड्य राज्य का इतिहास अंधकारपूर्ण हो जाता है। इसके पश्चात् सातवीं शताब्दी में पांड्य सत्ता का पुनः उत्कर्ष होता है।

अपनी प्रगति की जाँच करें–

प्रश्न क्र. 1. चेरों की राजधानी कहाँ थी?

प्रश्न क्र. 2. संगम कालीन अंतिम चेर राजा कौन था?

प्रश्न क्र. 3. इलनजेतचेन्नी चीन कौन था?

प्रश्न क्र. 4. पांड्यों की राजधानी कहाँ थी।

प्रश्न क्र. 5. कण्णगि पूजा का क्या अर्थ है एवं यह किसने आरंभ की थी?

1.4.4. संगम कालीन संस्कृति(Culture of Sangam Age)

संगम साहित्य संगमकालीन संस्कृति को जानने का प्रमुख स्रोत है। जिस समय उत्तर भारत में ऐतिहासिक काल चल रहा था, उसी समय सुदूर दक्षिण में महापाषाणकालीन संस्कृति का विकास हो रहा था। सुदूर दक्षिण में जो लोग बसते थे, उन्हें इतिहास में महापाषाण निर्माता कहा गया है, क्योंकि ये लोग वस्तुतः अपनी-अपनी वास्तविक बस्तियों के कारण नहीं जाने जाते थे, बल्कि उन कब्रों के कारण जाने जाते थे, जिन्हें महापाषाण कहा जाता था।

अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित चेर, चोल, पांड्य वंश संभवतः भौतिक संस्कृति के उसी युग में हुए थे। काले और लाल मृदभांड इनकी प्रमुख सांस्कृतिक पहचान थी। प्रत्यक्षतः शवों के साथ वस्तुओं को कब्रों में दफनाने की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियाँ अपने पति की मृत्यु के बाद चावल का पिंडदान करती थीं।

संगम साहित्य से स्पष्ट है कि संगम युग के लोग एक उच्च संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते थे। किसी भी स्थान की संस्कृति मूलतः वहाँ की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है।

1.4.4.1. संगम साहित्य (Sangam Literature)

तमिल भाषा का प्राचीनतम साहित्य, जिससे कि हमें सुदूर दक्षिण भारत का क्रमबद्ध इतिहास ज्ञात होता है 'संगम साहित्य' कहलाता है। संगम का अर्थ संघ, परिषद अथवा गोष्ठी होता है। वस्तुतः संगम तमिल कवियों, विद्वानों, आचार्यों ज्योतिषियों तथा अन्य बुद्धिजीवियों की एक परिषद थी, जिसे हम आधुनिक अकादमी या विद्वत परिषद मान सकते हैं। प्रत्येक कवि अथवा लेखक अपनी रचनाओं को संगम के समक्ष प्रस्तुत करता था तथा इस परिषद की स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद ही किसी भी रचना का प्रकाशन संभव था। पांड्य शासकों के संरक्षण में कुल तीन संगम आयोजित किए गए, जिनमें संकलित साहित्य को ही संगम साहित्य कहा गया। प्रो. राम शरण शर्मा के अनुसार संगम साहित्य के संकलन की तिथि 300-600 ई. थी।

1.4.4.1.1. प्रथम संगम

आयोजन स्थल	-	मदुरै (पांड्यों की प्राचीन राजधानी जो अब समुद्र में विलीन हो गई है)।
अध्यक्ष	-	इस संगम के अध्यक्ष अगस्त्य ऋषि (अगत्तियवार) थे।
सदस्य	-	इसमें कुल 549 सदस्य सम्मिलित हुए।
रचनाएँ	-	कुल 4,499 लेखकों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर प्रकाशन की अनुमति प्राप्त की।
अवधि	-	4,400 वर्ष।

संरक्षक - पाण्ड्वंशीय 89 राजाओं ने संरक्षण प्रदान किया।
मानक ग्रंथ - इस संगम द्वारा संकलित महत्वपूर्ण ग्रंथ अकट्टियम्, परिपदाल, मुदुकुरूकु तथा कलिदआवरै थे।
उपलब्ध ग्रंथ - इनमें से वर्तमान में कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

1.4.4.1.2. द्वितीय संगम

आयोजन स्थल - कपातपुरम (अलैवाई) (समुद्र में विलीन)।
संस्थापक सदस्य - अगस्त्य।
कार्यकारी अध्यक्ष - तोल्लकापियर।
सदस्य - 49 सदस्य सम्मिलित हुए।
संरक्षक - इस संगम को 59 पांड्य शासकों का संरक्षण मिला।
रचनाएँ - 3,700 कवियों ने अपनी रचनाओं के प्रकाशन की अनुमति प्राप्त की
अवधि - यह 3,700 वर्ष तक चला।
मानक ग्रंथ - अंकत्रियम, तोल्लकापियम्, मापुरानम, भूतपुरानम, केलि, कुस्कु, वेंढालि तथा न्यालमलय इत्यादि इस संगम द्वारा प्रमुख संकलित ग्रंथ थे।
उपलब्ध ग्रंथ - तोलकप्पियम (एक तमिल व्याकरण ग्रंथ)।

1.4.4.1.3. तृतीय संगम

आयोजन स्थल - उत्तरी मदुरा।
अध्यक्ष - नक्कीरर।
सदस्य - 49
संरक्षक - 49 पांड्य शासक।
प्रस्तुत रचनाएँ - 449
अवधि - 1,850 वर्ष।
प्रमुख विद्वान - ऊरैयनार, कपिलर, परनट, सीतलै सत्तनार, उद्र (पांड्य शासक)।

मानक ग्रंथ :- यद्यपि इनमें से अधिकांश ग्रंथ नष्ट हो गए हैं। आज जो तमिल साहित्य उपलब्ध है, वह सभी इसी संगम से संबंधित है

इन उपर्युक्त तीनों संगमों की कुल अवधि 9,990 वर्ष मानी जाती है।

1.4.4.2. संगम साहित्य के प्रमुख ग्रंथ

पांड्य शासकों के संरक्षण में होने वाले तीनों संगमों के अधिकांश ग्रंथ नष्ट हो चुके हैं। तोल्लकापियम् सहित तीसरे संगम के अवशिष्ट सभी ग्रंथों का संपादन एवं प्रकाशन निम्नेवेल्ली की 'साउथ इण्डिया शैव सिद्धांत पब्लिशिंग सोसायटी, तिन्नेवल्ली' द्वारा किया गया है। उपलब्ध संगम साहित्य का विभाजन तीन भागों में किया जा सकता है।

(1) पत्त पाट्ट (दस संक्षिप्त गीत)- यह दस संक्षिप्त पदों का संग्रह है जो निम्नानुसारहैं।

	गीतपद	**रचयिता**
(1)	तिरुमुरूलात्रुप्पदै	नक्कीरर
(2)	तेडुनलवाडै	नक्कीरर
(3)	पेरंपनत्रुप्पैरै	रुद्रन कन्नार
(4)	पट्टिनप्पालै	रुद्रन कन्नार
(5)	पोरुनरात्रुपादै	कन्नियार
(6)	मदुरैकाँची	माँगुदि मरुदनार
(7)	सिरुपानात्रुप्पदै	नथ्थथनार
(8)	मूल्लैप्पानुर	नपुथनार
(9)	कुरूंजिप्पांतु	कपिलर
(10)	मलैपडुक्कराम	कौशिकनार

(2) एट्टत्तोकै (अष्ट पदावली)- एट्टत्तोकै में आठ कविताओं का संग्रह है। इनमें संगम युगीन राजाओं की नामावली के साथ-साथ तत्युगीन जन-जीवन एवं आचार-विचार का विवरण भी प्राप्त होता है। ये प्राचीनतम तमिल साहित्य की सर्वोत्तम रचनाएँ हैं। इस संग्रह में 102 अज्ञात लेखों के अतिरिक्त महिला कवयित्रियों सहित 473 कवियों द्वारा विरचित 2,289 कविताएँ हैं।

(3) पटिनेडिकल पट्टिनेनकील कणक्कु (अठारह लघु उपदेश गीत)- ये 18 लघु कविताओं का संग्रह है, जो सभी उपदेशात्मक हैं। इनमें तिरुवल्लूर कृत कुराल सर्वश्रेष्ठ है। इसे तमिल साहित्य का एक मुख्य ग्रंथ माना जाता है। इसके प्रमुख विषय त्रिवर्ग् आचारशास्त्र, राजनीति, आर्थिक जीवन एवं प्रणय से संबंधित हैं। 'कुराल' का रचयिता तिरुवल्लूर कौटिल्य, मनु, कात्यायन आदि के विचारों से प्रभावित लगता है। कुराल में कुल 133 खंड हैं। इतिहासकार नीलकंठ शास्त्री इसका रचना काल ई. सन् की पाँचवीं शताब्दी बताते हैं।

1.4.4.2.1. तोलकाप्पियम (Tolkappiyam)

यह द्वितीय संगम का एकमात्र उपलब्ध ग्रंथ है, इसकी रचना तोलकाप्पियर **(Tolkappiyar)** द्वारा की गई, जो कि अगस्त्य ऋषि के 12 शिष्यों में से एक थे। कुछ विद्वान इसे तीसरी शताब्दी ई.पू. की रचना मानते हैं एवं कुछ विद्वानों के अनुसार यह ईपू. पाँचवीं शताब्दी की रचना है। इसकी भाषिक रचना कुछ अविकसित-सी एवं शैली अन्य संगमकालीन रचनाओं से भिन्न है। इसकी रचना सूत्र शैली में की गई। व्याकरण के साथ-साथ यह एक उच्च कोटि का काव्यशास्त्र का भी ग्रंथ है।

संगमयुगीन समाज की भी जानकारी इससे मिलती है, यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की नियमावली भी है परंतु मूलतः यहएक व्याकरण ग्रंथ है।

महाकाव्य

संगम युग के पाँच प्रमुख महाकाव्य हैं। यद्यपि ये महाकाव्य संगम साहित्य के अंतर्गत नहीं आते तथापि इनसे तत्कालीन जन-जीवन के विषय में यथेष्ट जानकारी मिलती है। ये पाँच महाकाव्य निम्न हैं-

1. सिलप्पदिकारम् (नुपुर की कहानी) रचनाकार– इलांगो आदिगल।
2. मणिमेकलै (कोवलन, माधवी की पुत्री) रचनाकार– सीतलै शत्तनार।
3. जीवक चिंतामणि– रचनाकार तिरुत्तक्कदेवर (जैन भिक्षु)।
4. वलय पलि
5. कुंडलकेशि

रचनाकार अज्ञात

इन पाँच महाकाव्यों में से अंतिम दो के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। प्रथम तीन ही उपलब्ध भी हैं एवं महत्वपूर्ण भी। इनका विवरण निम्नवत है-

1.4.4.2.2. सिलप्पदिकारम् (Silappadikaram)

पाँच महाकाव्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'सिलप्पदिकारम्' तमिल साहित्य का उत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। इसके रचनाकार इलांगो आदिगल थे। इस महाकाव्य की विषय-वस्तु एक लोकप्रिय कथा पर आधारित है, जिसके अनुसार पुहार (कावेरीपट्टन) नगर के एक समृद्ध व्यापारी का पुत्र कोवलन एक अन्य व्यापारी की लड़की कण्णगि से विवाह करता है, परंतु कालांतर में राजदरबार की नर्तकी माधवी के प्रेमपाश में पड़कर वह अपनी पत्नी को भुला बैठता है तथा अपना सारा धन यहाँ तक कि पत्नी के समस्त आभूषण भी उस पर लुटा बैठता है। बाद में नर्तकी माधवी द्वारा ठुकराए जाने पर वह पश्चाताप करता हुआ अपनी पत्नी (कण्णगि) के पास लौटता है। उस समय कण्णगि के पास मात्र एक पायल का जोड़ा शेष बचा हुआ था, वह उसे सहर्ष कोवलन को सौंप देती है। कोवलन उनमें से एक पायल बेच कर जीविकोपार्जन हेतु सपत्नीक मदुरा आ जाता है। मदुरा पहुँचकर कोवलन पायल बेचने बाजार जाता है, उसी समय सुनार के षड्यंत्र से वहाँ की रानी की एक पायल चोरी चली जाती है। राजा के नौकर कोवलन के पास पायल देखकर उसे पकड़कर राजा के पास ले जाते हैं। राजा बिना किसी अभियोग के उसे फाँसी पर चढ़ा देता है। कण्णगि अपने पति को निर्दोष साबित करने के लिए दूसरी पायल राजा को दिखाती है। राजा को तब अपने किए पर पश्चाताप होता है और आत्मग्लानि से राजा की मृत्यु हो जाती है। तत्पश्चात् अपनी क्रोधाग्नि से कण्णगि ने मदुरा को भस्म कर दिया तथा चेर राज्य में चली गई। वहीं एक पहाड़ी पर उसकी मृत्यु हो गई। स्वर्ग में पुनः पति-पत्नी का मिलन हुआ और मृत्यु के पश्चात् कण्णगि की प्रतिष्ठा तमिल समाज में 'सतीत्व' की देवी के रूप में हुई, उसके सम्मान में मंदिर बनवाए गए तथा 'कण्णगि' की पूजा की जाने लगी। संभवतः चेर शासक सेंगुट्टुवनने यह कण्णगि पूजा आरंभ की थी।

सिल्प्पदिकारम् तमिल जनता में एक राष्ट्रीय काव्य के रूप में जाना जाता है। इस महाकाव्य को प्रो. मेहण्डाले ने तमिल काव्य का इलियड कहा है। नीलकंठ शास्त्री के शब्दों में, ''यह रचना अनेक अर्थों में संपूर्ण तमिल साहित्य में अनुपमेय (जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती) है और इसमें दृश्यों का जैसा सुस्पष्ट चित्रण है तथा छदों का जैसा दक्षतापूर्ण प्रभाव है, वैसा अन्य किसी रचना में नही मिलता।''

1.4.4.2.3. मणिमेकलै (Manimekalai)

यह एक बौद्ध काव्य है, जिसमें कोवलन एवं नर्तकी माधवी की पुत्री मणिमेकलै की जीवन गाथा है। इसका रचनाकार सीतलै सत्तनार मदुरा का एक व्यापारी था, जो बौद्ध था। इस महाकाव्य पर सिलप्पदिकारम् का प्रभाव देख जा सकता है, क्योंकि उसके नायक कोवलन की ही पुत्री मणिमेकलै की ये जीवन गाथा है। इसके अनुसार, 'माधवी (नर्तकी) अपने पूर्व प्रेमी कोवलन की मृत्यु का समाचार

सुनकर बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। उधर राजकुमार उदयकुमारन् मणिमेकलै पर आसक्त हो उसे पाने का प्रयत्न करता है, परंतु मणिमेकलै चमत्कारिक ढंग से अपने सतीत्व की रक्षा करती है। अंततः वह भी अपनी माता माधवी के समान बौद्ध धर्म ग्रहण कर बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। यह मूलतः एक धार्मिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ की कहानी दार्शनिक एवं शास्त्रार्थ संबंधी बातों के लिए बनाई गई है। इसमें तर्कशास्त्र की भ्राँतियों की लंबी व्याख्या है। इसमें मणिमेकलै भली-भाँति अनुभव करती है कि मानव प्रेम का क्षेत्र सीमित है, अतः वह स्वयं को बुद्ध धम्म और संघ को अर्पण कर भिक्षुणी बन जाती है। इसीलिए प्रो. मेहण्डाले ने इस महाकाव्य को तमिल काव्य का 'ओडिसी' माना है। यह एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें संगमयुगीन ललित कला के विकास का भी वर्णन किया गया है। नीलकंठ शास्त्री महोदय इस ग्रंथ को स्पष्टतः पाँचवी शताब्दी की एक कृति दिड़नाग के न्याय प्रवेश पर आधारित मानते हैं।

1.4.4.2.4. जीवक चिंतामणि (Jivak Chantamani)

यह संगम काल के काफी बाद की रचना है। इसकी रचना जैन भिक्षु तिरुत्तक्केदेवर ने की थी। यह एक आदर्श नायक की जीवन गाथा है, जो युद्ध और शांति दोनों ही कलाओं में पारंगत है। यह एक संत भी है और कुशल प्रेमी भी। अपने तूफानी यौवन में काव्य के नायक 'जीवक' ने अनेक साहसिक कार्य किए और अंततोगत्वा एक बड़े साम्राज्य का सम्राट बना। इस काव्य का दूसरा नाम 'मण-नूल' (विवाह की पुस्तक) भी है, क्योंकि इसमें जीवक के प्रत्येक साहसिक कार्य का, जिसका अंत एक सुखद विवाह में होता है, वर्णन है। प्रत्येक सैनिक अभियान में 'जीवक' अपने लिए एक रानी लाता है तथा इस प्रकार आठ पत्नियों के साथ आनंद का जीवन व्यतीत करता है। 'जीवक' के इस आनंदात्मक जीवन में एक छोटी-सी घटना ज्वार के समान आती है और उसे एक क्षण में मानव जीवन का खोखलापन उजागर हो जाता है। अंततोगत्वा समस्त सांसारिक माया-मोह त्याग अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर वह वन चला जाता है। वहाँ से मुक्ति प्राप्त होती है।

कहा जाता है कि इस महाकाव्य का लेखक पहले एक चोल राजकुमार था, बाद में जैन भिक्षु बन गया था। उसने यह महाकाव्य लिखकर अपने गुरु को संतुष्ट किया। वस्तुतः यह महाकाव्य लिखने का प्रयोजन यह था कि तिरुत्तक्कदेवर इस काव्य द्वारा इस चुनौती का जवाब देना चाहता था कि ''जैन कवि यद्यपि धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त कर सके हैं पर प्रेम साहित्य में उनका कोई योगदान नहीं है।''

अपने वर्तमान रूप में जीवक चिंतामणि में 3,154 छंद हैं, जिनमें से केवल 2,700 ही मूल कवि द्वारा रचित बताए जाते हैं। दो छंद उसके गुरू द्वारा रचित हैं। जिनकी अनुमति से यह महाकाव्य लिखा गया, शेष छंद कालांतर में किसी अन्य कवि द्वारा लिखे गए। वस्तुतः इस महाकाव्य में जन्म से लेकर मोक्ष तक आत्मा की यात्रा का अति सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। नीलकंठ शास्त्री महोदय इस काव्य का काल दसवीं शताब्दी ई. निर्धारित करते हुए लिखते हैं कि ''तिरुत्तक्कदेवर की कला में महान कविता के सभी गुण हैं और जैसा कि भली-भाँति विदित है, उसने कंबन जैसे प्रतिभावान लेखक को अपनी शैली निर्धारित करने की प्रेरणा दी।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त संगमकालीन साहित्य तत्युगीन इतिहास एवं संस्कृति का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है। उस समय धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक एवं व्याकरण इत्यादि सभी प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक उत्तर एवं दक्षिण की संस्कृतियों का समन्वय हो चुका था। श्री निवास आयंगर महोदय इन तीनों संगमों की अवधि ईपू. 500 से 500 ई.

तक लगभग 1000 वर्ष निर्धारित करते हैं, परंतु तिथि को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। संभवतः इनकी रचना प्रथम शताब्दी ई. से लेकर तीसरी शताब्दी ई. के मध्य में की गई थी।

1.4.4.3. संगम कालीन समाज

संगम साहित्य से हमें संगम कालीन समाज की जानकारी मिलती है।

वर्ण एवं जाति व्यवस्था– संगम कालीन समाज चार वर्णों में विभाजित था-

1. अरसर (शासक वर्ग)
2. अंडनर (ब्राह्मण वर्ग)
3. वेलालर (कृषक वर्ग)
4. वेनिगर (व्यापारी वर्ग)

इस समय शासक वर्ग के अंतर्गत राजा की स्थिति सर्वोपरि थी। ब्राह्मण वर्ग का उदय हो चुका था तथा समाज में उसकी अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। अनेक ब्राह्मण कवि भी थे, जो राजा की प्रशंसा में कविताएँ लिखकर पुरस्कार पाते थे। चोल राजा करैकाल ने एक कवि को पुरस्कार स्वरूप 16 लाख मुद्राएँ प्रदान की थीं। धन के अतिरिक्त उन्हें भूमि, अश्व, रथ, हाथी भी पुरस्कार स्वरूप दिए जाते थे, उनका काम यज्ञ आदि कराना था। अनेक वैदिक यज्ञ प्रचलित थे। ब्राह्मण माँस-भक्षण करते थे, सुरा पीते थे, परंतु तत्युगीन समाज में यह निंदनीय नहीं माना जाता था।

ब्राह्मण वर्ग के पश्चात् वेलालर (कृषक) वर्ग का स्थान था। यद्यपि उनका मुख्य व्यवसाय कृषि था, तथापि कुछ धनी किसान भी थे, जिनके राजघरानों में वैवाहिक संबंध थे, इनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर भी थे। वेलालर वर्ग में एक दूसरा निर्धन किसानों का वर्ग भी था, जो अपनी भूमि के अभाव में धनी किसानों (वल्लाल) की भूमि पर खेती करते थे।

संगम साहित्य में व्यापारी वर्ग (वेनिगर) की सामाजिक प्रतिष्ठा अच्छी नहीं थी, उन्हों शूद्रों की कोटि में रखा गया था। इन चार वर्णों के अतिरिक्त समाज में कुछ अन्य वर्ग भी थे। संगम साहित्य में पुलैयन नामक दस्तकारों के एक वर्ग का उल्लेख मिलता है जो रस्सी तथा पशु चर्म की सहायता से चारपाई एवं चटाई बनाने का कार्य करते थे। चरवाहों तथा शिकारियों का अलग वर्ग होता था। शिकारियों की एक जाति 'एनियर' का भी उल्लेख मिलता है। एक अन्य जाति 'मरवा' थी जो अशिक्षित थी एवं लूटपाट करती थी। बंदरगाहों के पास कुछ यवन जातियाँ हिंदयवन, अरब आदि बस गई थीं।

जाति के समूह को उनके प्रांतीय मूल के नाम से जाना जाता था। पर्वतीय क्षेत्र के लोगों को 'कुटिंजी', रेगिस्तान क्षेत्र के लोगों को 'पालै' तथा समुद्री क्षेत्र के लोगों को 'नैइडल' कहा जाता था। तोलकाप्पियम नामक ग्रंथ में विभिन्न तत्कालीन जातियों का उल्लेख मिलता है। इन जातियों में 'टुडियान', 'पानन', 'परैथान' एवं 'कादंबन' आदि प्रमुख थीं।

विवाह– तोलकाप्पियम ग्रंथ से ज्ञात होता है कि संगम युग में विवाह को संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई थी। इस ग्रंथ में हिंदू धर्मशास्त्रों में वर्णित विवाह के आठों प्रकारों का वर्णन मिलता है। स्त्री-पुरूष के स्वाभाविक प्रणय एवं उससे संबंधित विभिन्न अभिव्यक्तियों को 'पाँच तिणै', एकपक्षीय प्रणय को 'कैक्किड़ै' तथा अनुचित प्रणय को 'पेरुंदिणै' कहा जाता था।

निवास– मकानों का निर्माण शास्त्रीय नियमानुसार होता था। संपन्न वर्ग के लोग पक्की ईंटों से निर्मित मकान की ऊपरी मंजिल में रहते थे। निचली मंजिल का प्रयोग व्यापारिक कार्यों हेतु करते थे। निर्धन लोग साधारण कोटि के कच्चे मकानों में रहते थे।

शिक्षा– छात्रों को 'पिल्लै' अथवा 'भाण्यनन' तथा शिक्षकों को 'कणक्कार' कहा जाता था। मंदिरों में शिक्षा दी जाती थी। गुरु की सेवा एवं गुरुदक्षिणा भी प्रचलित थी। समाज के सभी वर्गों में शिक्षा का प्रसार था। छात्र व्याकरण, साहित्य, गणित, ज्योतिष विज्ञान आदि की शिक्षा ग्रहण करते थे।

स्त्रियों की दशा– संगम कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि स्त्रियों की दशा अच्छी थी। अष्ट पदावली के संग्रह में महिला कवयित्रियों की भी कविताएँ हैं। तमिल साहित्य में 'नेच्चेलियर' तथा 'ओवैयर' जैसी कवयित्रियों का उल्लेख प्रमाणित करता है कि इस काल की स्त्रियाँ सुशिक्षित होती थीं, परंतु इस युग में विधवाओं की स्थिति दयनीय थी, उनके लिए कई नियमों का विधान था। बाल मुड़वा दिए जाते थे, बिस्तर पर शयन, आभूषण पहनना, अच्छा भोजन करना उनके लिए वर्जित था। इसी कारण विधवाएँ मर जाना बेहतर समझती थीं। संभवतः इसीलिए समाज में सती प्रथा प्रारंभ हुई। वेश्यावृति प्रचलित थी। कुछ महिलाएँ नृत्य-गान द्वारा जीवनयापन करती थीं। शीतलै सत्तनार में माधवी नामक नर्तकी का उल्लेख मिलता है। कुछ स्त्रियाँ बौद्ध भिक्षुणी भी थीं। मणिमेकलै की नायिका बाद में बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। उसकी माँ माधवी भी बौद्ध भिक्षुणी थी। स्त्रियों को संपत्ति का अधिकार नहीं था। राजा के अंगरक्षक के रूप में उनकी नियुक्ति होती थी। चेर शासक सेंगुट्टुवन (लाल चेर) ने 'कण्णगि पूजा' अर्थात् पत्नी पूजा प्रारंभ की थी, जो कि निश्चित तौर पर स्त्रियों के सम्मानीय स्थान होने का सूचक है।

खान-पान– शाकाहारी एवं माँसाहरी दोनों प्रकार का भोजन संगम युग में प्रचलित था तथा ब्राह्मण भी माँस खाते थे। मदिरा और ताड़ी प्रिय पेय थे। चावल मुख्य खाद्य पदार्थ था। चावल को दूध में मिलाकर सांभर नामक खाद्यान तैयार किया जाता था।

मनोरंजन के साधन– कविता, नाटक, नृत्य, संगीत, कुश्ती, मुक्केबाजी, शतरंज, शिकार, गेंद और गोली आदि मनोरंजन के कुछ प्रमुख साधन थे। शतरंज वृद्ध लोगों का प्रिय खेल था। गीत एवं नृत्य धनी लोगों का प्रमुख शौक था। नर्तक-नर्तकियों तथा गायकों के दल घूम-घूम कर लोगों का मनोरंजन किया करते थे। संगम साहित्य में उन्हें 'पाणर' तथा 'विडैलियर' कहा गया है। काव्य पाठ भी लोगों का मनोरंजन का साधन था।

मृतक संस्कार– अग्निदाह एवं समाधिकरण दोनों ही विधियों से मृतक का संस्कार किया जाता था। शवदाह के पश्चात् अस्थियों को 'मंजुषा' अथवा 'कलश' में रखकर समाधिस्थ भी किया जाता था। कभी-कभी शवों को जानवरों के भक्षणार्थ खुला छोड़ दिया जाता था। दक्षिण भारत की महापाषाणिक समाधियों में खुदाई के दौरान शवों के साथ दैनिक उपयोग की वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। अतः सर्वश्री एच.डी. सांकलिया का विचार है कि दक्षिण भारत की महापाषाण युगीन संस्कृति (Megalithic Culture) में प्रचलित अनेक प्रथाएँ संगम युग में भी मौजूद थीं। पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा स्त्री घास के बिछावन पर अपने मृतक पति को चावल का पिंडदान करती थी।

1.4.4.4. धार्मिक स्थिति

संगम कालीन धार्मिक जीवन में मुख्यतः कर्मकाण्डों एवं आध्यात्मिक विचारों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है, लेकिन कहीं-कहीं इसमें एकरूपता का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है। संगमकालीन दक्षिण भारत में ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म का प्रचलन स्पष्टतः दिखाई देता है। अनुश्रुतियों के अनुसार

दक्षिण भारत में वैदिक संस्कृति को ले जोने का श्रेय अगस्त्य ऋषि को जाता है। अतः इसीलिए आज भी दक्षिण भारत में अगस्त्य ऋषि की पूजा का प्रचलन है।

संगम काल में यज्ञ आदि कर्मकांडों की प्रधानता थी। इसी कारण ब्राह्मणों का महत्व अधिक था। ब्राह्मण लोग अपना समय अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत करते थे। संभवतः अन्य धर्मानुयायियों से उनका वाद-विवाद भी होता था। बौद्ध एवं जैन धर्मों का भी अस्तित्व था। मणिमेकलै में माधवी एवं उसकी पुत्री को बौद्ध भिक्षुणी बताया गया है। ब्राह्मण धर्म से संबंधित देवताओं विष्णु, शिव, कृष्ण, बलराम, इंद्र आदि की उपासना दक्षिण भारत में भी प्रचलित थी।

दक्षिण भारत के संगमकालीन कुछ देवता निम्न हैं-

1. अर्धनारीश्वर की पूजा प्रचलित थी।

2. गुरु पूजा, वीर पूजा, सती पूजा, कण्णगि पूजा आदि प्रचलित थीं।

3. वरुण की पूजा मछुआरे तथा तटवर्ती क्षेत्र के लोग करते थे।

4. इंद्र की पूजा पुहार के वार्षिक उत्सव में की जाती थी।

5. कृष्ण की पूजा बहेलिया (शिकारी) लोग नृत्य तथा गायन के साथ करते थे।

6. मुरूगन– यह तमिल देश के प्राचीन देवता थे। इन्हें प्रारंभिक मध्यकाल में सुब्रह्मण्यम कहा जाने लगा था। बाद में स्कंद-कार्तिकेय के साथ इसका तादात्म्य स्थापित कर दिया गया। तमिल भाषा में मुरूगन शब्द का अर्थ 'कुमार' है, जो कि स्कंद का ही एक नाम है। मुरूगन का प्रतीक मुर्गा माना जाता था तथा यह भी मान्यता थी कि उसे पर्वत पर क्रीड़ा करना अत्यधिक प्रिय था। इसीलिए इसे पर्वतीय प्रदेशों का स्थानीय देवता भी कहा गया है। इसका अस्त्र बर्छा था तथा कुरवस नामक एक पर्वतीय जाति की स्त्री को मुरूगन की पत्नी माना जाता था। संभवतः इस देवता की उपासना सुदूर दक्षिण के प्रागैतिहासिक काल से ही प्रचलित थी। मुरूगन की उपासना हेतु 'वेलनाडल' नामक उल्लासमय नृत्य काफी प्रसिद्ध था।

7. उत्तर भारत की ही तरह कई ग्राम्य एवं लोक देवताओं की पूजा भी यहाँ प्रचलित थी, जिसमें बलि भी दी जाती थी।

8. मरियम्मा (परिया स्त्री का शरीर एंव ब्राह्मण स्त्री का सिर) चेचक की देवी थी। इसे बकरे व मुर्गे की बलि दी जाती थी। यह परशुराम की माता एवं शीतला माता भी कहलाती थी।

9. येल्लमा सीमा प्रदेश की देवी थी जिसे भैंस की बलि दी जाती थी।

10. बरगद के पेड़ में देवताओं का निवास माना जाता था।

मंदिर– संगम साहित्य से संगमकालीन मंदिरों का भी उल्लेख मिलता है। तमिल साहित्य में मंदिर को 'नागर', 'कोट्टम', 'पुराई' एवं 'कोली' कहा गया है। मंदिरों में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती थी। मंदिर में शिक्षा भी दी जाती थी।

संगम काल में तमिल प्रदेश में महाभारत तथा पौराणिक कथाओं का भी प्रचलन था। विष्णु का बामन अवतार, गौतम ऋषि द्वारा इंद्र को श्राप देना, शिव द्वारा त्रिपुर राक्षस का वध एवं परशुराम द्वारा माता का सिर काटने जैसी पौराणिक कथाओं का व्यापक प्रचलन था। कर्म तथा पुनर्जन्मवाद में लोगों की आस्था थी।

ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्म भी प्रचलित थे। इन सभी धर्मों से संबंधित मंदिर एवं विहार यहाँ अवस्थित थे। अशोक ने अपने तेरहवें अभिलेख में चेर, चोल, पांड्य राज्यों में धर्म प्रचारक भेजने का उल्लेख किया है।

1.4.4.5. शासन प्रणाली

संगम काल में वंशानुगत राजतंत्र का प्रचलन था। राजा निरंकुश होता था। राजा को मन्नम्, वेंडम, कोर्टवन अथवा इरैवन भी कहा जाता था। युवराज को 'कोहमन' एवं अन्य पुत्रों को 'इमैंगो' कहा जाता था। राजसभा 'मनडाय' कहलाती थी। राजा के निम्न परामर्शदाता थे-

1. मंत्री – अमियचार
2. पुरोहित – पुरोहितर
3. सेनापति – सेनापतियार
4. राजदूत – दूतार
5. गुप्तचर – ओरार

राजा का सर्वोच्च न्यायालय राजा की सभा में मन्नम होता था। प्रतिवर्ष राजा का जन्मदिन मनाया जाता था, जिसे 'पेरूनल' कहते थे।

नगरीय व ग्राम्य प्रशासन

ग्राम्य सबसे नीचे की इकाई थी। ग्राम्य को तमिल में उर, परूर (बड़ा गाँव) एवं शिरूर (छोटा गाँव) कहते थे। ग्राम्यों के समूह 'कुर्रम' (तहसील) कहलाते थे। अनेक कुर्रम नाडू (जिला) तथा कई नाडू के समूह 'कोट्टम' (कमिश्नरी) एवं अनेक कोट्टम को मंडलम् (राज्य) कहते थे। मंडलम् राजपरिवार के सदस्यों के अधीन रखे जाते थे। तटीय शहर पट्टिनम, प्रमुख सड़कें सालै और नगर की प्रमुख गली 'तेरू' कहलाती थीं।

नगरीय विकास

संगम युग में कई नगरों का विकास हुआ। टोंडी (आधुनिक पोन्नानी) और मुजरिस चेरकालीन प्रमुख बंदरगाह थे। इनमें मुजरिस भारतरोम व्यापार का प्रमुख केंद्र था। उरैयूर कपास के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। पुरार चोलकालीन प्रमुख बंदरगाह था। कोक्कई पांड्य कालीन बंदरगाह होने के साथसाथ मोती निर्यात के लिए भी प्रसिद्ध था। सलापस भी एक प्रमुख पांड्य कालीन बंदरगाह था। संगम युग में व्यापार में वृद्धि एवं उद्योग-धंधों की स्थापना के कारण नगरीय विकास में भी तेजी आ रही थी। कुछ नगर तो किसी वस्तु विशेष के व्यवसाय हेतु विकसित हो चुके थे। संगम युगीन नगरों में पुहार(कावेरीपट्टनम), उरैयूर, मदुरै, मुलरी, करपुर एवं कांची विशेषतः प्रसिद्ध नगर थे।

1.4.4.6. आर्थिक स्थिति

कृषि- चावल, गन्ना, रागी, कपास की खेती की जाती थी। उरैयुर कपास के लिए प्रसिद्ध था। वस्तुतः देश अथवा राज्य की आर्थिक समृद्धि का मूल आधार कृषि ही था। यहाँ की भूमि काफी उपजाऊ थी। एक अनुश्रुति के अनुसार ''भूमि के उपजाऊ होने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि जितनी भूमि को एक हाथी बैठ कर घेरता है, उतनी ही भूमि पर सात लोगों के लायक अनाज का उत्पादन होता था।'' सिंचाई की व्यवस्था अत्यंत उत्तम थी। नदी व तालाबों का उपयोग सिंचाई हेतु किया जाता था। कारैकाल द्वारा कावेरी नदी पर 160 किमी. लंबा बाँध बनाकर उसमें से नहरें निकलवाना उस समय सिंचाई की उन्नत व्यवस्था का संकेत देता है। कृषि कार्य मुख्यतः निम्न वर्ग के लोगों तथा महिलाओं द्वारा किया जाता था। पारी नामक छोटे से राज्य के जंगल में कटहल, शहद एवं चेर राज्य में कटहल, काली मिर्च एवं हल्दी की पैदावार होती थी। एक अनुश्रुति के अनुसार गन्ने की खेती भी प्रारंभ हो गई थी।

हस्तकला उत्पादन- कृषि के साथ-साथ हस्तकला उत्पादन उद्योगों का भी आशातीत विकास हुआ था। तत्युगीन हस्तकला कौशल का प्रतीक बारीक सूती कपड़ा विश्व में प्रसिद्ध था। कवियों ने, बुनकरों द्वारा जटिल बेलबूटे के बुनने की चर्चा की है। रुई और संभवतः रेशम की कताई और बुनाई बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच गई थी। उस समय कताई महिलाओं का अंशकालिक धंधा था। पेरीप्लस का अज्ञात लेखक बताता है कि उरैयुर उस समय सूती वस्त्र व्यवसाय का सर्वप्रमुख केंद्र था। तत्कालीन कविताओं के अनुसार सूती कपड़े साँप के कैंचुल या भाप के बादल के भाँति महीन होते थे, उनकी कताई हस्तकला का बेजोड़ नमूना था, क्योंकि आँखें धागों को देख तक नहीं सकती थीं। अतः निश्चित तौर पर सूती कपड़ा हस्तकला उत्पादन का सर्वश्रेष्ठ नमूना था। उरैयुर के साथ-साथ मदुरई भी प्रख्यात कपड़ा केंद्र था।

स्वर्णकारी एवं समुद्र से मोती निकालने का कार्य भी संगम कालीन प्रमुख उद्योग था। यहाँ से अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न, हीरे, पारदर्शी पत्थर (रत्न), नीलम, कर्पर (Tortoise Shell) आदि निर्यात किए जाते थे। कोरतई बंदरगाह मोती निर्यात के लिए प्रसिद्ध था। जीवन की आवश्यकताओं संबंधी अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन राज्य के अंतर्गत ही होता था।गृह निर्माण, शहरों के निर्माण की योजना, सैनिक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण तथा कपड़ा बुनना प्रमुख उद्योग थे। इन उद्योगों का प्रमुख आधार हस्तकला उत्पादन ही था। पुहार, उरैयूर, वाणि, टोंडी, मुजरी, मदुरई, कांची आदि हस्तकला उत्पादन के प्रमुख केंद्र थे।

इस प्रकार संगम साहित्य से हमें तत्युगीन साहित्य, समाज एवं संस्कृति की स्पष्ट झाँकी मिलती है। गोविंद प्रसाद उपाध्याय के अनुसार, ''संगम कवियों के वर्णन से स्पष्ट है कि चेर, चोल, पांड्य तथा दक्षिण के अन्य राज्यों के अंतर्गत जिस सामाजिक ढाँचे में ब्राह्मण संस्कृति की नैतिकता तथा उच्च आदर्श स्थापित थे, उसी में जनजातीय रीति-रिवाज तथा जीवन मूल्य भी प्रतिष्ठित थे।'' नीलकंठ शास्त्री के अनुसार, ''संगम साहित्य तमिल देश की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों, जनता के विचारों और आदर्शों तथा उनको जीवित रखने वाली संस्थाओं और कार्यों का पूर्ण तथा वास्तविक विवरण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।''

अपनी प्रगति की जाँच करें -

प्रश्न क्र. 6. संगम कालीन प्रसिद्ध उद्योग क्या था?

प्रश्न क्र. 7. संगम साहित्य का संकलन कब हुआ?

प्रश्न क्र. 8. प्रथम संगम कहाँ हुआ एवं इसका अध्यक्ष कौन था?

प्रश्न क्र. 9. तृतीय संगम कहाँ हुआ एवं इसका अध्यक्ष कौन था?

प्रश्न क्र. 10. तमिल महाकाव्य शिलप्पादिकारम किसकी रचना है?

प्रश्न क्र. 11. तमिल कृति जीवक चिंतामणि किसकी रचना है?

प्रश्न क्र. 12. संगम कालीन समाज कितने वर्णों में विभाजित था?

1.4.5. सारांश

प्राचीन काल में सुदूर दक्षिण भारत में संगम युग में तीन तमिल राज्यों- चेर, चोल एवं पांड्य का अभ्युदय हुआ। संगम युग में तीन संगम आयोजित हुए जो कि साहित्य की प्रगति की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थे। प्रथम संगम में 4,499 एवं द्वितीय संगम में3900 लेखकों/कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर प्रकाशन की अनुमति प्राप्त की। इन तीनों ही महासंगमों को पांड्य राजाओं ने संरक्षण दिया। इन तीनों

संगमों की कुल अवधि 9,950 वर्ष मानी जाती है। तोलकाप्पियर का तोलकाप्पियम, इलांगो आदिगल का सिल्पदिकारम एवं सीतलै शत्तनार का मणिमेकलै संगम काल के अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। सिल्पदिकारम को तमिल साहित्य का सर्वोत्कृष्ठ ग्रंथ कहा जाता है। अशोक के अभिलेखों में तमिल राज्यों चेर-चोल तथा पांड्य का उल्लेख मिलता है। चोल राज्य का राजा कारैकाल एक महान विजेता, लोकहितकारी एवं प्रजावत्सल शासक था। इसी तरह चेर राजा सेंगुट्टुवनचेर भी एक महान राजा था इसने कण्णगि (पत्नी) पूजा आरंभ की। संगमकाल में व्यापार के क्षेत्र में भी अत्यधिक प्रगति हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि संगम युगीन तमिल राज्यों के काल में साहित्य, समाज, अर्थव्यवस्था एवं सस्कृति के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति संपन्न हुई।

1.4.6. अपनी प्रगति की जाँच करें प्रश्नों के उत्तर

1. पणजी
2. गजमुखीय
3. प्रख्यात चोल शासक कारैकाल का पिता
4. मदुरा
5. कण्णगि का अर्थ पत्नी होता है। कण्णगि पूजा प्रख्यात चेर शासक सेंनगुट्टुवन चेर ने आरंभ की।
6. स्वर्णकारी एवं समुद्र से मोती निकालने का कार्य संगम कालीन प्रमुख उद्योग था।
7. प्रो. रामशरण शर्मा के अनुसार संगम साहित्य के संकलन की तिथि 300 से 600 ई.थी।
8. प्रथम संगम मदुरा में हुआ जिसकी अध्यक्षता अगस्त्य ऋषि ने की।
9. तृतीय संगम उत्तरी मदुरा में हुआ एवं इसकी अध्यक्षता नक्कीरर ने की।
10. इलांगो आदिगल
11. तिरुतक्कदेवर
12. संगम कालीन समाज चार वर्णों में विभाजित था।

1. अरसर (शासक वर्ग)
2. अंडनर (ब्राह्मण वर्ग)
3. वेलालर (कृषक वर्ग)
4. वेनिगर (व्यापारी वर्ग)।

1.4.7. बोध प्रश्न

1.4.7.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. चेर राज्य के किन्हीं 3 राजाओं के नाम बताइए।
2. चोल शासक कारैकाल के विषय में आप क्या जानते हैं?
3. पांड्य राज्य की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
4. प्रथम संगम के बारे में जानकारी दीजिए।
5. संगम साहित्य के किन्हीं 5 ग्रंथों के नाम बताइए।
6. संगम कालीन समाज की स्थिति कैसी थी?
7. संगम कालीन धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।
8. संगम कालीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

1.4.7.2. दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. संगम कालीन तमिल राज्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. तमिल युगीन चोल राज्य का वर्णन कीजिए।
3. संगम कालीन संस्कृति की विवेचना कीजिए।
4. संगम युगीन सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
5. संगम कालीन अर्थव्यवस्था की विवेचना कीजिए।
6. संगम कालीन साहित्य की विवेचना कीजिए।

1.4.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ सूची

1. Kanakasabhai Pillat V., The Tamils 1800 years Ago, Madras, 1904.
2. Nilakanta Sastri K.A., History and Culture of Tamils.
3. Ramchandra Dikshitar V.R., Studies in Tamil Literature and History, Madras, 1936.
4. Srinivasa Iyengar, P.T
5. Madras, 1929
6. Subrahmaniam N., Sangam Polity, Madras, 1966.
7. थापर रोमिला, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1991
8. महाजन विद्याधर, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 1992
9. शास्त्री नीलकंठ, दक्षिण भारत का इतिहास, पटना, 1993
10. श्रीवास्तव बी.के., प्राचीन भारत का इतिहास, एस.वी. पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2011
11. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति, इलाहाबाद, 2002

खंड-2 : गुप्तकाल

इकाई–1 : राजनैतिक उत्थान

इकाई की रूपरेखा

2.1.1. उद्देश्य

2.1.2. प्रस्तावना

2.1.2.1. गुप्तों की उत्पत्ति

2.1.2.2. गुप्तों का परिचय

2.1.3. चंद्रगुप्तप्रथम (319 ई.-324 ई.)

2.1.3.1. गुप्त-संवत्

2.1.3.2. वैवाहिक संबंध

2.1.3.3. राज्य-विस्तार

2.1.4. समुद्रगुप्त (325 ई.-375 ई.)

2.1.4.1. स्रोत

2.1.4.2. दिग्विजय

2.1.4.2.1. आर्यावर्त्त का प्रथम अभियान

2.1.4.2.2. दक्षिणापथ का अभियान

2.1.4.2.3. विजित राज्यों के प्रति नीति

2.1.4.2.4. आर्यावर्त्त का द्वितीय अभियान

2.1.4.2.5. अटाविक राज्यों पर विजय

2.1.4.2.6. सीमावर्ती राज्यों द्वारा अधीनता

2.1.4.2.7. विदेशी राज्य

2.1.4.2.8. अश्वमेध यज्ञ

2.1.4.2.9. साम्राज्य विस्तार

2.1.5. चंद्रगुप्तद्वितीय/चंद्रगुप्तविक्रमादित्य (380 ई.-412 ई.)

2.1.5.1. साधन

2.1.5.2. नाम व उपाधियाँ

2.1.5.3. विवाह संबंध

2.1.5.3.1. नागवंश

2.1.5.3.2. वाकाटक-वंश

2.1.5.3.3. कदंब-वंश

2.1.5.4. शक-विजय

2.1.5.4.1. युद्ध की घटनाएँ

2.1.5.4.2. महत्व

2.1.5.5. गणराज्यों पर विजय

2.1.5.6. बाह्लीक विजय

2.1.5.7. पूर्वी प्रदेशों पर विजय

2.1.5.8. दक्षिणापथ से संबंध

2.1.5.9. साम्राज्य विस्तार

2.1.6. कुमारगुप्त प्रथम (413 ई.-455 ई.)

2.1.6.1. स्रोत

2.1.6.2. विरुद

2.1.6.3. शासनकाल की प्रमुख घटनाएँ

2.1.6.3.1. पुष्यमित्रों से युद्ध

2.1.6.3.2. दक्षिणी-अभियान

2.1.6.3.3. अश्वमेध यज्ञ

2.1.6.3.4. साम्राज्य विस्तार

2.1.7. स्कंदगुप्त (455 ई.-467 ई.)

2.1.7.1. उत्तराधिकार युद्ध

2.1.7.2. स्रोत

2.1.7.3. उपाधियाँ

2.1.7.4. पुष्यमित्रों पर विजय

2.1.7.5. हूणों पर विजय

2.1.7.6. दिग्विजय

2.1.7.7. साम्राज्य विस्तार

2.1.8. सारांश

2.1.9. बोध प्रश्न

2.1.9.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

2.1.9.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

2.1.10. संदर्भ ग्रंथ

2.1.1. उद्देश्य

गुप्त-युग भारत के इतिहास में राजनीतिक उत्थान का युग था। गुप्त-शासकों ने भारत को राजनीतिक एकता, सुरक्षा व शांति की भावना प्रदान की। डॉ. आर.एस. त्रिपाठी ने गुप्त-युग को स्वर्ण-युग मानते हुए लिखा है, ''गुप्त-सम्राटों का काल भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है। इस काल के अनेक उदात्त, मेधावी और शक्तिशाली राजाओं ने उत्तर-भारत को एक छत्र के नीचे संगठित कर शासन

में सुव्यवस्था तथा देश में समृद्धि व शांति की स्थापना की।'' अतः गुप्तकालीन राजनीतिक उत्थान पर प्रकाश डालना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

2.1.2. प्रस्तावना

2.1.2.1. गुप्तों की उत्पत्ति

गुप्तों की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। गुप्त सम्राटों के अभिलेखों में इस विषय पर प्रकाश नहीं डाला गया है। इस कारण निश्चित रूप से यह कहना बड़ा कठिन है कि गुप्त किस वर्ण के थे। कुछ विद्वान उनको वैश्य मानते हैं। इस तथ्य में कोई सार प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गुप्त, उनके पूर्व नाम का एक अंग ही रहा होगा। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब ब्राह्मणों के नाम के उपरांत 'गुप्त' अथवा 'भूति' शब्द का प्रयोग किया गया। ब्रम्हगुप्त व भवभूति ब्राह्मण थे। आज के अधिकांश इतिहासकार गुप्तों को क्षत्रिय स्वीकर करते हैं। डॉ. आर.डी. बनर्जी के अनुसार गुप्त लिच्छवि वंश के क्षत्रिय थे। गुप्तों के प्रारंभिक शासकों के इतिहास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस राजवंश का संस्थापक श्रीगुप्त नामक व्यक्ति था। वह एक साधारण सामंत था। उसके नाम के साथ केवल 'महाराजा' की उपाधि सम्मिलित थी। उसने कोई स्वतंत्र राज्य की स्थापना नहीं की थी। उसकी मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र घटोत्कच उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह भी अपने पिता के समान एक सामंत था। उसने केवल 'महराजा' की उपाधि से ही अपने आपको सुशोभित किया था। घटोत्कच की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र चंद्रगुप्तगद्दी पर बैठा। इसे चंद्रगुप्त प्रथम के नाम से जाना जाता है। वह इस वंश का प्रथम सम्राट था जिसने स्वत्रंत शासक के रूप में शासन आरंभ किया। उसने 'महाराजा' की उपाधि के स्थान पर 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की जो उक्त कथन को सिद्ध करने में अकाट्य सक्षम है। इस समय मगध का शासन अधोगति को प्राप्त हो रहा था। चंद्रगुप्तके नेतृत्व में पाटलिपुत्र की जनता ने विद्रोह किया जो सफल हुआ जिससे चंद्रगुप्त का मगध पर अधिकार हो गया। उसने लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया जिससे उसकी शक्ति का विस्तार हुआ। उसको साम्राज्य विस्तार में लिच्छवियों का पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ।

2.1.2.2. गुप्तों का परिचय

इस साम्राज्य का जन्मदाता श्रीगुप्त को माना जाता है किंतु गुप्त वंश का वास्तविक संस्थापक चंद्रगुप्त था, जिसे चंद्रगुप्त प्रथम के नाम से भी जाना जाता है। चंद्रगुप्त के पूर्वज मगध राज्य के अंतर्गत छोटे सरदार थे। पुराणों के अनुसार गुप्त राज्य का उदय प्रयाग और अयोध्या के मध्य क्षेत्र में हुआ, जिसका काल तीसरी शताब्दी अनुमान किया जाता है।

2.1.3. चंद्रगुप्तप्रथम (319 ई.-324 ई.)

गुप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्तप्रथम ही गुप्त-वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक था जिसकी उपाधि महाराजाधिराज थी। यह सार्वभौमिक उपाधि इस बात का प्रमाण है कि चंद्रगुप्त प्रथम

गुप्त-वंश का प्रथम शक्तिशाली और स्वतंत्र राजा हुआ जिसके पौरुषपूर्ण प्रारंभिक प्रयत्नों ने गुप्त राजशक्ति के विकास का द्वार उन्मुक्त कर अपने उत्तराधिकारी और पुत्र समुद्रगुप्त के सार्वभौम साम्राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। दुर्भाग्यवश चंद्रगुप्त प्रथम का कोई व्यक्तिगत लेख या प्रशस्ति उपलब्ध नहीं है, अतः उसकी उपलब्धियों एवं तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं के विषय में जानकारी अत्यंत अल्प है।

2.1.3.1. गुप्त-संवत्

चंद्रगुप्त के समय की प्रमुख घटना अपने राज्यारोहण के समय उसके द्वारा एक नवीन संवत् की स्थापना करना था जो गुप्त-संवत् के नाम से जाना जाता है। चंद्रगुप्तने इस संवत् की स्थापना 319-20 ई. में की थी।

2.1.3.2. वैवाहिक संबंध

चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल की सबसे प्रमुख घटना उसका लिच्छवि राजकुमारी के साथ विवाह होना था। इस विवाह के विषय में जानकारी विशेष प्रकार की स्वर्ण मुद्राओं से होती है जिन्हें 'लिच्छवि-प्रकार','विवाह-प्रकार' अथवा 'राजा-रानी प्रकार' की मुद्राएँ कहा जाता है। इस प्रकार की अब तक 25 मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन मुद्राओं के मुखभाग पर चंद्रगुप्तप्रथम एवं उसकी रानी कुमारदेवी के चित्र नामों-सहित उत्कीर्ण हैं। इन मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर धराशायी सिंह अथवा सिंहासन की पीठ पर शुभासीन देवी की आकृति उत्कीर्ण है तथा इसी ओर 'लिच्छवयः' लेख भी प्राप्य है। इस विवाह की पुष्टि प्रयाग-प्रशस्ति से भी होती है, जिसमें समुद्रगुप्त को महादेवी कुमारदेवी के गर्भ से उत्पन्न तथा 'लिच्छवि-दौहित्र' (लिच्छवियों का नाती) कहा गया है।

चंद्रगुप्त व कुमारदेवी के इस विवाह का अत्यधिक राजनीतिक महत्व है। विवाह के परिणामस्वरूप ही चंद्रगुप्तप्रथम सम्राट बन सका तथा महाराजाधिराज की उपाधि धारण करने में सफल हुआ, किंतु एलन का विचार है कि इस विवाह का वास्तविक महत्व वस्तुतः सामाजिक है। लिच्छवि रक्त पर समुद्रगुप्त के घमंड करने का कारण लिच्छवियों की कुलीनता थी, परंतु एलन के इस निष्कर्ष को मानना कठिन है क्योंकि लिच्छवि किसी उच्च जाति के नहीं थे। इसके विपरीत, राजनीतिक शक्ति के रूप में लिच्छवियों की महत्ता महात्मा बुद्ध के समय से ही चली आ रही थी। अतः इसी कारण समुद्रगुप्त ने प्रयाग-प्रशस्ति में लिच्छवि-दौहित्र कहने में गर्व का अनुभव किया होगा। चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में गुप्तों की शक्ति व वैभव में जो असीमित वृद्धि हुई, उसमें इस विवाह का प्रमुख योगदान था। डॉ. राय का विचार है कि कुमारदेवी के समय में लिच्छवियों के राज्य का गणतंत्रात्मक संघटन बहुत कुछ विघटित हो गया था और उसके स्थान पर उसने स्वतंत्र राजतंत्रात्मक स्वरूप धारण कर लिया था। यही कारण है कि राजकन्या कुमारदेवी पैतृक आधार पर लिच्छवी राज्य की स्वामिनी बन गई तथा लिच्छवियों का संपूर्ण अधिकार क्षेत्र चंद्रगुप्तप्रथम को उपलब्ध हो गया। डॉ. अल्तेकर का विचार है कि लिच्छवि-राज्य के गुप्त साम्राज्य में विलीन हो जाने पर भी गुप्त-शासन पर लिच्छवियों का प्रभाव कुछ समय तक छाया रहा। संभवत: इसी कारण 'राजा-रानी-प्रकार' की मुद्राएँ प्रचलित की गई होंगी। इन मुद्राओं के आधार पर ही

कुछ विद्वानों का विचार है कि कुछ समय तक चंद्रगुप्त प्रथम व कुमारदेवी ने संयुक्त रूप से शासन किया था।

2.1.3.3. राज्य-विस्तार

चंद्रगुप्त प्रथम ही गुप्त वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक था। चंद्रगुप्तप्रथम ने ही सर्वप्रथम गुप्त-साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न किया। कुमारदेवी से विवाह करने के कारण उसे लिच्छवियों का वैशाली का राज्य प्राप्त हो गया था। पुराणों एवं प्रयाग-प्रशस्ति से चंद्रगुप्त प्रथम के राज्य-विस्तार के विषय में प्रकाश पड़ता है। उपरोक्त स्रोतों से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त का राज्य पश्चिम में प्रयाग जनपद से लेकर पूर्व में मगध अथवा बंगाल के कुछ भागों तक व दक्षिण में मध्य प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग तक विस्तृत था।

2.1.4. समुद्रगुप्त (335 ई.-380 ई.)

चंद्रगुप्त प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र समुद्रगुप्त शासक बना। समुद्रगुप्त के शासनकाल का गुप्तकालीन इतिहास में विशेष महत्व है क्योंकि भारत-राष्ट्र की सुरक्षा, समृद्धि एवं संस्कृति की संवृद्धि के लिए यह आवश्यक था कि भारत में एक-छत्र राज्य की स्थापना हो ताकि भारत एक राजनीतिक शृंखला में आबद्ध रहे। राजधर्म के इसी आदर्श से अनुप्रेरित होकर भारतीय धर्म और संस्कृति के पोषक समुद्रगुप्त ने भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने का दायित्व अपने ऊपर लिया तथा उसे सफलतापूर्वक निभाया।

2.1.4.1. स्रोत

समुद्रगुप्त के विषय में यद्यपि अनेक शिलालेखों, स्तंभ-लेखों, मुद्राओं व साहित्यिक ग्रंथों से व्यापक जानकारी प्राप्त होती है, परंतु सौभाग्य से समुद्रगुप्त पर प्रकाश डालने वाली अत्यंत प्रामाणिक सामग्री 'प्रयाग-प्रशस्ति' के रूप में उपलब्ध है। यह प्रशस्ति प्रयाग के किले के भीतर अशोक के स्तंभ पर उत्कीर्ण है, जिसे समुद्रगुप्त की राजसभा के प्रसिद्ध विद्वान हरिषेण ने उत्कीर्ण कराया था। यह प्रशस्ति वस्तुतः समुद्रगुप्त की आत्मकथा के समान है, जिसमें उसके शासनकाल की प्रमुख घटनाओं, विजयों, आदि का सुंदर वर्णन किया गया है। प्रयाग प्रशस्ति के अतिरिक्त समुद्रगुप्त का ही एरण अभिलेख भी एक महत्वपूर्ण स्रोत है। गया व नालंदा के ताम्रपत्रों से भी समुद्रगुप्त के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से समुद्रगुप्त की मुद्राएँ भी अत्यंत उपयोगी हैं, अभिलेखीय प्रमाणों की पुष्टि करने के साथ ही ये अतिरिक्त स्वतंत्र सूचनाएँ भी प्रदान करती हैं।

2.1.4.2. दिग्विजय

सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की योजना बनाई। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार इन योजना का ध्येय 'धरणि-बंध' (भूमंडल को बाँधना) था। जिस समय समुद्रगुप्त शासक बना था, संपूर्ण भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। समुद्रगुप्त इन राज्यों पर विजय प्राप्त करना तथा भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधना चाहता था। समुद्रगुप्त एक महान योद्धा तथा कुशल सेनापति था। समुद्रगुप्त ने अपनी इस योजना को पूर्ण करने के लिए अपनी शक्ति से अनेक राज्यों को जीतकर प्रायः संपूर्ण आर्यावर्त्त व पूर्वी भारत पर गुप्तों का प्रभुत्व स्थापित किया और दक्षिणापथ के समस्त राजाओं को

अपना स्वामित्व स्वीकार करने के लिए विवश कर उन्हें अपना करद् बनाया तथा अनेकानेक गणराज्यों, विदेशी शक-कुषाणों व सीमांत के प्रत्यंत नृपतियों एवं लंका व अन्यान्य द्वीपवासियों को अपने प्रचंड पराक्रम से आक्रांत कर उनका आत्मनिवेदन प्राप्त किया। अतः गुप्तों के प्रताप का आलोक, पूर्ण तेजस्विता और प्रखरता के साथ भासमान हो उठा। डॉ. मुखर्जी ने इस विषय में लिखा है, ''सौ युद्धों के विजेता समुद्रगुप्त ने अपनी लगातार विजय-यात्रा से, संपूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।'' समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा का निम्नलिखित क्रम में वर्णन किया जा सकता है :–

1. आर्यावर्त्त का प्रथम अभियान।
2. दक्षिणापथ का अभियान।
3. आर्यावर्त्त का द्वितीय अभियान।
4. अटाविक राज्यों (जंगली क्षेत्रों में स्थित राज्य- विंध्य क्षेत्र) पर विजय।
5. सीमावर्ती राज्यों द्वारा अधीनता।
6. विदेशी-राज्य।

2.1.4.2.1. आर्यावर्त्त का प्रथम अभियान

समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय का प्रारंभ उत्तरी-भारत के राजाओं पर विजय प्राप्त करके किया। प्रयाग-प्रशस्ति की 13वीं व 14वीं पंक्ति में इस अभियान का वर्णन किया गया है। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने इस अभियान के दौरान निम्नलिखित राजाओं पर विजय प्राप्त की :

(1) अच्युत– इस नरेश के विषय में अत्यंत अल्प जानकारी उपलब्ध है। डॉ. जायसवाल के अनुसार अच्युत अहिच्छत्र (बरेली) का शासक था, किंतु उसकी मुद्राओं की नागवंशीय मुद्राओं से समानता के कारण कुछ अन्य विद्वान अच्युत को नागवंशीय शासकमानते हैं।

(2) नागसेन– यह नागवंशीय शासक था जिसकी राजधानी पद्मावती थी। पद्मावती आधुनिक ग्वालियर जिले में स्थित थी। डॉ. जायसवाल का विचार है कि नागसेन मथुरा में शासन कर रहा था।

(3) प्रयाग– प्रशस्ति में नागसेन से आगे का भाग नष्ट हो गया है, कुछ विद्वानों का विचार है कि वहाँ गणपतिनाग लिखा हुआ था तथा उसके अनुसार नागसेन के बाद 'ग' शब्द अभी भी पढ़ा जा सकता है। गणपतिनाग नागवंशीय शासक था जो विदिशा में शासन करता था।

(4) कोटकुल– कोटकुल, वंश का नाम है, प्रयाग-प्रशस्ति में इस शब्द से पूर्व राजा का नाम भी लिखा हुआ होगा किंतु अब वह मिट गया है। डॉ. जायसवाल आदि कुछ विद्वानों का विचार है कि कोटकुल-वंश पाटलिपुत्र का मगध-वंश था। अपने मत के समर्थन में उन्होंने प्रयाग-प्रशस्ति की कोटकुल शब्द से आगे के वर्णन का आश्रय लिया है जिसके अनुसार कोटकुल पर विजय के पश्चात् समुद्रगुप्त ने पुष्पपुर में उत्सव मनाया। इस संदर्भ में डॉ. आर. सी. मजूमदार का मत भी उचित प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त द्वारा पराजित कोटकुल-वंश कान्यकुब्ज (कन्नौज) में शासन कर रहा था।

2.1.4.2.2. दक्षिणापथ का अभियान

आर्यावर्त्त के प्रथम अभियान की सफलता के पश्चात् समुद्रगुप्त ने दक्षिण-भारत का अभियान किया तथा 12 राज्यों पर विजय प्राप्त की। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राज्य निम्नलिखित थे–

01. **कोसल**– कोसल का राजा महेंद्र था। इस राज्य के अंतर्गत आधुनिक मध्यप्रदेश के बिलासपुर, रायपुर सम्भलपुर जिले थे।
02. **महाकांतर**– यहाँ का शासक व्याघ्रराज था। यह राज्य मध्य प्रदेश का वन्य प्रदेश था।
03. **कोराड**– कोराड का शासक मंटराज था। यह राज्य उड़ीसा व मद्रास के मध्य में कहीं स्थित था।
04. **पिष्टपुर**– पिष्टपुर का राजा महेंद्रगिरि था। यह राज्य गोदावरी जिले में स्थित था।
05. **कोट्टु र**- कोट्टुर का राजा स्वामिदत्त था। स्वामिदत्त का राज्य गंजाम जिले में कोठूर नामक स्थान पर स्थित था।
06. **एरंडपल्लक**– यहाँ का शासक दमन था। एरंडपल्लक राज्य की स्थिति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। संभवत: यह उड़ीसा के समुद्र-तट पर स्थित एरंडपल्ली नामक स्थान पर स्थित था।
07. **कांची**– कांची का शासक विष्णुगोप था जो पल्लव-वंशीय था। यह राज्य आधुनिक कांजीवरम् नामक स्थान पर स्थित था।
08. **अवमुक्तक**– यहाँ का शासक नीलराज था। इसकी राजधानी गोदावरी के निकट पिथुंडा थी।
09. **वेंगी**– वेंगी का शासक हस्तिवर्मन था। यह राज्य मद्रास के कृष्णा जिले में स्थित था।
10. **पालक्क**– पालक्क में उग्रसेन राज्य कर रहा था। यह राज्य गोदावरी नदी के तट पर पालकोल्लू नामक स्थान पर स्थित रहा होगा।
11. **देवराष्ट्र**– इस राज्य में कुबेर शासन कर रहा था। यह राज्य विशाखापट्टनम के समीप एलमंचि नामक स्थान पर था।
12. **कोस्थलपुर**– यहाँ का शासक धनंजय था। यह राज्य आरकट में स्थित कुट्टलुर नामक स्थान पर था।

2.1.4.2.3. विजित राज्यों के प्रति नीति

समुद्रगुप्त ने दक्षिण के इन राज्यों के प्रति नीति निर्धारित करने में एक कुशल कूटनीतिज्ञ होने का परिचय दिया। समुद्रगुप्त अपने साधनों व सामर्थ्य को भली-भाँति समझता था, वह जानता था कि इन दूरस्थ प्रदेशों पर स्थायी रूप से राज्य करना संभव न होगा। अतः समुद्रगुप्त के दक्षिणी-अभियान का उद्देश्य वहाँ के राज्यों को उन्मूलित कर गुप्त-साम्राज्य में मिलाना न था। प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि दक्षिण के राजाओं से समुद्रगुप्त केवल अपना प्रभुत्व स्वीकार कराना चाहता था। अतः समुद्रगुप्त ने सभी राजाओं को बंदी बनाने के पश्चात् अपने-अपने राज्य का शासन करने के लिए पुनः मुक्त कर दिया (सर्वदक्षिणापथ राज-ग्रहण-मोक्षानुग्रह) और समुद्रगुप्त उनसे भेंट व राजस्व आदि लेकर संतुष्ट हो गया। इस प्रकार

दक्षिणापथ के प्रति समुद्रगुप्त ने 'धर्मविजय' की नीति का पालन किया, उसका यह कार्य नि:संदेह उसकी राजनीतिक महत्ता का परिचायक है।

2.1.4.2.4. आर्यावर्त्त का द्वितीय अभियान

समद्रगुप्त ने अपने प्रथम आर्यावर्त्त-अभियान के समय अच्युत, नागसेन, गणपतिनाग व कोटकुल-वंश के किसी राजा को परास्त किया था किंतु उनका उन्मूलन नहीं किया था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ अभियान के समय उत्तर-भारत के इन राजाओं ने पुनः अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी तथा गुप्तों की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर आर्यावर्त्तके अन्य शासक भी समुद्रगुप्त का विरोध करने के उद्देश्य से सिर उठाने लगे। अतः आर्यावर्त्त के द्वितीय अभियान में समुद्रगुप्त ने निम्नलिखित 9 राजाओं को परास्त किया–

(1) रुद्रदेव– यह कौशांबी का राजा था।

(2) मतिल– डॉ. जायसवाल के अनुसार यह अंतर्वेदी का नागवंशी शासक था, जिसकी राजधानी इंद्रपुर (बुलन्दशहर के समीप) थी।

(3) नागदत्त– इस राजा के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस राजा की मथुरा के समीप अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं।

(4) चंद्रवर्मन– इस राजा के विषय में अनके मत हैं। भण्डारकर, रायचौधरी व सरकार इसे पूर्वी बंगाल के पोखरण का शासक मानते हैं जबकि हरप्रसाद शास्त्री इसे मारवाड़ का शासक बताते हैं।

(5) गणपतिनाग– यह विदिशा अथवा पद्मावती का शासक था।

(6) नागसेन– यह मथुरा का शासक था।

(7) अच्युत– यह अहिच्छत्र उत्तर प्रदेश का शासक था।

(8) नंदि– डॉ. दुब्रिया नंदि को विदिशा का राजा मानते हैं।

(9) बलवर्मा– कुछ विद्वानों का मत है कि यह कामरूप का शासक था, परंतु कामरूप आर्यावर्त्तमें स्थित नहीं है, अतः किसी अन्य स्थान पर ही शासन करता होगा।

2.1.4.2.5. अटाविक राज्यों पर विजय

प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने अटाविक राज्यों के शासकों को अपना दास बना लिया था। इससे ऐसा आभास होता है कि समुद्रगुप्त ने अटाविक राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। फ्लीट का विचार है कि ये अटाविक राज्य उत्तर में गाजीपुर से लेकर जबलपुर तक फैले हुए थे। इस निष्कर्ष की पुष्टि एरण अभिलेख से भी होती है, जिसके अनुसार ऐरिकेण-प्रदेश (एरण, सागर-जिला) उसके अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत था, किंतु कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि अटाविक राज्य आर्यावर्त्त और पूर्वी सीमांत प्रदेशों के बीच में स्थित थे।

2.1.4.2.6. सीमावर्ती राज्यों द्वारा अधीनता

प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त की उपरोक्त विजय से प्रभावित होकर सीमावर्ती राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रशस्ति की 23 वीं व 24 वीं पंक्तियों में पूर्वी व पश्चिमी सीमांत प्रदेशों का पृथक-पृथक उल्लेख किया गया है, जिनका वर्णन निम्नलिखित है–

1. पूर्वी सीमांत प्रदेश– हरिषेण ने पाँच पूर्वी सीमांत प्रदेशों का उल्लेख किया है, किंतु पाँचों के नाम के अंत में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है जिससे ऐसा आभास होता है कि इन प्रमुख पाँच राज्यों के अतिरिक्त भी कुछ छोटे-छोटे राज्य रहे होंगे। हरिषेण द्वारा उल्लिखित प्रमुख पाँच राज्य निम्नवत् थे–

(1) समतट– रायचौधरी के अनुसार समतट से तात्पर्य पूर्वी समुद्र-तट से है, इसकी राजधानी कर्मांत थी।

(2) डवाक– फ्लीट का विचार है कि आधुनिक ढाका व चटगाँव के स्थान पर यह स्थित था।

(3) कामरूप– इससे तात्पर्य आसाम से है। प्रो. राय का विचार है कि समुद्रगुप्त का समकालीन कामरूप शासक पुष्यवर्मा था, जो हर्षकालीन भास्करवर्मा का पूर्वज था।

(4) नेपाल– समुद्रगुप्त के समय में नेपाल में लिच्छवि-वंश शासन कर रहा था। यह राज्य वैशाली के लिच्छवि राज्य से भिन्न था।

(5) कर्तृपुर– स्मिथ व रायचौधरी ने इसका समीरकण कुमाऊँ, गढ़वाल व रूहेलखंड से किया है।

2. पश्चिमी सीमांत प्रदेश– हरिषेण द्वारा वर्णित पश्चिमी सीमांत प्रदेश में 9 गणराज्य थे, जिनका वर्णन निम्नलिखित है–

(1) मालव– यह एक प्राचीन गणराज्य था। कालांतर में मालव जाति राजस्थान में बस गई थी जिससे यह प्रदेश मालवा कहलाने लगा।

(2) आर्जुनायन– यह राज्य अलवर व पूर्वी-जयपुर के मध्य स्थित था।

(3) यौधेय– यह राज्य वर्तमान रोहतक जिले के समीप स्थित था।

(4) माद्रक– माद्रक राज्य पंजाब में था।

(5) आभीर– यह भी एक प्राचीन गणराज्य था। यह पश्चिमी राजपूताना में था।

(6) प्रार्जून– यह मध्यप्रदेश में था।

(7) सनकानिक– यह भी मध्य प्रदेश में ही था।

(8) काक– भिलसा के समीप यह राज्य स्थित था।

(9) खरपरिक– यह दमोह जिले में था।

प्रयाग-प्रशस्ति में प्रत्यंत राज्यों की सूची विजित राज्यों की सूची से पृथक दी गई है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि समुद्रगुप्त का इन राज्यों से युद्ध नहीं हुआ था। समुद्रगुप्त से भयभीत होकर स्वयं ही इन राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। प्रयाग-प्रशस्ति की 22वीं व 23 वीं पंक्तियों से समुद्रगुप्त की इन राज्यों के प्रति नीति के विषय में भी पता चलता है। इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि सीमांत प्रदेशों के शासकों ने निम्नलिखित तरीकों से समुद्रगुप्त को तुष्ट किया –

(1) आज्ञाकरण - आज्ञा मानकर।

(2) सर्वकर दान - सभी प्रकार के करों को देकर।

(3) प्राणामागमन - विनीत भाव धारण कर विशिष्ट अवसरों पर समुद्रगुप्त की सभा में उपस्थित होकर।

2.1.4.2.7. विदेशी राज्य

हरिषेण ने प्रयाग-प्रशस्ति में कुछ विदेशी शक्तियों का उल्लेख किया है जिन्होंने समुद्रगुप्त को आत्मसमर्पण करना (आत्म निवेदन), कन्याओं का उपहार देना तथा गरूड़-मुद्रा (गुप्तों की राजकीय मुद्रा) से अंकित उसके आदेशों को अपने-अपने शासन-क्षेत्रों में प्रचलित करना स्वीकार किया। अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त विदेशी राज्यों ने समुद्रगुप्त के साथ मैत्री-संबंध स्थापित किया था। समुद्रगुप्त से मैत्री स्थापित करने वाले विदेशी राज्य निम्नलिखित थे :

(1) देवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि - यद्यपि इनके विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है किंतु इनका तात्पर्य उत्तरी कुषाणों से प्रतीत होता है जो उत्तर-पश्चिम भारत में शासन कर रहे थे।

(2) शक - एलन का विचार है कि ये उत्तरी भारत के शक थे क्योंकि पश्चिम भारत के शकों का विनाश चंद्रगुप्तद्वितीय ने किया था न कि समुदगुप्त ने।

(3) मुरूण्ड - हेमचंद्र के अभिधानचिंतामणि नामक ग्रंथ के अनुसार मुरूण्ड लम्पाक (अफगानिस्तान) में शासन करते थे।

(4) सिंहल - सिंहल द्वीप का अर्थ लंका से था। चीनी लेखों के अनुसार समुद्रगुप्त व लंका के तत्कालीन शासक मेघवर्मन के पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश पड़ता है। वांग्हुएन-त्से नामक एक चीनी लेखक के अनुसार मेघवर्मन ने अपना दूत भेजकर समुद्रगुप्त को बहुमूल्य उपहार भेंट किए थे तथा बोधगया में एक मठ का निर्माण कराया था, जिसमें महात्मा बुद्ध की रत्नजड़ित मूर्ति स्थापित की गई थी।

(5) सर्वद्वीपवासी - प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार सिंहल के अतिरिक्त अन्य सभी द्वीपवासियों ने भी समुद्रगुप्त को उपहार भेंट किए। ये समस्त द्वीप संभवतः दक्षिण-पूर्वी एशिया के थे।

2.1.4.2.8. अश्वमेध यज्ञ

दिग्विजय के पश्चात् समुद्रगुप्त ने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था। इस अवसर पर उसने एक विशेष प्रकार की स्वर्ण-मुद्राओं को प्रचलित किया जिनके एक ओर घोड़े की आकृति उत्कीर्ण है तथा उसके नीचे 'अश्वमेध पराक्रमः' (अश्वमेध के योग्य पराक्रम वाला) लिखा है तथा मुद्रा के दूसरी ओर 'राजाधिराजः पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्य-वीर्यः'' (राजाधिराज पृथ्वी को जीतकर अब स्वर्ग की जय कर रहा है, उसकी शक्ति और तेज अप्रतिम है) अंकित है।

2.1.4.2.9. साम्राज्य विस्तार

समुद्रगुप्त ने अपनी अनेकानेक विजय से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। समुद्रगुप्त ने उत्तराधिकार में एक छोटा-सा राज्य अपने पिता से प्राप्त किया था, किंतु अपने पुत्र के लिए उसने एक

विशाल साम्राज्य छोड़ा। समुद्रगुप्त के साम्राज्य में लगभग संपूर्ण उत्तर भारत, छत्तीसगढ़ व उड़ीसा के पठार तथा पूर्वी तट के अनेक प्रदेश सम्मिलित थे। इस प्रकार उसका साम्राज्य पूर्व में ब्रह्मपुत्र, दक्षिण में नर्मदा तथा उत्तर में कश्मीर की तलहटी तक विस्तृत था। उत्तर भारत के एक बड़े भू-भाग पर समुद्र गुप्त स्वयं शासन करता था। स्वशासित प्रदेश के उत्तर व पूर्व में पाँच तथा पश्चिम में नौ गणराज्य उसके करद राज्य थे। दक्षिण के बारह राज्यों की स्थिति भी इन्हीं के समान थी। इन करद राज्यों के अतिरिक्त अनेक विदेशी राज्य भी समुद्रगुप्त के प्रभाव क्षेत्र में थे।

2.1.5. चंद्रगुप्तद्वितीय/चंद्रगुप्तविक्रमादित्य (380 ई.-412 ई.)

चंद्रगुप्तद्वितीय गुप्त-वंश के महानतम् सम्राटों में से एक है। चंद्रगुप्त, रामगुप्त का छोटा भाई था तथा उसके अल्पकालीन शासन के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ।

2.1.5.1. साधन

चंद्रगुप्तपर प्रकाश डालने वाली सामग्री में प्रमुख उसके अभिलेख, मुद्राएँ व अनेक साहित्यिक स्रोत हैं। चंद्रगुप्तके अब तक कुल 6 अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनसे उसके विषय में व्यापक जानकारी प्राप्त होती है। उसके अभिलेख निम्नलिखित हैं - मथुरा का स्तंभ-लेख, मथुरा का शिला-लेख, उदयगिरी से प्राप्त दो लेख, गढ़वा (इलाहबाद के समीप) लेख व साँची का लेख। चंद्रगुप्तकी अनेक मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं। साहित्यिक स्रोतों में फा-हियान का वर्णन प्रमुख है क्योंकि फा-हियान ने चंद्रगुप्तके शासनकाल में ही भारत की यात्रा की थी।

2.1.5.2. नाम व उपाधियाँ

चंद्रगुप्त के अभिलेखों व मुद्राओं से उसके अनेक नामों व विरुदों के विषय में पता चलता है। उसकी मुद्राओं में उसे देवश्री, विक्रम, विक्रमादित्य; सिंहविक्रम, सिंहचंद्र परमभागवत, अजितविक्रम, विक्रमांक, अप्रतिरथ आदि विरुदों से अलंकृत कहा गया है। साँची अभिलेख में उसे देवराज व वाकाटक अभिलेखों से देवगुप्त कहा गया है। चंद्रगुप्तके उपरोक्त विरुद उसकी महानता के परिचायक हैं।

2.1.5.3. विवाह संबंध

प्रो. राय चौधरी ने लिखा है कि गुप्तों के वैवाहिक संबंध उनकी वैदेशिक नीति में विशिष्ट स्थान रखते हैं। चंद्रगुप्त प्रथम द्वारा लिच्छवियों से विवाह-संबंध स्थापित कसे के कारण ही गुप्त-साम्राज्य को शक्ति व दृढ़ता मिली थी। प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने गणराज्यों व विदेशी राज्यों से कन्याओं को उपहार स्वरूप प्राप्त किया था। अपने पूर्वजों के समान ही चंद्रगुप्त ने वैवाहिक संबंधों के महत्व को समझते हुए समकालीन-राजवंशों के साथ वैवाहिक-संबंध स्थापित कर गुप्त साम्राज्य को और अधिक शक्तिशाली बनाया। चंद्रगुप्त द्वितीय ने निम्नलिखित राजवंशों के साथ विवाह संबंध स्थापित किए।

2.1.5.3.1. नागवंश

गुप्तकाल में नाग-वंश एक शक्तिशाली वंश था जिसकी अनेक शाखाएँ भारत के विभिन्न भागों में शासन कर रहीं थीं। पूना एवं रिठपुर ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्तद्वितीय ने नागवंशीय राजकुमारी कुबेरनागा से विवाह किया था और इस प्रकार नागों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने इस विवाह के महत्व के विषय में लिखा है, ''नाग, एक शक्तिशाली शासक जाति थी और उनसे विवाह-मैत्री चंद्रगुप्तको अभिनव-स्थापित गुप्तों की अधीश्वरी सत्ता को शक्तिशाली बनाए रखने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई होगी।''

2.1.5.3.2. वाकाटक-वंश

वाकाटक-वंश दक्षिणापथ का एक अत्यंत शक्तिशाली राजवंश था। समुद्रगुप्त ने भी अपने दक्षिणापथ के अभियान के समय उनसे युद्ध नहीं लड़ा था, इसी से वाकाटक-वंश की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने वाकाटक-वंश के राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय से अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह कर दिया। इस विवाह-संबंध का अत्यधिक राजनीतिक महत्व था। एक शक्तिशाली साम्राज्य होने के अतिरिक्त वाकाटक राज्य अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण शकों पर विजय प्राप्त करने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण था। इस विषय में स्मिथ ने लिखा है, ''वाकाटक-नरेश के राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि वह गुजरात व सौराष्ट्र के शक-क्षत्रपों के विरुद्ध किसी भी उत्तरी भारत की शक्ति के लिए उपयोगी अथवा अनुपयोगी सिद्ध हो सकता था।'' अतः शकों के विरुद्ध अभियान में चंद्रगुप्तको अपने दामाद रुद्रसेन से अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 390 ई. में रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् प्रभावती गुप्त ने ही वाकाटक राज्य का संचालन किया जिससे वाकाटक-साम्राज्य पर गुप्त-वंश का भारी प्रभाव स्थापित हो गया। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से यह विवाह-संबंध अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ।

2.1.5.3.3. कदंब-वंश

कदंब वंश कुंतल में राज्य कर रहा था। चंद्रगुप्तने दक्षिण के इस राजवंश के साथ भी वैवाहिक संबंध स्थापित किए जिसके विषय में तालगुंड के स्तंभ-लेख से पता चलता है। इस लेख के अनुसार ककुत्स्थवर्मन नामक कुंतल-शासक की राजकन्या का गुप्त-वंश में विवाह हुआ था। कालिदास व क्षेमेंद्र की रचनाओं से भी चंद्रगुप्तद्वितीय व कदंब-वंशीय शासक के मैत्रीपूर्ण संबंधों पर प्रकाश पड़ता है।

2.1.5.4. शक-विजय

चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल की सर्व प्रमुख घटना उसके द्वारा शकों को परास्त किया जाना था। समुद्रगुप्त ने यद्यपि भारत के विस्तृत भू-भाग पर विजय प्राप्त की थी किंतु उसकी विजय का गुजरात व काठियावाड़ में शासन कर रहे शकों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ था। चंद्रगुप्तद्वितीय भारत से विदेशी-राज्य

को पूर्णतः समाप्त करना चाहता था तथा वाकाटकों के गुप्तों के सहयोगी (विवाह-संबंधद्वारा) बन जाने के कारण चंद्रगुप्त के लिए शकों को परास्त करने का कार्य सुगम हो गया था। डॉ. बसाक ने लिखा है कि मालवा व सौराष्ट्र पर विजय प्राप्त करने में चंद्रगुप्त को अपने दामाद (वाकाटक राजा) से यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई थी।

चंद्रगुप्त द्वितीय की शक-विजय के विषय में विभिन्न साधनों से प्रकाश पड़ता है। साहित्यिक स्रोतों में देवीचंद्रगुप्तम् (विशाखदत्त) व हर्षचरित आदि ग्रंथों में चंद्रगुप्तद्वारा शक-राजा की हत्या किए जाने का वर्णन मिलता है। अभिलेखीय साक्ष्यों में उदयगिरी पर्वत से प्राप्त लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। चंद्रगुप्तद्वितीय की अनेक मुद्राओं व शकों की मुद्राओं से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

2.1.5.4.1. युद्ध की घटनाएँ

वाकाटकों से सहयोग प्राप्त करने के उपरांत चंद्रगुप्तद्वितीय ने सर्वप्रथम मालवा पर अधिकार किया तथा मालवा को आधार बनाकर चंद्रगुप्तने शकों पर आक्रमण किया। इस युद्ध में चंद्रगुप्तद्वितीय ने शकों को परास्त किया तथा शकराज रुद्रसिंह तृतीय मारा गया। तत्पश्चात् चंद्रगुप्तद्वितीय ने शक-राज्य को गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार शक-सत्ता का भारत से उन्मूलन करने में चंद्रगुप्त द्वितीय सफल हुआ। चंद्रगुप्तद्वितीय ने 'शकारि' की उपाधि इसी विजय के उपरांत धारण की थी। चंद्रगुप्तद्वितीय की 'विक्रमांक' व 'विक्रमादित्य' उपाधियाँ भी इसी विजय की ओर संकेत करती हैं क्योंकि भारतीय परंपरा के अनुसार 57 ई. पू. में राजा विक्रमादित्य ने भी इसी प्रकार शकों का उन्मूलन किया था, अतः संभवत: चंद्रगुप्त द्वितीय ने इसी कारण ये उपाधियाँ धारण की होगी। डॉ. मजूमदार ने इस विषय में लिखा है कि चंद्रगुप्तद्वितीय के द्वारा धारण किए गए विरुद, युद्ध-स्थल में प्राप्त उस यश के परिचायक हैं जो कि हिंदू पौराणिक गाथाओं में उच्चतम आदर्शों के प्रतीक स्वीकार किए जाते हैं।

2.1.5.4.2. महत्व

चंद्रगुप्त द्वितीय की शकों पर विजय का अत्यधिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्व है। इसी कारण वी. ए. स्मिथ ने चंद्रगुप्त की इस विजय को उसकी महानतम् विजय कहा है। इसी विजय के परिणामस्वरूप तीन शताब्दियों से भी पुराने विदेशी राज्य का पश्चिमी भारत से लोप हो गया। इसके अतिरिक्त इस विजय के परिणामस्वरूप ही गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिमी मालवा तक विस्तृत हो गईं उपरोक्त राजनीतिक महत्व के अतिरिक्त शक-विजय का अत्यधिक आर्थिक व सांस्कृतिक महत्व भी है। इस विजय के परिणामस्वरूप गुप्त-साम्राज्य के अधीन भृगुकच्छ (भड़ौंच) का बंदरगाह भी आ गया। इस बंदरगाह से ही भारत का पश्चिमी देशों के लिए व्यापार होता था। इस प्रकार इस व्यापार पर गुप्तों का नियंत्रण हो गया जिससे आर्थिक लाभ के साथ-साथ उनकी ख्याति पश्चिमी देश में भी पहुँचने लगी।

2.1.5.5. गणराज्यों पर विजय

समुद्रगुप्त ने अपने विजय-अभियान के द्वारा अनेकानेक गणराज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया था किंतु उन्हें गुप्त-साम्राज्य में विलीन नहीं किया था। चंद्रगुप्तद्वितीय ने इन गणराज्यों पर विजय प्राप्त करके गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया।

2.1.5.6. बाह्लीक विजय

महरौली स्तंभ-लेख में कहा गया है कि चंद्रगुप्तने सिंधु के पाँच मुखों को पार कर बाह्लीकों पर विजय प्राप्त की। डॉ. मजूमदार आदि कुछ विद्वानों ने बाह्लीक का समीकरण बैक्ट्रिया से किया है और इस प्रकार चंद्रगुप्तको बैक्ट्रिया पर विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया है किंतु अनेक विद्वान इस मत से सहमत नहीं है। प्रो. यू. एन. राय ने लिखा है कि बाह्लीक (बल्ख) विजय से तात्पर्य बाह्लीक जाति से है जो कि उस समय भारत वर्ष में महत्वपूर्ण सत्ता के रूप में शासन कर रही थी। प्रो. राय के विचार में बाह्लीक उत्तरी-कुषाणों को कहते थे क्योंकि वे किसी समय बैक्ट्रिया के शासक रह चुके थे। अतः चंद्रगुप्तने इसी प्रदेश में उत्तरी-कुषाणों को परास्त किया होगा। इस विजय की स्मृति में विष्णुपद (व्यास नदी के समीप) पर चंद्रगुप्तने विष्णुध्वज (लौह स्तंभ) की स्थापना की। कालांतर में यह लौह-स्तंभ फिरोजशाह तुगलक द्वारा अपने मूल-स्थान से दिल्ली में स्थानांतरित किया गया।

2.1.5.7. पूर्वी प्रदेशों पर विजय

मेहरौली स्तंभ-लेख से ही चंद्रगुप्तद्वितीय की पूर्वी प्रदेशों पर विजय के विषय में पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामगुप्त के शासनकाल में उसकी दुर्बलता से लाभ उठाकर समुद्रगुप्त द्वारा पराजित बंगाल व अन्य पूर्वी प्रदेशों के शासकों ने एक संघ बना लिया। चंद्रगुप्तद्वितीय ने इस संघ को परास्त किया। इस प्रकार इस विजय से संपूर्ण वंग-प्रदेश पर गुप्तों का अधिपत्य हो गया तथा ताम्रलिप्ति का महत्वपूर्ण बंदरगाह भी गुप्तों के अधीन हो गया।

2.1.5.8. दक्षिणापथ से संबंध

महरौली स्तंभ-लेख में कहा गया है कि चंद्र के प्रताप से दक्षिणी सागर सुगंधित हो उठा था। इस आधार पर कुछ इतिहासकारों का विचार है कि चंद्रगुप्तने दक्षिण के राजाओं को भी परास्त किया था किंतु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि किसी अन्य स्रोत से इसकी पुष्टि नहीं होती।

2.1.5.9. साम्राज्य-विस्तार

अपनी विजय के परिणामस्वरूप चंद्रगुप्तद्वितीय ने एक विशाल गुप्त-साम्राज्य की स्थापना की। उसका राज्य पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक, उत्तर में हिमालय की तलहटी से दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत था।

2.1.6. कुमारगुप्त प्रथम (413 ई.-455 ई.)

चंद्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय के साँची अभिलेख से प्राप्त अंतिम तिथि 412 ई. है तथा कुमारगुप्त की प्रथम ज्ञात तिथि 415 ई. है जो कि भिलसद अभिलेख से ज्ञात होती है। इस प्रकार कुमारगुप्त 412 व 415 ई. के मध्य किसी समय शासक बना होगा। इसी आधार पर अधिकांश विद्वानों का विचार है कि वह 413 ई. में सिंहासनारूढ़ हुआ। कुमारगुप्त प्रथम की चाँदी की मुद्राओं से ज्ञात अंतिम तिथि 455 ई. है, अतः स्पष्ट है कि कुमारगुप्त ने 413 ई. से 455 ई. तक शासन किया था।

2.1.6.1. स्रोत

कुमारगुप्त के विषय में उसके अभिलेखों व मुद्राओंसे जानकारी प्राप्त होती है। कुमारगुप्त के तेरह अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त दामोदरपुर, धनैदह व वैग्राम के ताम्रपत्रों से भी कुमारगुप्त के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। कुमारगुप्त की मुद्राओं से भी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। स्कंदगुप्त के भीतरी अभिलेख से भी कुमारगुप्त के शासनकाल पर प्रकाश पड़ता है।

2.1.6.2. विरुद

कुमारगुप्त ने अनेक उपाधियाँ धारण कीं, जिनके विषय में उसके अभिलेखों व मुद्राओं से पता चलता है। उसने महेंद्रकुमार, श्रीमहेंद्र, श्रीमहेंद्रसिंह, अजित-महेंद्र, 'गुप्तकुल-व्योम शशि' आदि उपाधियाँ धारण की थीं। उसकी सबसे प्रमुख उपाधि 'महेन्द्रादित्य' थी।

2.1.6.3. शासनकाल की प्रमुख घटनाएँ

कुमारगुप्त के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसके शासन के प्रारंभिक वर्ष शांतिपूर्वक व्यतीत हुए। कुमारगुप्त को पैतृक रूप में अपने पिता का विस्तृत साम्राज्य प्राप्त हुआ था, अतः साम्राज्य विस्तार की ओर ध्यान न देकर उसने अपने शासनकाल के प्रारंभ में साम्राज्य के साधनों का प्रयोग सार्वजनिक एवं धार्मिक कृत्यों में किया। भिलसद अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के साम्राज्य में चतुर्दिक सुख एवं शांति का वातावरण विद्यमान था।

2.1.6.3.1. पुष्यमित्रों से युद्ध

स्कंदगुप्त के भीतरी अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के शासनकाल का अंतिम चरण शांतिपूर्ण न था। इस काल में पुष्यमित्रों ने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया। इस अभिलेख के अनुसार इस आक्रमण के परिणामस्वरूप इस कुल की राजलक्ष्मी विचलित हो उठी। इसे स्थिर करने में स्कंदगुप्त को कठोर प्रयास करना पड़ा। पुष्यमित्रों की बाढ़ को रोकने में उसे पूरी रात्रि युद्धभूमि में ही व्यतीत करनी पड़ी। भीतरी लेख से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्रों की सैन्य-शक्ति और साधन विकसित थे तथा उनसे टक्कर लेना एक दुष्कर कार्य था। इसी कारण इस लेख में तीन बार गुप्तों की लक्ष्मी विचलित होने का

उल्लेख है, जिससे इस आक्रमण की तीव्रता का अनुमान किया जा सकता है। कुमारगुप्त इस समय तक वृद्ध हो चुका था, अतः इस युद्ध का संचालन उसके पुत्र स्कंदगुप्त ने किया तथा पुष्यमित्र जैसे शक्तिशाली एवं भयंकर आक्रमणकारियों को परास्त कर उसने अपनी योग्यता एवं शक्ति को प्रदर्शित किया। स्कंदगुप्त की यह विजय अत्यंत महत्वपूर्ण थी क्योंकि इस विजय से पुष्यमित्रों ने उत्पात, भय और आतंक की जो स्थिति उत्पन्न कर दी थी वह समाप्त हो गई और उनके विचलित कर देने वाले प्रहारों से गुप्तवंश विलुप्त होने से बच गया।

कुमारगुप्त के साम्राज्य पर आक्रमण करने वाले ये पुष्यमित्र कौन थे ? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त के शासनकाल में किसी विदेशी शक्ति ने ही गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया था जिन्हें पुष्यमित्र कहा गया है।

2.1.6.3.2. दक्षिणी-अभियान

कुछ इतिहासकारों का विचार है कि कुमारगुप्त ने भी समुद्रगुप्त के समान दक्षिण भारत का अभियान किया था। अपने मत के समर्थन में ये विद्वान सतारा जिले से प्राप्त 1395 मुद्राओं व एलिचपुर से प्राप्त 13 मुद्राओं का सहारा लेते हैं। इसके अतिरिक्त उसकी कुछ मुद्राओं पर 'व्याघ्र-बल-पराक्रम' लिखा है जिससे उपरोक्त विद्वान यह अनुमान करते हैं कि कुमारगुप्त ने नर्मदा नदी को पार कर व्याघ्र-युक्त अरण्य-क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयास किया था, किंतु इन स्रोतों के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है क्योकि संभव है कि सतारा व एलिचपुर से प्राप्त मुद्राएँ व्यापारिक-संबंधों के कारण वहाँ पहुँची हों। इसके अतिरिक्त यदि कुमारगुप्त ने दक्षिण-अभियान किया भी था तो उसको विजय प्राप्त हुई अथवा नहीं, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता।

2.1.6.3.3. अश्वमेध यज्ञ

कुमारगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया था। उसके इस यज्ञ के विषय में उसके किसी अभिलेख में वर्णन नहीं मिलता, किंतु उसकी मुद्राओं से इसकी पुष्टि होती है। उसकी 'अश्वमेध प्रकार' की मुद्राओं के मुख भाग पर सुसज्जित यज्ञ का अश्व व सम्राट का नाम उत्कीर्ण किया गया है। दूसरी ओर कुमारगुप्त की उपाधि 'अश्वमेधमहेंद्रः' लिखी हुई है। यह अश्वमेध यज्ञ किस विजय के उपलक्ष्य में किया गया था, यह स्पष्ट नहीं है।

2.1.6.3.4. साम्राज्य विस्तार

कुमारगुप्त को पैतृक संपत्ति के रूप में अपने पिता का विस्तृत साम्राज्य मिला था। कुमारगुप्त एक प्रतापी शासक व महान योद्धा नहीं था, अतः वह पैतृक रूप में प्राप्त साम्राज्य का विस्तार न कर सका, किंतु फिर भी वह अपने विशाल साम्राज्य को अक्षुण रखने में सफल रहा। कुमारगुप्त के शासनकाल के अंतिम चरण में यद्यपि गुप्तसाम्राज्य पर पुष्यमित्रों ने आक्रमण किया किंतु कुमारगुप्त ने अपने साम्राज्य को विघटित न होने दिया। करमदण्डा अभिलेख में कुमारगुप्त के राज्य-विस्तार का वर्णन करते हुए कहा गया

है, "कुमारगुप्त एक विशाल साम्राज्य पर शासन करता था जो उत्तर में सुमेरू व कैलाश पर्वतों से दक्षिण में विंध्य वनों तक तथा पूर्व व पश्चिम में सागरों के बीच में फैला हुआ था। इनके बीच में उसका राज्य मेखला की भाँति झूल रहा था।" मन्दसौर अभिलेख के अनुसार कुमारगुप्त संपूर्ण पृथ्वी का शासक था जो चारों ओर समुद्र से घिरी हुई थी। कुमारगुप्त की मुद्राओं का भी भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त होना उसके विशाल साम्राज्य का द्योतक है। इस प्रकार कुमारगुप्त का साम्राज्य उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा नदी तक, व पूर्व में बंगाल से पश्चिम में सौराष्ट्र तक विस्तृत था।

2.1.7. स्कंदगुप्त (455 ई.-467 ई.)

पुष्यमित्रों के आक्रमण के दौरान ही गुप्त-शासक कुमारगुप्त प्रथम की 455 ई. में मृत्यु हो गई थी। अतः कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र स्कंदगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। स्कंदगुप्त ने अपनी योग्यता एवं बाहुबल का परिचय युवराज के रूप में शक्तिशाली पुष्यमित्रों को परास्त करके पहले ही दे दिया था। स्कंदगुप्त, गुप्त-वंश का अंतिम प्रतापी शासक था।

2.1.7.1. उत्तराधिकार युद्ध

कुछ विद्वानों का विचार है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर अधिकार करने के लिए उसके पुत्रों में पारस्परिक संघर्ष हुआ था। इस मत के समर्थकों में डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. गांगुली व डॉ. गुप्ता हैं। अपने मत के समर्थन में ये विद्वान भितरी एवं जूनागढ़ के लेखों का उल्लेख करते हैं, किंतु अधिकांश विद्वानों का विचार है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् कोई उत्तराधिकार का युद्ध नहीं हुआ था। इन विद्वानों का विचार है कि जूनागढ़ अभिलेख में लक्ष्मी द्वारा वरण किए जाने का तात्पर्य यह नहीं है कि स्कंदगुप्त ने उत्तराधिकार का युद्ध लड़ा था अपितु इसका तात्पर्य यह है कि कुमारगुप्त प्रथम ने अपने सब पुत्रों में सबसे वीर, योग्य, चरित्रवान और शुद्ध चित्तवाला पाकर उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। ऐसी स्थिति में उत्तराधिकार के लिए युद्ध होने की संभावना प्रतीत नहीं होती।

2.1.7.2. स्रोत

स्कंदगुप्त के व्यक्तित्व एवं उपलब्धियों पर प्रकाश डालने वाले प्रमुख स्रोत उसके अभिलेख हैं। इन अभिलेखों में जूनागढ़-शिलालेख, कहौम-स्तंभ लेख, इंदौर का ताम्रलेख, भितरी स्तंभ लेख, सुपिया स्तंभ लेख, गढ़वा का शिलालेख उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त अनेक साहित्यिक ग्रंथों व स्कंदगुप्त की मुद्राओं से भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। स्कंदगुप्त के विषय में जानकारी देने वाले साहित्यिक ग्रंथों में कथासरित्सागर, चंद्रगर्भ परिपृच्छा, चन्द्र-व्याकरण तथा आर्यमंजुश्रीमूलकल्प प्रमुख हैं।

2.1.7.3. उपाधियाँ

स्कंदगुप्त ने अनेक विरुद धारण किए थे। देवराज, विक्रमादित्य, क्रमादित्य उसकी प्रमुख उपधियाँ थीं। कहौम-लेख में स्कंदगुप्त को शक्रोपम (इंद्र के समान) कहा गया है। विभिन्न उपाधियों के

कारण ही आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में उसे विविधाख्य (अनेक नामों वाला नरेश) कहा गया है। स्कंदगुप्त अत्यंत योग्य एवं प्रतापी शासक था। युवराज के रूप में उसे पुष्यमित्रों का सामना करने के लिए कुमारगुप्त के द्वारा भेजा गया था, जो इस बात का द्योतक है कि वह अपने सब भाइयों से सैनिक योग्यता में बढ़-चढ़कर था।

2.1.7.4. पुष्यमित्रों पर विजय

कुमारगुप्त के शासनकाल के अंतिम चरण में गुप्त-साम्राज्य पर पुष्यमित्रों द्वारा आक्रमण किया गया था। पुष्यमित्रों के विरुद्ध हुए युद्ध में गुप्त-सेना का नेतृत्व स्कंदगुप्त ने ही किया था। पुष्यमित्र अत्यंत शक्तिशाली था। भितरी स्तंभ लेख से ज्ञात होता है कि प्रारंभ में उनके प्रबल व भयंकर आक्रमण के आघात से गुप्त-राजशक्ति क्षीण होने लगी थी तथा गुप्त-राजलक्ष्मी विचलित हो गई थी। अतः स्कंदगुप्त को अपने वंश की राजलक्ष्मी को स्थिर रखने, क्षतिग्रस्त साम्राज्य को पुनः संगठित करने तथा पुष्यमित्रों की शक्ति कुचलने के लिए दिन-रात का विचार त्याग कर उनसे संघर्ष करना पड़ा और उस कठिन परीक्षा के समय में एक रात्रि तो उसे नंगी पृथ्वी पर ही व्यतीत करनी पड़ी। अंत में, अपने प्रबल पराक्रम द्वारा युवराज स्कंदगुप्त ने पुष्यमित्रों को न्यस्त व पराभूत कर उन पर पूर्ण विजय प्राप्त की और उनके राजा को 'चरणपीठ' बना कर उस पर अपना वाम-पाद स्थापित कर उन्हें सदैव के लिए शांत कर दिया।

स्कंदगुप्त की यह विजय अत्यंत महत्वपूर्ण थी क्योंकि इस विजय के परिणामस्वरूप, पुष्यमित्रों ने गुप्त-साम्राज्य में उत्पात, भय और आतंक की जो स्थिति उत्पन्न कर दी थी, वह समाप्त हो गई तथा उनके विचलित कर देने वाले प्रहारों से गुप्त-वंश की रक्षा हो गई। भितरी-लेख के अनुसार स्कंदगुप्त के अनुपम तेज, निर्मल-चरित्र, शांत-चित्तता, धीरज और शौर्य से ही यह संभव हुआ था। अतः शत्रुओं के आतंक से मुक्ति दिलाने वाले स्कंदगुप्त के वीर कृत्यों को हर प्रदेश में सुखी जनों (यहाँ तक कि बच्चों तक) ने गाया। इस प्रकार स्कंदगुप्त अपने बाहुबल व सैन्य-कौशल से शत्रुओं को परास्त करने व अपनी राजलक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठित करने में पूर्णतया सफल रहा।

2.1.7.5. हूणों पर विजय

हूणों का गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण स्कंदगुप्त के शासनकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। हूण बर्बर योद्धा थे, जो मध्य एशिया के खानाबदोश लोग थे। अपनी बर्बरता व युद्धकौशल के कारण उन्हें 'खुदा का कहर' कहा जाता था। भारत पर आक्रमण करने से पूर्व उन्होंने डैन्यूब से सिंधु नदी तक के क्षेत्र को आतंकित किया था। स्कंदगुप्त के सिंहासनारूढ़ होते ही उसे हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। स्कंदगुप्त ने अत्याचारी हूणों को परास्त कर न केवल गुप्त-साम्राज्य की रक्षा की वरन् आर्य सभ्यता एवं संस्कृति को भी नष्ट होने से बचाया।

स्कंदगुप्त व हूणों के मध्य हुए संघर्ष के विषय में जूनागढ़ अभिलेख, भितरी अभिलेख, चंद्रगर्भ-परिपृच्छा, चंद्र-व्याकरण तथा कथासरित्सागर आदि ग्रंथों से प्रकाश पड़ता है। भितरी लेख से ज्ञात होता है कि स्कंदगुप्त हूणों के दर्प को चूर करने में पूर्णतः सफल रहा। इसके अनुसार, "जिस समय हूणों व

स्कंदगुप्त के मध्य युद्ध हुआ उस समय स्कंदगुप्त की भुजाओं के प्रताप से संपूर्ण पृथ्वी काँपने लगी और एक भयंकर बवंडर उठ खड़ा हुआ।'' इसी लेख में पुनः कहा गया है कि स्कंदगुप्त ने अपनी दोनों भुजाओं से अवनी को जीत लिया था जिससे दिन-प्रतिदिन उसका यश बढ़ता चला गया तथा वह बंदीजनों की स्तुति का विषय बन गया। जूनागढ़ अभिलेख में स्कंदगुप्त की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि स्कंदगुप्त ने हूणों के गर्व को इस प्रकार चूर कर दिया था कि वे अपने देश में भी उसका यशोगान करने लगे थे। साहित्यिक ग्रंथों में भी हूणों पर स्कंदगुप्त की विजय का वर्णन मिलता है।

स्कंदगुप्त ने हूणों को परास्त करने के पश्चात् 'विक्रमादित्य' व 'क्रमादित्य' की उपाधियाँ धारण कीं तथा इस विजय के उपलक्ष्य में उसने शारंग धारण करने वाले (सींग का बना धनुष धारण करने वाले) भगवान विष्णु की मूर्ति भितरी में स्थापित की।

2.1.7.6. दिग्विजय

उल्लेखनीय है कि स्कंदगुप्त के विरुद्ध हुए विद्रोह व आक्रमण उसके शासनकाल के प्रारंभ में ही हुए थे। भितरी अभिलेख के अनुसार पिता के निधन के पश्चात् स्कंदगुप्त पर अनेक विपत्तियाँ आईं तथा उसने अपने भुजबल से अपने शत्रुओं को परास्त किया। उसके लेखों से ऐसा आभास मिलता है कि उसने अपने शत्रुओं का दमन अपने शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों में ही कर दिया था व उसके शेष वर्ष शांतिपूर्वक व्यतीत हुए। इसकी पुष्टि कहौम अभिलेख (460 ई.) से भी होती है।

2.1.7.7. साम्राज्य विस्तार

स्कंदगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं को निर्धारित करने में उसके लेख सहायक हैं, स्कंदगुप्त को उत्तराधिकार के रूप में अपने पिता का विशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ था जिसे अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अक्षुण्ण रखने में स्कंदगुप्त सफल हुआ। स्कंदगुप्त के लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि उसका साम्राज्य गुजरात से बंगाल तक विस्तृत था। जूनागढ़ अभिलेख के अनुसार उसका साम्राज्य चारों समुद्रों तक फैला हुआ था। 467 ई. में स्कंदगुप्त की मृत्यु हो गई।

2.1.8. सारांश

गुप्त-युग भारत के इतिहास में राजनीतिक उत्थान का युग था। गुप्त-शासकों ने भारत को राजनीतिक एकता, सुरक्षा व शांति की भावना प्रदान की। डॉ. आर. एस. त्रिपाठी ने भी गुप्त-युग को स्वर्ण-युग मानते हुए लिखा है, ''गुप्त-सम्राटों का काल भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है। इस काल के अनेक उदात्त, मेधावी और शक्तिशाली राजाओं ने उत्तर-भारत को एक छत्र के नीचे संगठित कर शासन में सुव्यवस्था तथा देश में समृद्धि व शांति की स्थापना की।'' स्मिथ ने भी भारतीय इतिहास में गुप्त युग को सर्वश्रेष्ठ माना है। एल. डी. बारनेट ने गुप्त-युग को भारत का 'पेरिक्लिज-युग' कहा है। गुप्त-युग को 'क्लासिकल एज' की भी संज्ञा दी जाती है। गुप्तकालीन प्रमुख शासक निम्नलिखित हैं जिनके काल में गुप्तकालीन राजनीतिक उत्थान हुआ।

1. चंद्रगुप्तप्रथम (319 ई.-324 ई.)
2. समुद्रगुप्त (335 ई.-380 ई.)
3. चंद्रगुप्तद्वितीय/चंद्रगुप्तविक्रमादित्य (380 ई.-412 ई. पू.)
4. कुमारगुप्त प्रथम (413 ई.-455 ई.)
5. स्कंदगुप्त (455 ई.-467 ई.)

2.1.9. बोध प्रश्न

2.1.9.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

01. गुप्तकाल की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।
02. गुप्त संवत् पर प्रकाश डालिए।
03. समुद्रगुप्त के काल के प्रमुख स्रोत कौन-कौन से हैं।
04. चंद्रगुप्तद्वितीय के काल के प्रमुख स्रोत कौन-कौन से हैं।
05. चंद्रगुप्तद्वितीय की उपाधियों के नाम लिखिए।
06. समुद्रगुप्त का साम्राज्य कहाँ से कहाँ तक विस्तृत था?
07. कुमारगुप्त के काल के प्रमुख स्रोत कौन-कौन से हैं।
08. कुमारगुप्त के विरुदों के नाम लिखिए।
09. स्कंदगुप्त के काल में हुए उत्तराधिकार युद्ध के विषय में आप क्या जानते हैं?
10. स्कंदगुप्त की हूणों पर विजय पर एक लेख लिखिए।

2.1.9.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

01. समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन कीजिए।
02. समुद्रगुप्त के उत्तर भारत के विजय अभियान का वर्णन कीजिए।
03. समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय का वर्णन कीजिए।
04. चंद्रगुप्तप्रथम की राजनीतिक उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
05. चंद्रगुप्तद्वितीय की राजनीतिक उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
06. कुमारगुप्त प्रथम की राजनीतिक उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
07. स्कंदगुप्त की राजनीतिक उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
08. समुद्रगुप्त और सीमावर्ती राज्यों के मध्य संबंधों का मूल्यांकन कीजिए।
09. "चंद्रगुप्तविक्रमादित्य एक योग्य पिता का योग्य पुत्र था।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।
10. गुप्तकालीन राजनीतिक उत्थान पर एक निबंध लिखिए।

2.2.10 संदर्भ ग्रंथ

01. रमशेचंद्र मजूमदार : प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
02. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1963
03. विमल चंद्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद
04. वी. वी. मिराशी : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, 1964
05. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संस, वाराणसी, 1962
06. वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारत, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, सं. 2012 वि.
07. प्रशांत कुमार जायसवाल: शककालीन भारत, साधना सदर, इलाहाबाद, फरवरी, 1993
08. राधाकुमुद मुखर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
09. राजबली पाण्डेय : विक्रमादित्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1960
10. ए.एल. बाशम : अद्भुत भारत: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा, 1967
11. नगेन्द्रनाथ घोष एम.ए. : भारत का प्राचीन इतिहास: इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, 1951
12. रैप्सन, ई.जे. : कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1
13. रैप्सन, ई.जे. : एन्श्यिंट इंडिया, कैम्ब्रिज 1922
14. एच.सी. राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
15. के.ए. नीलकंठ शास्त्री : हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1, एंशेण्ट इंडिया, मद्रास, 1950
16. मजूमदार तथा पुसलकर : दी क्लासिकल एज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
17. ए. एस. अल्तेकर : वाकाटक-गुप्त एज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1960

खंड 2 : गुप्तकाल
इकाई - 2 : सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन

इकाई की संरचना

2.2.1. उद्देश्य
2.2.2. प्रस्तावना
2.2.3. गुप्तकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन
2.2.3.1. सामाजिक स्थिति
2.2.3.2. गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था
2.2.3.3. साहित्य के क्षेत्र में प्रगति
2.2.3.4. धार्मिक स्थिति
2.2.3.5. कला एवं स्थापत्य
2.2.3.5.1. मूर्तिकला
2.2.3.5.2. चित्रकला
2.2.3.5.3. वास्तुकला
2.2.4. सारांश
2.2.5. अपनी प्रगति की जाँच करें प्रश्नों के उत्तर
2.2.6. बोध प्रश्न
2.2.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ सूची

2.2.1. उद्देश्य

इस इकाई लेखन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. गुप्तकालीन समाज एवं धार्मिक स्थिति की जानकारी प्रदान करना।
2. गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था की जानकारी प्रदान करना।
3. गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य की जानकारी देना।

2.2.2. प्रस्तावना

मौर्यकाल के पश्चात् भारतीय इतिहास का सर्वमहत्वपूर्ण काल गुप्तकाल था। गुप्तकालीन सम्राट समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्तविक्रमादित्य एक साम्राज्य निर्माता के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास के वाहक भी थे। ये दोनों ही रचनात्मक प्रतिभा के धनी थे। इन दोनों ने अपने दरबार में विद्वानों को आश्रय दिया। इनके अलावा अन्य गुप्त सम्राटों ने भी गुप्तकालीन संस्कृति को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस काल में कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। कालिदास जैसे साहित्यकारों ने गुप्तकालीन साहित्य को समृद्ध किया। यद्यपि गुप्त शासक विष्णु के उपासक थे फिर भी इन्होंने धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर चलते हुए सभी धर्मों की उपासना हेतु अपने अधीनस्थों को स्वतंत्रता प्रदान की। गुप्तकाल में ताम्रलिप्ति एवं भड़ौंच प्रसिद्ध बंदरगाह थे जहाँ से जल मार्ग द्वारा विदेशोंके साथ व्यापार होता था। व्यापार में प्रगति भी गुप्तकालीन समृद्धि का एक प्रमुख कारण था। गुप्तकाल के सभी क्षेत्रों में सांस्कृतिक

उपलब्धियों को देखते हुए विद्वानों ने इसे भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग की संज्ञा दी है। उक्त समस्त घटनाक्रम की विस्तृत वैज्ञानिक एवं तथ्यपरक विवेचना इस इकाई में की जाएगी।

2.2.3. गुप्तकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल सांस्कृतिक विकास का युग माना जाता है। गुप्त शासक मात्र साम्राज्य निर्माता ही नहीं थे, अपितु संस्कृति के उन्नायक भी थे। इन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा को उभारते हुए गुप्तकालीन सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

2.2.3.1 सामाजिक स्थिति (Social Condition)

गुप्तकाल एवं गुप्तोत्तर काल (600-1200 ई.) में सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। गुप्तकाल में परंपरागत चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एंव शूद्र का अस्तित्व था। वराहमिहिर के अनुसार, ''ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के घर क्रमशः पाँच, चार, तीन एवं दो कमरे वाले होने चाहिए।'' समाज में ब्राह्मण को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। यज्ञ, अनुष्ठान के अलावा भी कुछ ब्राह्मणों ने अन्य जातियों के पेशे अपना लिए थे। कुछ ब्राह्मण व्यापार-वाणिज्य का व्यवसाय भी करते थे, जिसे स्मृतियों में 'आपद्धर्म' कहा गया है। कुछ क्षत्रियों ने भी व्यापार एवं औद्योगिक वृत्ति अपना ली थी। इस प्रकार सभी वर्गों की परंपरागत वृत्तियों में शिथिलता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगी थी। कृषक, पशुपालक, जुलाहे आदि की विशिष्ट जातियों का उद्भव हो रहा था। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप अंबष्ठ, पारशव, उग्र एवं करण आदि मिश्रित जातियों का भी उद्भव हो रहा था। सर्वप्रथम कायस्थ जाति का उल्लेख इस काल में मिलता है जो पेशे से लेखक थे। स्मृतियों ने शूद्रों को व्यापार, शिल्प व कृषि कार्य की अनुमति प्रदान कर दी थी। फा-हियान के अनुसार, ''चांडाल गाँव से बाहर रहते थे व शहर प्रवेश के समय लाठी से ठक-ठक करके आवाज करते थे, ताकि लोग उनसे स्पर्श करने से बचे रहें।'' गुप्तकालीन समाज में दास प्रथा अस्तित्व में आ चुकी थी, परंतु यह पश्चिमी देशों की दास प्रथा के अनुरूप जटिल नहीं थी।

समाज में स्त्रियों को प्रतिष्ठित अधिकार प्राप्त था। अनुलोम विवाह प्रचलित था। समाज में विधवाओं की स्थिति अच्छी नहीं थी। याज्ञवल्क्य स्मृति कन्या के लिए उपनयन संस्कार व वेदाध्ययन निषेध करती है। सती प्रथा का उल्लेख भानुगुप्त के एरण अभिलेख में मिलता है, जिसके अनुसार उसके मित्र गोपराज की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी सती हो गई थी। यह अभिलेख 510 ई. का है।

समाज में वैश्याओं का अस्तित्व था। 'कामसूत्र' में गणिकाओं के निमित्त प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। विशाखदत्त बताता है कि उत्सवादि में काफी वेश्याएँ सड़क पर निकलती थीं। कालिदास उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में नृत्यगान करने वाली देवदासियों का उल्लेख करता है। पर्दा प्रथा प्रचलित नहीं थी। कुमार देवी ने चंद्रगुप्त के साथ (पति के साथ) मिलकर शासन चलाया था। प्रभावती गुप्त ने अपने अल्पवयस्क पुत्रों की संरक्षिका के रूप में शासन किया था। यह गुप्तकालीन स्त्रियों की स्वतंत्र स्थिति का द्योतक है। तत्युगीन स्मृतियों में स्त्रियों के संपत्ति संबंधी अधिकारको मान्यता दी गई है। स्त्री के धन का दायरा भी बढ़ाया गया था। कन्या को भी पिता की संपत्ति की अधिकारिणी माना गया था। धार्मिक कृत्यों में पति के साथ पत्नी का रहना आवश्यक था।

जनता का भोजन साधारण तथा सात्विक था। आम जन शाकाहारी थे। मांस-मदिरा का प्रयोग केवल चांडाल लोग ही किया करते थे। कालिदास कृत 'रघुवंशम्' में अनेक प्रकार के भोजनों का उल्लेख मिलता है। व्रत, उपवास एवं प्रायश्चित समाज में प्रचलित थे। शकुन-अपशकुन पर लोगों का विश्वास था।

2.2.3.2. गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था (Economy of Guptas)

गुप्तकालीन मुद्राएँ व अभिलेख तत्युगीन आर्थिक समृद्धि व संपन्नता को प्रमाणित करते हैं। कृषि, उद्योग-धंधे एवं व्यापार गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था के प्रमुख आधार थे।

कृषि (Agriculture)- कृषि गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार थी। राजा समस्त भूमि की माप करवाता था तथा उसे टुकड़ों में बँटवाता था। भूमि की सीमा निर्धारित की जाती थी। धान एवं ईख की खेती प्रमुख रूप से होती थी। इनके साथ-साथ गेहूँ, जूट, तिलहन, कपास, ज्वार, बाजरा, मसाले, धूप, नील आदि भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते थे।

राजा की ओर से सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था की जाती थी। कृषि की वृद्धि के लिए कुएँ, तालाब एवं नहरों का निर्माण किया जाता था। सुदर्शन झील का बाँध टूटने पर स्कंदगुप्त के सौराष्ट्र प्रांत के गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने इसकी मरम्मत कराई थी। इससे पता चलता है कि राज्य सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था करता था। दामोदरपुर ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि भूमि दान में दी जाती थी।

राजा ने कृषि संबंधी कार्यों के लिए विभिन्न पदाधिकारी नियुक्त किए थे। भूमि का मानचित्र तैयार करके अभिलेख सुरक्षित रखे जाते थे। तीन वर्ष तक कर न देने वाले व्यक्ति को भूमि से वंचित कर दिया जाता था और राज्यसभा को अधिकार प्राप्त था कि वह इस प्रकार की भूमि का विक्रय करे।

गुप्तकाल में भूमि विक्रय काफी सावधानीपूर्वक किया जाता था। भूमि क्रेता को संबंधित विषयपति के यहाँ इस हेतु आवेदन करना पड़ता था। पुस्तपाल इस आवेदन को शासक के पास भेजता था। राजा महात्तार द्वारा उस भूमि का निरीक्षण कराता था। नगर सीमा में नगराधिकारी एवं ग्राम सीमा में ग्राम-अधिकारी यह कार्य संपादित करते थे। उक्त संपूर्ण विवरण ताम्रपत्र पर लिखा जाता था। भूमि का प्रकार एवं भूमि सीमा का निर्धारण भी ताम्रपत्र पर अंकित होता था, साथ ही भूमि का मूल्य भी अंकित करना आवश्यक था।

कुल्य, द्रोण एवं पाटक प्रमुख माप उस समय प्रचलित थे। कुल्य आठ द्रोण के बराबर होता था। विक्रय-भूमि पर कुछ सरकारी नियम होते थे-

नीवी धर्म- इसमें भूमि विक्रय का अधिकार निवेदक को नहीं होता था। इसे अक्षयनीवी भी कहते हैं।

अदायिक- मृत व्यक्ति की भूमि का मालिक राजा होता था।

गुप्त निधि- भूमि के नीचे गड़ी गुप्त निधि राजकीय संपत्ति होती थी।

अग्रहार- मंदिरों एवं ब्राह्मणों को दी जाने वाली भूमि। यह कर-मुक्त होती थी। इसका विक्रय नहीं किया जा सकता था, इसे 'भूमि छिद्र न्याय' भी कहा जाता था। अतः ये लोग आगे चलकर भू-स्वामी हो गए एवं काफी समृद्ध हुए।

उद्योग धंधे- कृषि के साथ-साथ उद्योग-धंधे भी उन्नति पर थे। कपड़ा निर्यात सर्वप्रमुख उद्योग था। इसके अतिरिक्त हाथी दाँत की वस्तुएँ बनाना, मूर्तिकारी, चित्रकारी, शिल्प कार्य, मिट्टी के बर्तन बनाना, जहाज निर्माण आदि अन्य उद्योग-धंधे प्रचलित थे।

व्यवसाय एवं उद्योगों का संचालन श्रेणियाँ करती थीं। श्रेणी(Guild) एक ही प्रकार के व्यवसाय तथा शिल्प वालों की समिति होती थी। श्रेणियों के अपने नियम एवं न्यायालय होते थे, जिन्हें राज्य की

मान्यता प्राप्त थी। श्रेणियाँ बैंक का कार्य भी करती थीं। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान तथा चार या पाँच व्यक्तियों की एक कार्यकारिणी होती थी। श्रेणियाँ एक तरह से स्वायत्तशासी संस्थाएँ थीं। प्रत्येक श्रेणी के पास अपनी एक मुहर होती थी। वैशाली से एक संयुक्त श्रेणी की 274 मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। श्रेणियाँ काफी संपन्न होती थीं। 'मंदसौर अभिलेख' से मालूम होता है कि दशपुर में जुलाहों की एक श्रेणी थी, जिसने सूर्य मंदिर की स्थापना की थी। इंद्रपुर(इंदौर) ताम्रपत्र में भी एक तैलिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है।

गुप्तकालीन व्यापार एवं उसका बदलता स्वरूप (Changing Pattern of the Gupta's Trade)

गुप्तकाल में व्यापार प्रगति पर था। पाटलिपुत्र, वैशाली, उज्जैन, दशपुर, भड़ौंच, प्रतिष्ठान, विदिशा, प्रयाग, मथुरा, अहिच्छत्र एवं कौशांबी आदि प्रसिद्ध नगर तथा व्यापारिक केंद्र थे। चंद्रगुप्त द्वितीय ने उज्जैन को अपना प्रसिद्ध नगर बनाया एवं यहीं वराहमिहिर ने पृथ्वी का देशांतर तैयार किया था। कालिदास एवं शूद्रक के ग्रंथों में भी इस नगर के वैभव का पता चलता है। शूद्रक रचित 'मृच्छकटिकम्' से ज्ञात होता है कि उज्जैन में अनेक धनाढ्य श्रेष्ठी तथा सौदागर निवास करते थे। लंबी-चौड़ी सड़कों द्वारा ये नगर आपस में जुड़े हुए थे। अतः आंतरिक व्यापार काफी प्रगति पर था।

समुद्रगुप्त द्वारा सीमावर्ती राज्यों की विजय के तहत समतट (समुद्र तटवर्ती प्रदेश, पूर्वी बंगाल) पर अधिकार हो जाने से पूर्वी बंगाल के समृद्ध बंदरगाह गुप्त राजाओं केनियंत्रण में आ गए। यहाँ का सुप्रसिद्ध बंदरगाह ताम्रलिप्ति था जहाँ से मालवाहक जहाज मलय प्रायद्वीप, लंका, चीन तथा अन्य पूर्वी द्वीपों को नियमित जाया करते थे। ताम्रलिप्ति बंदरगाह स्थल मार्ग द्वारा भी भारत के प्रमुख व्यापारिक नगरों से जुड़ा हुआ था। अतः समुद्रगुप्त द्वारा ताम्रलिप्ति बंदरगाह पर अधिकार हो जाने से तत्युगीन व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई। भारत के आंतरिक क्षेत्रों में गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा एवं कावेरी नदियों द्वारा भी व्यापार होता था। मालवाहक जहाजों का निर्माण गुप्तकाल की प्रमुख उपलब्धि थी। कुछ जहाजों में तो एक साथ 500 व्यक्ति भी बैठ सकते थे। व्यापारिक वस्तुओं में प्रमुखतः कपड़े, मसाले, खाद्यान्न, नमक, बहुमूल्य पत्थर आदि थे। आंतरिक क्षेत्रों में माल ढोने के लिए गाड़ियों तथा जानवरों का प्रयोग किया जाता था।

पूर्व में ताम्रलिप्ति तथा पश्चिम में भृगुकच्छ (भड़ौच) प्रसिद्ध बंदरगाह था। भृगुकच्छ से पश्चिमी देशों के साथ समुद्री व्यापार होता था। दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशों के साथ व्यापार प्रगति पर था। कपड़े, बहुमूल्य पत्थर, हाथी दाँत की वस्तुएँ, गरम मसाले, नारियल, सुगंधित वस्तुएँ, नील, दवाएँ इत्यादि प्रमुख वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं। पेरीप्लस के अज्ञातनामालेखक के अनुसार, "भड़ौंच से व्यापारिक सामग्रियाँ बाँटी जाती थीं। स्थल मार्ग से भी यूरोप के साथ व्यापार होता था। एक मार्ग रोम तथा सीरिया को और दूसरा मार्ग आक्सस एवं कैस्पियन सागर होता हुआ, मध्य यूरोप को जाता था।''

पूर्व में चीन तथा पश्चिम में अफ्रीका व यूरोप तक व्यापारियों का दोतरफा आना-जाना होता था। भारतवासी बाहर के देशों से प्रमुखतः घोड़ा, सोना, मूंगा, कपूर, रेशम का धागा, नमक आदि आयात करते थे। प्लिनी, टॉलमी एवं पेरीप्लस के अनुसार, "भारतीय व्यापार गुप्तकाल में चरमोत्कर्ष पर था।''

गुप्तकाल की पतनावस्था में गुप्तकालीन व्यापार का स्वरूप भी बदल गया था। कालांतर में भारत तथा पश्चिमी देशों के बीच व्यापारिक संबंधों में गिरावट दृष्टिगोचर होती है। प्रमाणस्वरूप कुमारगुप्त के मंदसौर अभिलेख की इस घटना का उल्लेख किया जा सकता है कि पट्टवाय श्रेणी (रेशमी बुनकरों की

श्रेणी) लाट प्रदेश को छोड़कर दशपुर जाकर बस गई थी। संभवत: पश्चिमी विश्व के साथ व्यापार में आई गिरावट इस प्रव्रजन (Migration) का कारण रहा है। इतिहासकार आर.एस. शर्मा भी आर्थिक दृष्टि से गुप्तकाल को पतन का काल मानते हैं, परंतु इस बुनकर श्रेणी द्वारा सूर्य मंदिर का निर्माण कराया जाना उसकी समृद्धि का द्योतक है एवं रोम के साथ व्यापार भी उस समय प्रगति पर था। रोम के पतन के बाद उसका स्थान कस्तुंतुनिया ने ले लिया तथा कांसटैंटाइन महान ने 330 ई. में उसे अपने व्यापार का प्रमुख केंद्र बनाया। इस समय भारत तथा रोम का व्यापार और घनिष्ठ हो गया। अतः हमें इस बात के पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते कि गुप्त युग में व्यापारवाणिज्य का ह्रास हुआ। रोमिला थापर भी गुप्तकाल को प्राचीन भारत की आर्थिक समृद्धि एवं व्यापारिक समृद्धि का अंतिम चरण मानती हैं।

वैजंतियों ने चीनियों से रेशम के कीड़े पालने की विधि सीख ली थी। पश्चिम के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों पर उसका बुरा असर पड़ा। शायद इसीलिए लाट(गुजरात) के बुनकरों को दशपुर जाना पड़ा हो। दूर देशों के साथ व्यापारिक गतिविधियाँ शिथिल पड़ गईं गुप्तकाल में धातु के सिक्कों की कमी होने लगी, जिसका मुख्य कारण व्यापारिक शिथिलता थी। व्यापार की शिथिलता और शिल्पों तथा माल उत्पादन के ह्रास के फलस्वरूप तीसरी-चौथी सदियों में बहुत-से शहर उजाड़ पड़ गए। कौशांबी, हस्तिनापुर, तक्षशिला इनके उदाहरण हैं। मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात के नोह, उज्जैन नगर पतन की अवस्था में थे। यह सब गुप्तकालीन व्यापार के बदलते स्वरूप का ही प्रतिफल कहा जा सकता है।

2.2.3..3. साहित्य के क्षेत्र में प्रगति (Development of Literature)

गुप्तकाल में संस्कृत राजभाषा बनी एवं उसकी अत्यधिक उन्नति हुई। गुप्त शासक स्वयं संस्कृत भाषा एवं साहित्य के प्रेमी थे एवं कई विद्वानों को राज्याश्रय प्राप्त था। 'प्रयाग प्रशस्ति' में समुद्रगुप्त को कविराज कहा गया है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य भी साहित्यानुरागी था। उसके दरबार के नौ-रत्न प्रख्यात विद्वान थे।

गुप्तकालीन प्रशस्तियाँ संस्कृत काव्य का सुंदर उदाहरण हैं। हरिषेण की 'प्रयाग प्रशस्ति' गुप्तकालीन साहित्य की प्रगति को दर्शाती है। इसका आधा भाग गद्य में है एवं आधा पद्य में। अतः यह चंपू काव्य का अनुपम उदाहरण है। यह संस्कृत में लिखी गई है। हरिषेण वैदर्भी तथा गौड़ी शैली का आचार्य था, जो इस प्रशस्ति से स्पष्ट है। साहित्य एवं इतिहास दोनों ही दृष्टि से यह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

चंद्रगुप्त द्वितीय का युद्ध मंत्री वीरसेन शैव की रचना उदयगिरि गुहा लेख भी साहित्यक दृष्टि से श्रेष्ठतर है। इस गुहा लेख में वीरसेन को शब्द, अर्थ, न्याय, व्याकरण, राजनीति का मर्मज्ञ, कवि एवं पाटलिपुत्र निवासी कहा गया है। कुमारगुप्त प्रथम का दरबारी कवि वत्सभट्टि भी संस्कृत का प्रकांड विद्वान था, जिसने मंदसौर प्रशस्ति की रचना की। यह संपूर्ण रचना वैदर्भी शैली में लिखेगए काव्य का अनुपम उदाहरण है।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक कालिदास इस युग के ही नहीं, अपितु संपूर्ण भारतवर्ष के श्रेष्ठतम कवि थे। उन्होंने निम्न सात ग्रंथ लिखा—

1. रघुवंशम्
2. कुमारसंभवम्
} महाकाव्य

3. मेघदूतम्
4. ऋतु सहारम्
} खंड काव्य (गीतिकाव्य)

5. मालविकाग्निमित्रम्
6. विक्रमोर्वशीयम् } नाटक
7. अभिज्ञानशाकुंतलम्

अभिज्ञानशाकुंतलम् नाटक का अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओं में हुआ है।

कालिदास को संस्कृत साहित्य का महानतम कवि कहा जाता है। उसे विद्वानों ने भारत का शेक्सपीयर (**Shakespeare of India**) कहा है। कालिदास के अतिरिक्त भारवि, शूद्रक, विशाखदत्त भी गुप्तकाल के प्रख्यात साहित्यकार थे। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन एवं बृहस्पति स्मृतियाँ भी गुप्तकालीन मानी जाती हैं। पुराणों के वर्तमान रूप का संकलन गुप्तकाल में ही हुआ। चन्द्रगोमी का 'चंद्र व्याकरण', अमर सिंह का 'अमरकोष', विष्णु शर्मा का 'पंचतंत्र' कथा संग्रह, कामंदक का 'नीतिसार', वात्स्यायन का 'कामसूत्र' गुप्तकालीन साहित्यिक प्रगति का स्पष्ट संकेत देते हैं।

2.2.3.4. धार्मिक स्थिति (Religious Condition)

गुप्त सम्राटों ने हिंदू धर्म को बढ़ावा दिया। गुप्त सम्राट विष्णु के उपासक थे। उनके ध्वज एवं मुद्राओं पर गरूड़ पक्षी अंकित है। गरूड़ , विष्णु भगवान का वाहन है। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किए और अनेक मंदिरों का निर्माण कराया। भक्ति मार्ग एवं अवतारवाद की कल्पना एवं हिंदू मंदिरों का निर्माण यद्यपि गुप्तकाल के पूर्व ही आरंभ हो चुका था, परंतु गुप्तकाल में इसे बढ़ावा मिला। ईश्वरभक्ति, मूर्ति-पूजा एवं अवतारों में आस्था लोगों में बढ़ गई। डॉ. आर.सी. मजुमदार ने लिखा है, "गुप्तकाल में हिंदू धर्म विभिन्न स्वरूपों की एक ऐसी कलाकृति बन चुका था, जिसमें प्राचीन श्रेष्ठ और निम्न सभी प्रकार के धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों को सम्मिलित किया गया था तथा जिसने खोया कुछ भी नहीं, अपितु उसमें निरंतर समाज में सम्मिलित होने वाले नूतन तत्व बढ़ते चले गए।''

गुप्तकाल में हिंदू धर्म पुनः एक श्रेष्ठ धर्म के रूप में प्रतिस्थापित हो गया। विष्णु भगवान के साथ-साथ शिव की पूजा को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। गुप्तकाल में विष्णु के कई मंदिर बनवाए गए। दस अवतारों वाले अधिकांश मंदिर गुप्तकाल में ही बने। इनमें झाँसी के पास देवगढ़ का दशावतार मंदिर सर्वप्रमुख है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मण, कार्तिकेय, गणेश, सूर्य, देवी, नाग एवं यक्ष आदि की भी पूजा प्रचलित थी। इनके मंदिर भी निर्मित किए गए।

गुप्त सम्राट धार्मिक रूप से सहिष्णु थे। बौद्ध धर्म का भी इस काल में पर्याप्त प्रचार-प्रसार होता रहा। नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, दिननाग इस काल के प्रमुख बौद्ध विद्वान थे। यहाँ तक कि चंद्रगुप्त द्वितीय का प्रधान कर्मचारी आम्रकार्दव बौद्ध ही था।

जैन धर्म की दो सभाएँ इसी काल में हुई, 313 ई. में मथुरा एवं 453 ई. में वल्लभी में जैन सभा हुई। कुमार गुप्त एवं स्कंद गुप्त के शासन काल में जैन मूर्तियाँ स्थापित हुई, जिन्हें अनुदान भी दिया गया।

2.2.3.5. कला एवं स्थापत्य (Art and Architecture)

गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में सर्वाधिक उन्नति कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती है। विभिन्न विद्वानों ने गुप्तकाल को कला एवं स्थापत्य के चरमोत्कर्ष का काल कहा है। कुमारस्वामी के अनुसार, ''गुप्तकालीन कला एक पूर्ण स्वाभाविक क्रमिक कलात्मक विकास की पराकाष्ठा का प्रतीक

है।'' कुषाणकालीन कला में जो विदेशी प्रभाव देखा गया था, गुप्तकाल तक आते-आते अब कला पर से वह प्रभाव क्रमशः समाप्त हो गया। गुप्तकालीन कला की सर्वप्रमुख विशेषता मूर्ति-कला थी।

2.2.3.5.1. मूर्तिकला

गुप्तकालीन मूर्तिकारों ने कुषाणकालीन नग्नता एवं पूर्व मध्यकालीन प्रतीकात्मक सूक्ष्मता के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इसीलिए गुप्तकालीन मूर्तियों में गंभीरता, शांति, भद्रता, शालीनता एवं आध्यात्मिकता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। गुप्तकाल में मूर्तिकला की तीन प्रमुख शैलियों का आविर्भाव हुआ-

(1) मथुरा मूर्ति – कला शैली।
(2) वाराणसी मूर्ति– कला शैली या सारनाथ शैली।
(3) पाटलिपुत्र– कला शैली।

(1) मथुरा शैली- मथुरा शैली में कर्री के बुंदकीदार लाल पत्थरों का उपयोग हुआ है। यहाँ विविध रूपों में बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं में यूनानी बौद्ध कला के विदेशी तत्व मिलते हैं। कहा जाता है कि यहाँ वेदिका स्तंभों पर बनी युवतियाँ स्वर्ग की अप्सराओं का भूतल पर प्रतिनिधित्व करती हैं। वात्स्यायन के नागरिक की दैनिक क्रियाओं का क्रियात्मक रूप वेदिका स्तंभ के चित्रों से प्राप्त होता है। मथुरा शैली को विद्वानों ने वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का व्यावहारिक रूप भी कहा है। कुषाण काल से गुप्तकाल तक की प्रतिमाएँ यहाँ मिलती हैं।

मथुरा की गुप्त कालीन बुद्ध मूर्तियों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दोनों खड़ी मुद्रा में है जिनकी ऊँचाई 7 फुट $2\frac{1}{2}$ इंच के लगभग हैं। ये निम्नलिखित हैं-

(i) प्रथम मूर्ति जो मथुरा के जमालपुर से मिली थी, जिसमें बुद्ध के कंधों पर संघाटी है, उनके बाल घुँघराले हैं, कान लंबे हैं तथा दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर टिकी हुई है। उनके सिर के पीछे गोल एवं अलंकृत प्रभामंडल है।

(ii) दूसरी बुद्ध की पाषाण मूर्ति भी मथुरा से मिली है। इसमें महात्मा बुद्ध ध्यानमग्न खड़ी मुद्रा में हैं तथा उनके हाथ
अभय मुद्रा में हैं।

(2) वाराणसी या सारनाथ शैली- वाराणसी की मूर्ति-कला शैली अधिक विशुद्ध है। यहाँ भी फलकों पर अंकित बुद्ध के जीवन की घटनाओं के विषय में गांधार शैली का प्रयोग दिखाई पड़ता है। सारनाथ में प्राप्त बुद्ध की मूर्ति अत्यंत आकर्षक है। इसमें महात्मा बुद्ध पद्मासन लगाए बैठे हैं। इस मूर्ति में भी बुद्ध के चेहरे के चारों ओर प्रभा मंडल दिखाया गया है। बाल घुँघराले तथा कान लंबे हैं। दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर टिकी है। दोनों हाथ धर्मचक्र प्रवर्तन की मुद्रा में हैं। इसकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति, गंभीर मुस्कान एवं शांत ध्यानमग्न मुद्रा भारतीय कला की सर्वोच्च सफलता का प्रदर्शन करती है। यह मूर्ति लगभग 2 फुट $2\frac{1}{2}$ इंच ऊँची है। सारनाथ शैली में चुनार के सफेद पत्थर का प्रयोग हुआ है।

(3) पाटलिपुत्र शैली- पाटलिपुत्र की शैली ने धातुओं की प्रतिमाओं के निर्माण में विशेषता प्राप्त की। नालंदा और कुकिहार इसके प्रधान केंद्र थे। इसमें पत्थर के अतिरिक्त धातु का भी प्रयोग हुआ है।

इस शैली में निर्मित बिहार के भागलपुर जिले में स्थित सुल्तानगंज की बुद्ध प्रतिमा विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। यह ताँबे की $7\frac{1}{2}$ फुट ($2\frac{1}{2}$ मीटर) ऊँची मूर्ति खड़ी मुद्रा में है। बुद्ध के बायें हाथ में संघाटी है तथा उनका दायाँ हाथ अभय मुद्रा में है। संघाटी का घेरा पैरों तक लटक रहा है। इसमें सिर के पीछे प्रभामंडल नहीं है, जो इस शैली के विदेशी प्रभाव से मुक्त होने का संकेत है। चेहरे पर असीम करुणा और आध्यात्मिक शांति है। वर्तमान में यह मूर्ति बरमिंघम के अजायबघर में सुरक्षित है। इस प्रकार पाटलिपुत्र तक पहुँचते-पहुँचते मूर्ति-कला का शुद्ध भारतीयकरण हो गया। गुप्तकालीन मूर्ति-कला अपनी कला, भाव-व्यंजना और शारीरिक गठन में शुद्ध भारतीय हो गई।

गुप्तकालीन मूर्ति-कला की हमें निम्न प्रमुख विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं-

(1) अलंकृत प्रभामंडल,
(2) सिर के घुँघराले बाल,
(3) झीने अथवा पारदर्शक वस्त्र,
(4) चेहरे पर शांति, दया, करुणा, भव्यता और मुख्यता आध्यात्मवाद की स्पष्ट झलक,
(5) नग्न मूर्तियों का स्पष्ट अभाव।

गुप्त शासक वैष्णव मत के अनुयायी थे, अतः इस काल में विष्णु की मूर्तियाँ भी अत्यधिक बनीं। इस काल की विष्णु की मूर्तियाँ चतुर्भुजी हैं। उनके सिर पर मुकुट, गले में हार तथा केयूर एवं कानों में कुंडल दिखाया गया है। देवगढ़ (झाँसी उ.प्र.) के दशावतार मंदिर में प्राप्त मूर्ति में विष्णु को शेषशैय्या पर विश्राम करते दिखाया गया है। इसे अनंतशायी कहा गया है। एरण (सागर म.प्र.) में विष्णु की खड़ी विशाल प्रतिमा है। विष्णु के शरीर पर विविध अलंकरण हैं। उदयगिरि में एक विशाल वाराह प्रतिमा प्राप्त हुई है। इसमें वाराह पृथ्वी को दोनों हाथों में उठाए दिखाया गया है। यह प्रतिमा विष्णु के कल्याणकारी स्वरूप को दर्शाती है, जिसमें उन्होंने पृथ्वी की रक्षा हेतु वराह का रूप धारण किया था।

विष्णु के अतिरिक्त इस काल में शिव की भी मूर्तियाँ निर्मित हुई थीं। करमदंडा, भूमरा तथा खोह के मंदिरों में एकमुखी शिवलिंग स्थापित हैं। इन मूर्तियों को मुखलिंग भी कहा गया है। इनकी विशेषता शिव के सिर पर जटाजूट, गले में रुद्राक्ष की माला तथा कानों में कुंडल हैं। शिव ध्यान की अवस्था में हैं, नेत्र आधे खुले हैं तथा होठों पर मंद मुस्कान है। ऊपर जटाजूट में अर्द्धचंद्र विराजमान हैं।

इस प्रकार गुप्तकाल में बुद्ध, विष्णु एवं शिव सभी की कलात्मक मूर्तियाँ निर्मित की गई थीं जो कि कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

2.2.3..5.2. चित्रकला- चित्रकला का सही मायनों में विकसित रूप गुप्तकाल में ही दृष्टिगोचर होता है। महाराष्ट्र प्रांत के औरंगाबाद जिले में स्थित अजंता तथा मध्यप्रदेश के ग्वालियर के पास बाघ की गुफाओं में गुप्तकालीन चित्रकला का विकसित रूप देखा जा सकता है।

अजंता में फ्रेस्को तथा टेंपरा दोनों ही विधियों से चित्र बनाए जाते हैं। फ्रेस्को के तहत गीले प्लास्टर पर चित्र बनाए जाते थे तथा चित्रकारी विशुद्ध रंगों द्वारा ही की जाती थी। टेंपरा विधि में सूखे प्लास्टर पर चित्र बनाए जाते थे तथा रंग के साथ अंडे की सफेदी तथा चूना मिलाया जाता था। शंख चूर्ण, सिता मिश्री, शिला चूर्ण, सफेद मिट्टी, गोबर, चोकर आदि को फेंटकर गाढ़ा लेप तैयार किया जाता था। चित्र बनाने के पूर्व दीवार को रगड़कर उस पर यह लेप लगाया जाता था। लाल, नीला, पीला, काला तथा सफेद रंगों का ही प्रयोग देखने को मिलता है।

बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं तथा जातक कथाओं के चित्र मुख्यतः अजंता की चित्रकारी में मिलते हैं। अजंता गुफाओं में सर्वाधिक सुंदर एवं आकर्षक चित्र मरणासन्न राजकुमारी का चित्र है जो गुफा संख्या 16 में निर्मित है। कई विदेशी विद्वानों, यथा-फर्गुसन आदि ने उसकी प्रशंसा की है। यह पति वियोग में मरणासन्न राजकुमारी का चित्र है, जिसके चारों ओर शोकाकुल परिवार के लोग खड़े हैं। इसी गुफा में बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का भी चित्रांकन है। 17वीं गुफा में माता एवं शिशु का चित्र काफी आकर्षक है। इस गुफा के अन्य चित्र जातक कथाओं से संबंधित हैं।

प्रथम एवं दूसरी गुफाओं के चित्रों में सर्वाधिक आकर्षक चित्र पुलकेशिन द्वितीय के दरबार में आए फारसी राजदूत का है। बोधिसत्व पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का चित्र प्रथम गुफा में निर्मित है। इस प्रकार अजंता की चित्रकारी लगभग प्रत्येक चित्र में अपनी उत्कृष्टता स्वतः प्रमाणित कर रही है।

ग्वालियर के निकट बाघ की गुफाएँ विंध्याचल पर्वत को काटकर बनाई गई हैं। कुल 9 गुफाओं में चौथी-पाँचवीं गुफाओं के ही चित्र सुरक्षित हैं। धर्म विशेष से संबंधित न होकर तत्युगीन जनजीवन की झाँकी को इन गुफाओं में चित्रित किया गया है। एक चित्र में स्त्रियाँ एवं पुरुष अलंकृत वेशभूषा और बाजों के साथ स्वछंदतापूर्वक नृत्यरत दिखाए गए हैं। मार्शल महोदय ने इन चित्रों को जनजीवन की सजीव झाँकी कहा है। ये गुफाएँ पाँचवी-छठी शताब्दी की हैं।

2.2.3.5.3. वास्तुकला स्थापत्य- गुप्तकालीन स्थापत्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तत्युगीन मंदिर हैं। इस युग में मंदिर मुख्यतः ऊँचे चबूतरे पर बनते थे, जिसके चारों ओर सीढ़ियाँ होती थीं। शिखर बनाए जाते थे। गर्भगृह, जिसमें मूर्ति रखी जाती थी, चौकोर, वर्गाकार होते थे। इसमें एक ओर प्रवेश द्वार व तीन तरफ दीवारें होती थी। प्रदक्षिणा मार्ग होता था। दीवारों पर मूर्तियाँ तथा अलंकरण होते थे। प्रवेश द्वार की चौखट पर मकरवाहिनी गंगा एवं कुर्मवाहिनी यमुना की आकृतियाँ उत्कीर्ण मिलती थीं जो गुप्तकाल की एक अपनी विशेषता थी। इसके अतिरिक्त स्वस्तिक, हंस-मिथुन, मंगल कलश, श्रीवृक्ष, शंख, पद्म आदि प्रतीकों का अंकन भी देखने को मिलता है। पहले गर्भगृह के सामने एक स्तंभयुक्त मंडप बनाया जाता था, कालांतर में उसे चारों ओर बनाया जाने लगा। गुप्तकाल के कुछ प्रमुख मंदिर निम्नलिखित हैं-

1. **एरण का विष्णु मंदिर-** यह मध्य प्रदेश के सागर जिले में स्थित है। यहाँ विष्णु की खड़ी प्रतिमा स्थित है। गर्भगृह का द्वार तथा उसके सामने खड़े दो स्तंभों को छोड़कर बाकी सब ध्वस्त हो चुका है।
2. **साँची का मंदिर-** मध्य प्रदेश के विदिशा जिले में स्थित है।
3. **तिगवा का विष्णु मंदिर-** जबलपुर मध्य प्रदेश में स्थित है।
4. **नचना कुठार का पार्वती मंदिर-** मध्य प्रदेश के पन्ना जिले में अजयगढ़ के पास स्थित है।
5. **भूमरा का शिव मंदिर-** मध्य प्रदेश के सतना जिले में स्थित है।
6. **देवगढ़ का दशावतार मंदिर-** उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित है।
7. **भीतर गाँव का मंदिर-** उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले में स्थित है।
8. **सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर-** छत्तीसगढ़ के रायपुर जिले में स्थित है।
9. **मरखान का मंदिर-** बीजापुर के एहोल स्थान पर स्थित है।

ये सभी गुप्तकालीन मंदिर तत्युगीन स्थापत्य कला के विकास को इंगित करते हैं।

स्तूप तथा गुहा स्थापत्य- सारनाथ का धमेख स्तूप एवं राजगृह स्थित जरासंध की बैठक गुप्तकालीन स्थापत्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सारनाथ का धमेख स्तूप जो 128 फुट ऊँचा है, प्रस्तर के टुकड़ों को तोड़कर बनाया गया है। यह स्तूप अपनी कल्पना, आकार और अलंकार में बेजोड़ है।

गुप्तकाल में अनेक गुफाएँ पर्वतों को काटकर निर्मित हुईं भिलसा के निकट उदयगिरि की गुफाएँ, औरंगाबाद स्थित अजंता की गुफाएँ एवं ग्वालियर के निकट बाघ की गुफाएँ तत्युगीन स्थापत्य कला के विकास को दर्शाती हैं।

अपनी प्रगति की जाँच करें-

प्रश्न क्र. 1. गुप्तकाल में महिला शासिका कौन थी?

प्रश्न क्र. 2. पूर्वी बंगाल का प्रसिद्ध बंदरगाह कौन-सा था?

प्रश्न क्र. 3. वत्सभट्टि कौन था?

प्रश्न क्र. 4. कालिदास के ग्रंथों के नाम बताइए।

प्रश्न क्र. 5. गुप्त शासक किसके उपासक थे?

प्रश्न क्र. 6. गुप्तकाल में मूर्तिकला कीकौन-सी शैलियाँ विकसित हुईं?

प्रश्न क्र. 7. गुप्तकालीन किन्हीं 5 मंदिरों के नाम बताइए।

प्रश्न क्र. 8. भगवतशरण उपाध्याय ने गुप्तयुग की तुलना किससे की है?

2.2.4. सारांश

गुप्त वंश के शासकों ने सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में स्थायी उपलब्धियाँ प्राप्त की। समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्तविक्रमादित्य न केवल महान विजेता थे, अपितु गुप्त युगीन संस्कृति के उन्नायक भी थे। चंद्रगुप्त के नवरत्नों ने गुप्त संस्कृति के उन्नयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुप्तकाल में कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। एरण का विष्णु मंदिर, नचना कुठार का पावर्ती मंदिर, भूमरा का शिवमंदिर, देवगढ़ का दशावतार मंदिर एवं सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर गुप्त कालीन संस्कृति के वैभव के जीते जागते प्रतीक हैं। चंद्रगुप्त के नवरत्नों में से एक कालिदास ने साहित्य के क्षेत्र में स्थायी उपलब्धियाँ प्राप्त की। कालिदास के ग्रंथ आज भी संस्कृत साहित्य के अमूल्य रत्न माने जाते हैं।

गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था भी समृद्ध थी। व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में अत्यधिक उन्नति हुई। इस समय कई बंदरगाहों का विकास हुआ। इस प्रकार गुप्त युग भारतीय संस्कृति के विकासका युग था। इसी कारण विद्वानों ने गुप्तकाल को प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहा है।

2.2.5. अपनी प्रगति की जाँच करें प्रश्नों के उत्तर

1. गुप्तकालीन महिला शासिका प्रभावती गुप्त थी, जिसने अपने अल्पवयस्क पुत्र की संरक्षिका के रूप में शासन किया था।
2. ताम्रलिप्ति।
3. वत्सभट्टि कुमार गुप्त प्रथम का दरबारी कवि था। वह संस्कृत का प्रकांड विद्वान था जिसने मंदसौर प्रशस्ति की रचना की थी।
4. कालिदास के प्रमुख ग्रंथ निम्न हैं-
   (i) महाकाव्य- रघुवंशम्, कुमारसंभवम्

(ii) नाटक- मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्, अभिज्ञानशाकुंतलम्

(iii) खंड काव्य- मेघदूतम् एवं ऋतुसंहारम्

5. गुप्त सम्राट विष्णु के उपासक थे। उनके ध्वज एवं मुद्राओं पर विष्णु भगवान का वाहन गरूड पक्षी अंकित मिलता है।

6. गुप्तकाल में मूर्तिकला की निम्न तीन शैलियों का आर्विभाव हुआ।

(i) मथुरा मूर्तिकला शैली

(ii) वाराणसी मूर्तिकला शैली या सारनाथ शैली

(iii) पाटलिपुत्र मूर्तिकला शैली

7. (i) एरण का विष्णु मंदिर

(ii) तिगवा का विष्णु मंदिर

(iii) नचनाकुठार का पार्वती मंदिर

(iv) देवगढ़ का दशावतार मंदिर

(v) सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर

भगवतशरण उपाध्याय ने गुप्तयुग को स्वर्णयुग मानते हुए उसकी तुलना यूनान के पेरीक्लीज युग, रोम के आगस्टस युग एवं इटली के पुर्नजागरण काल से की है।

2.2.6. बोध प्रश्न

(A) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकालीन समाज का वर्णन कीजिए।

2. गुप्तकालीन धार्मिक स्थति की विवेचना कीजिए।

3. गुप्तकालीन चित्रकला पर प्रकाश डालिए।

4. गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

5. अजंता की गुफाओं पर प्रकाश डालिए।

6. बाघ की गुफाओं के चित्रों पर प्रकाश डालिए।

7. मथुराशैली पर टिप्पणी लिखिए।

8. सारनाथ शैली पर टिप्पणी लिखिए।

9. पाटलिपुत्र शैली पर टिप्पणी लिखिए।

(B) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकालीन सांस्कृतिक विकास की विवेचना कीजिए।

2. गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य का वर्णन कीजिए।

3. गुप्तकालीन सामाजिक व धार्मिक स्थति का वर्णन कीजिए।

4. 'क्या गुप्तकाल भारत का स्वर्ण युग था' अपने विचार प्रकट करते हुए तर्क सहित उन्हें समझाइए।

2.2.7. संदर्भ ग्रंथ

(1) Agrawala, V.S. (1947). *Gupta Art.*

(2) Banerjee, R.D. (1933). *The Art of The Imperial Gupta.*

(3) Dandekar, R.N. *Life in the Gupta Age*

Maity, S.K. (1957). *The Economic Life of Northern India in the Gupta Period.* Calcatta,

(4) Saletore, R.N. (1943). *Life in the Gupta Age, Bombay.*

(5) Mukherjee, R.K. (1947). *The Gupta Empire, Bombay.*

(6) Chopra Puri & Das, (1974). *A Social Cultural and Economic History of India Part-I*

Delhi.

(7) Shembanvnekar, K.M. (1953).*The Glamour about the Guptas, Bombay.*

(8) उपाध्याय, वसुदेव. (1957). *गुप्त साम्राज्य का इतिहास (भाग-1) एवं 2, इलाहाबाद*।

(10) गुप्त परमेश्वरी लाल, (1970). *गुप्त साम्राज्य, अन्नपूर्णा प्रकाशन. वाराणसी*।

दत्त, राय चौधरी. (1990). *मजूमदार, भारत का वृहत्त इतिहास, (भाग-1).* दिल्ली : मैकमिलन।

(11) वाशम, ए.एल. (1992). *अद्भुत भारत.* आगरा : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी।

(12) श्रीवास्तव, बी.के. (2011*). प्राचीन भारत का इतिहास, एस.वी.पी.डी.* आगरा : पब्लिकेशन।

(13) झा, श्रीमाली. (1993*). प्राचीन भारत का इतिहास.* दिल्ली : दिल्ली विश्वविद्यालय।

खंड - 2 : गुप्तकाल

इकाई - 3 : आर्थिक जीवन

इकाई की रूपरेखा

2.3.1. उद्देश्य
2.3.2. प्रस्तावना
2.3.3. गुप्तकालीन आय-व्यय
2.3.4. कृषि
2.3.5. उद्योग
2.3.6. व्यापार-वाणिज्य
2.3.7. मुद्रा
2.3.8. ग्रामीण जीवन
2.3.9. सामान्य जीवन
2.3.10. मूल्यांकन
2.3.11. सारांश
2.3.12. बोध प्रश्न
2.3.12.1. लघु उत्तरीय प्रश्न
2.3.12.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
2.3.13. संदर्भ ग्रंथ

2.3.1. उद्देश्य

पूर्वमध्यकाल से पहले भारत में जिस शक्तिशाली एवं स्वर्णिम काल अर्थात् गुप्तकाल का उदय हुआ उसमें राज्य की आर्थिक स्थिति क्या थी? राज्य में कृषि, उद्योग एवं व्यापार किस अवस्था में थे? राज्य में सामान्य एवं ग्रामीण जनजीवन कैसा था? इन सभी तथ्यों पर प्रकाश डालना तथा इनकी विस्तृत विवेचना करना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

2.3.2. प्रस्तावना

भारत में गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है, जो एक यथार्थ है। इस वंश में महाप्रतापी सम्राट हुए जिनके काल में राजनीतिक उत्थान के साथ-साथ सांस्कृतिक उन्नति भी हुई। गुप्त सम्राटों की दिग्विजय के फलस्वरूप राज्य की सीमा अत्यधिक बढ़ गई, जिससे राज्य में कृषि, उद्योग एवं व्यापार का भी बहुत विकास हुआ। फलस्वरूप राज्य की आर्थिक स्थिति अत्यंत सुदृढ़ हो गई। प्रस्तुत इकाई में गुप्तकालीन आर्थिक जीवन जैसे कृषि, उद्योग एवं व्यापार तथा जनता के सामान्य जीवन पर प्रकाश डाला जाएगा।

2.3.3. गुप्तकालीन आय-व्यय

गुप्तकालीन अभिलेखों से साम्राज्य की आय के विभिन्न साधन ज्ञात होते हैं। नियमित रूप से भूमि का नाप और निरीक्षण करके, भूस्वामित्व के अधिकारों का विश्लेषण करके भूमिकर निर्दिष्ट किया जाता था। राज्य की आय का मुख्य आधार भूमिकर था।

2.3.3.1. उद्रंग

गुप्तकाल में मुख्य भूमिकर को 'उद्रंग' कहते थे। ब्यूह्लर का मत है कि उद्रंग राज्य के लिए प्राप्त किए जाने वाले भू उत्पादन के अंश को कहते थे। फ्लीट ने भी इस मत का समर्थन किया है। डॉक्टर घोषाल का मत है कि उद्रंग भूमि की उपज का 1/6 भाग होता था। लेखों और स्मृतियों में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि राजा उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में लेता था। फरीदपुर के ताम्र अभिलेख से भी विदित होता है कि राजा धान्य (उपज) का छठा भाग ग्रहण करता था। भूमि की दशा और उसके उर्वरापन के अनुसार भूमिकर सोलह प्रतिशत से लेकर पच्चीस प्रतिशत अर्थात् छठे से चौथे भाग तक लगाया जाता था।

2.3.3.1. उपरिकर

उद्रंग कर के साथ–साथ उपरिकर का भी उल्लेख गुप्त अभिलेखों में प्राप्त होता है। फ्लीट का मत है कि उपरिकर उन कृषकों पर लगाए जाने वाला भूमिकर था, जिनका भूमि पर कोई स्वामित्व नहीं था। घोषाल का भी कथन है कि उपरिकर ऐसा लगान या भूमिकर था, जिसे अस्थायी कृषक देते थे। स्थायी कृषक वे कृषक होते थे जिनको राज्य द्वारा भूमि, स्वामित्व के पूर्ण अधिकार के साथ उपभोग के लिए दी जाती थी। यह भूमि अनुर्वर होती थी, जिसे उपजाऊ खेत बनाने या चरागाह में परिवर्तित करने के लिए या ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए दी जाती थी। इस प्रकार की प्राप्त भूमि को कृषक या उसके उत्तराधिकारी बेच अथवा हस्तांतरित कर सकते थे। इस प्रकार भूमि प्राप्त करना भूमि-छिद्र धर्म प्रणाली के अंतर्गत माना जाता था। इस प्रकार से भूमि प्राप्त करने वाले कृषक स्थायी कृषक होते थे। भूमि पर उनका पूर्ण स्वामित्व होता था।

'नीवी धर्म' के अनुसार भी भूमि दी जाती थी। इसमें भूमि प्राप्त करने वाला कृषक प्रदत्त भूमि की आय या उपज का उपयोग मात्र कर सकता था। उपभोग का अधिकार उसे जीवनकाल तक ही प्राप्त होता था। राज्य को उस भूमि को वापस लेने का अधिकार था।

धनदैह ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'अप्रदा नीवी धर्म' के अनुसार कृषक को जो भूमि प्राप्त होती थी, वह और उसके उत्तराधिकारी उस भूमि का उपयोग कर सकते थे और इस प्रकार दी गई भूमि को राज्य वापस नहीं ले सकता था। किंतु इसमें यह विशेषता है कि प्राप्तकर्ता कृषक को यह अधिकार नहीं था कि वह बिना राज्य की विशेष स्वीकृति के किसी दूसरे व्यक्ति को भूमि बेच दे या हस्तांतरित कर दे। गुप्त संवत्224 के दामोदरपुर के ताम्रपत्र अभिलेख से यह बात ज्ञात होती है।

इस प्रकार 'नीवी धर्म' और 'अप्रदा नीवी धर्म' के अंतर्गत भूमि कृषकों को कुछ विशेष शर्तों के साथ दी जाती थी। इस प्रकार भूमि प्राप्तकर्ता कृषकों को भूमि के स्वामित्व जैसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। वे केवल उसके उत्पादन का ही उपभोग कर सकते थे। पर वे किसी दूसरे व्यक्ति को न तो भूमि बेच सकते थे और न हस्तांतरित कर सकते थे। इसलिए ये अस्थायी कृषक थे। राज्य ही उनकी भूमि का स्वामी था। इन अस्थायी कृषकों को जो भूमिकर देना पड़ता था उसे उपरिकर कहा जाता था। उद्रंग और उपरिकर अनाज और नगद दोनों के रूप में कृषकों से लिए जाते थे। फा-हियान ने भी अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि ''जो लोग राज भूमि को जोतते हैं उन्हें उससे उत्पन्न अनाज का एक अंश देना पड़ता है।''

2.3.3.3. भूतोवात

गुप्तकाल में भूमिकर के अतिरिक्त व्यापारिक वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था। इनमें से एक कर भूतोवात प्रत्याय था। डॉक्टर अल्तेकर का मत है, "भूतोवात प्रत्याय नामक कर राज्य में बनने वाली

वस्तुओं पर लगने वाला कर था। जहाँ वस्तु उत्पन्न होती थी, वहाँ यह कर लगाया जाता था।'' यह मादक या नशीली वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर था। परंतु नशीली वस्तुओं पर नाम मात्र का कर लगाया जाता था, क्योंकि फा-हियान के अनुसार इस युग में न तो मदिरा की दुकानें ही थीं और न कोई मद्यपान करता था। मदिरा का क्रय विक्रय सीमित मात्रा में होता होगा। इसलिए नशीली वस्तुओं में राज्य को नाम मात्र की आय होती थी।

2.3.3.4. नगरीय शुल्क

गुप्तकाल में नगर में आने वाली वस्तुओं पर शुल्क वसूल किया जाता था। यह राज्य के भाग के रूप में वसूल किया जाता था। इस शुल्क को वसूल करने वाले अधिकारी को 'शुल्काध्यक्ष' कहते थे। शुल्काध्यक्ष का कार्यालय नगर के प्रवेश द्वार पर होता था और उसके ऊपर एक ऊँची पताका फहरती थी। यहीं पर नगर में प्रवेश करने के पूर्व व्यापारियों की वस्तुओं पर शुल्क वसूल किया जाता था। यदि कोई व्यापारी धोखा देकर बिना शुल्क दिए, नगर में अपनी वस्तुओं को ले जाकर बेचता था, तो उसे निर्दिष्ट शुल्क का आठ गुना शुल्क दंड के रूप में देना पड़ता था। नगर के बाजारों में भी व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क वसूल करने के लिए राजपुरुष (राजकीय कर्मचारी) घूमते रहते थे। आय व्यय तथा लाभ का परीक्षण करके चुंगी या कर की मात्रा निर्दिष्ट की जाती थी। भिन्न–भिन्न वस्तुओं पर विभिन्न मात्रा का शुल्क था। रस, औषधि, शाक, चमड़ा, फल आदि पर शुल्क लिया जाता था।

2.3.3.5. प्रतिवेधनिक कर

गुप्तकाल में नगर के बाजारों में प्रयुक्त होने वाले नाप् माप और तौल को पूर्ण रूप से निरीक्षण कर उस पर शासकीय मुहर लगाकर प्रमाणित कर दिया जाता था। इसके लिए व्यापारियों और दुकानदारों को प्रतिवेधनिक नामक कर देना पड़ता था।

2.3.3.6. विक्रय कर

बाजार में व्यापारियों से विक्रय कर भी वसूल किया जाता था। विष्णुस्मृति में उल्लेख है कि तराजू पर तौलकर बेची जाने वाली वस्तु का बीसवाँ भाग विक्रय कर के रूप में और जो वस्तुएँ गिनकर बेचती जाती थीं, उनका ग्यारहवाँ भाग विक्रय कर के रूप में व्यापारियों और दुकानदारों से वसूल किया जाता था। संभव है कि इस प्रकार के विक्रय कर की प्रथा गुप्तकाल में प्रचलित रही हो।

2.3.3.7. कारुकर

गुप्तकाल में शिल्पियों से वसूल किए जाने वाले कर को कारुकर कहते थे। यह कर दो रूपों में वसूल किया जाता था— प्रथम विष्टि और द्वितीय द्रव्य के रूप में। विष्टि एक प्रकार की बेगार थी। यह छोटे कारीगरों से ली जाती थी। सुतार (बढ़ई), कुम्हार, लुहार जैसे कारीगर विष्टि देते थे। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा छोटे कारीगरों से माह में एक बार सार्वजनिक कार्यों में विष्टि ले सकता था। राजा की ओर से ग्राम के शासक विष्टि का उपयोग सार्वजनिक कार्यों में जैसे कुएँ, तालाब, मंदिर के निर्माण में करते थे। बड़े शिल्पी या कारीगरों से कारुकर द्रव्य के रूप में लिया जाता था। इन कारीगरों में सुनार, जुलाहे और मदिरा बनाने वाले होते थे।

2.3.3.8. सामयिक कर

गुप्तकाल में कुछ कर ऐसे थे जो नियमित नहीं थे, परंतु परिस्थितिवश समय-समय पर लगाए जाते थे; जैसे चाट भाट प्रवेश कर। पुलिस और सेना के सिपाही जितनी अवधि के लिए किसी विशेष स्थान पर जाते और वहाँ रखे जाते थे, उस अवधि में वहाँ के स्थानीय निवासियों को राज्य को कर देना पड़ता था। इसे चाट भाट प्रवेश कर कहते थे। यह कर उन सिपाहियों पर हुए व्यय के निमित्त होता था।

2.3.3.9. अर्थदंड

गुप्तकाल में अपराधी को अपराध करने पर न्यायालयों द्वारा आर्थिक दंड दिया जाता था। इससे राज्य की आय होती थी। परंतु गुप्तकाल में दंड विधान नरम था, वह मौर्यकाल जैसा कठोर नहीं था। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल में शारीरिक दंड की अपेक्षा अर्थदंड अधिक दिया जाता था , किंतु यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि गुप्त युग में अपराधों की संख्या बहुत कम होती थी। इससे अर्थदंड कम दिया जाता था और उससे आमदनी भी कम होती थी। फिर भी अर्थदंड राज्य की आय के साधनों में से एक प्रमुख साधन था।

2.3.3.10. वन कर

गुप्तकाल में वनों और चारागाहों पर राज्य का स्वामित्व माना जाता था। चारागाहों व वनों के वृक्षों और वन से होने वाली उपज पर कर लगाया जाता था। इससे राज्य को आय होती थी।

2.3.3.11. भूमि से आय

गुप्तकाल में कृषि योग्य भूमि को छोड़कर शेष भूमि राज्य की मानी जाती थी। वह राज्य की संपत्ति होती थी। इसलिए जो भूमि खेती के योग्य नहीं होती थी, अर्थात् जो बंजर या पड़त होती थी, या जिस भूमि पर बस्ती के निवासगृह बनाए जाते थे, उसको बेचने से राज्य को आय होती थी। इस प्रकार की भूमि से प्राप्त विभिन्न खनिज पदार्थों पर लगे कर से भी राज्य को आमदनी होती थी।

2.3.3.12. सामंतों से कर और उपहार

गुप्त शासकों को अधीनस्थ मांडलिक राजाओं, सामंत शासकों और करद राज्यों से जो वार्षिक कर और उपहार प्राप्त होते थे उससे राज्य की आय होती थी। समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने की अपेक्षा उनके स्वामियों को वे राज्य लौटा दिए और इसके बदले में उनसे भेंट, उपहार, धन और वार्षिक कर लिए। इससे गुप्त राज्य की आय में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त सीमा क्षेत्र के राज्य और गणराज्य भी प्रतिवर्ष सम्राट को उपहार व कर भेजते थे। विदेशी शासक भी गुप्त सम्राटों का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए भेंट, उपहार आदि अपने दूतों के साथ भेजते थे। सिंहलद्वीप के नरेश मेघवर्ण ने बोधगया में सिंहली यात्रियों व भिक्षुओं के लिए एक विशाल विहार बनवाने की अनुमति प्राप्त करने के लिए गुप्त सम्राट के पास अपने राजदूतों के साथ बहुमूल्य हीरे, रत्न, स्वर्ण आदि भेजे थे। इसके अतिरिक्त गुप्त साम्राज्य में अनेक अधीनस्थ सामंत शासक थे जो प्रतिवर्ष गुप्त नरेश को कर देते थे। इस प्रकार इन विभिन्न स्रोतों से प्राप्त धन, भेंट, उपहार, वार्षिक, कर आदि से भी राज्य की आमदनी में वृद्धि होती थी।

2.3.3.14. राज्य का व्यय

उपरोक्तानुसार विभिन्न स्रोतों और करों से प्राप्त आय को गुप्त नरेश विभिन्न मदों में और जन कल्याण के कार्यों पर व्यय करते थे। शासन संचालन के लिए अनेकानेक अधिकारियों और कर्मचारियों को नियुक्त किया जाता था और इनको नगद वेतन भी दिया जाता था। फा–हियान ने शासकीय कर्मचारियों को वेतनभोगी उल्लिखित किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि राजकीय आय का यथेष्ठ भाग शासकीय कर्मचारियों और अधिकारियों के वेतन पर तथा उनके कार्यालयों पर व्यय होता था। देश की सुरक्षा के लिए तथा आंतरिक शांति व्यवस्था के लिए रखी गई सेना व पुलिस के लिए तथा समुचित न्याय व्यवस्था के या संकटकालीन परिस्थिति के लिए राज्य व प्रजा की रक्षा हेतु विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा के लिए कुछ धन संचित भी किया जाता था। इसे 'व्यय प्रत्यय' कहा जाता था। जब राज्य में दुर्भिक्ष पड़ता था, तब प्रजा कर मुक्त कर दी जाती थी और राजा उसी संचित कोष से शासन प्रबंध पर व्यय करता था। सार्वजनिक हित के लिए जनकल्याण के कार्य राज्य की ओर से होते थे, जैसे— कुओं, बावड़ियों, तालाबों, सिंचाई के लिए नहरों आदि का निर्माण, नि:शुल्क औषधालय तथा अनाथों के लिए सदावर्त की स्थापना, मंदिरों और विहारों की स्थापना और उनमें शिक्षा की व्यवस्था आदि। उच्च शिक्षा के लिए गुप्त नरेशों ने नालंदा में महाविहार की स्थापना की थी। यज्ञों और अनुष्ठानों के समय सहस्त्र मुद्राएँ अनाथों और ब्राह्मणों को दान में दी जाती थीं। धर्मशालाओं में भी अनाथों को अन्न और वस्त्र वितरण किया जाता था और औषधालयों में रोगियों को निशुल्क औषधियाँ दी जाती थीं और उनका उपचार किया जाता था। विद्वानों को भी पुरस्कार दिया जाता था और मंदिरों का निर्माण भी किया जाता था। गुप्त अभिलेखों में अग्रहार दान का उल्लेख है। इसके अंतर्गत भूमि ब्राह्मणों और मंदिरों को दान में दी जाती थी। यह दान मंदिरों की व्यवस्था तथा विद्वान आचार्यों व पुरोहितों के लिए होता था। इस प्रकार दान में दी गई भूमि की व्यवस्था के लिए कुछ कर्मचारी और समितियाँ होती थीं। इनमें से प्रमुख कर्मचारी को दानाध्यक्ष या अग्रहारिक कहते थे। अन्य अभिलेखों में इसे 'दूतक' भी कहा गया है। इस प्रकार इन सार्वजनिक कार्यों पर भी राज्य की आय का एक बहुत बड़ा भाग व्यय होता था।

2.3.4. कृषि

गुप्तयुग समुचित शासन व्यवस्था और शांति के कारण आर्थिक दृष्टि से वैभवशाली, समृद्ध और गौरवमय था। लोगों की आर्थिक दशा सुदृढ़ और उन्नत थी, देश धन-धान्य से पूर्ण था तथा जनता सुखी, संतुष्ट, समृद्ध और संपन्न थी। लोगों का जीवनस्तर ऊँचा था। नगरों में लोगों का जीवन ऐश्वर्यपूर्ण था। विविध उद्योग व्यवसाय तथा प्रचुर वाणिज्य और व्यापार संपन्नता के स्रोत थे। इसी गुप्तयुग में देश की बहुमुखी आर्थिक उन्नति भी हो सकी।

गुप्तकलीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक जीवन कृषि प्रधान था। इस युग में राज्य की ओर से प्रयास हुआ था कि अधिक से अधिक भूमि खेती के योग्य बनाई जाए। राज्य लोगों को भूमि छिद्र-धर्म और नीवी-धर्म के अनुसार भूमि दे रहा था। अग्रहार के रूप में ब्राह्मणों को भी भूमि प्राप्त हो रही थी। इस प्रकार क्रमशः भूमि प्राप्त करने और भू-संपत्ति बढ़ाने की प्रवृत्ति लोगों में बढ़ने लगी थी। लोग भूमि का क्रय-विक्रय करने लगे थे। फलस्वरूप भूमि संबंधी विवादों का जन्म हो गया था, यह बात तत्कालीन स्मृतियों से प्रकट होती है। स्मृतियों में भू-विवाद की चर्चा विस्तार से की गई है। संभवतः भू-विवादों को ही दृष्टि में रखते हुए राज्य ने भू-वितरण के लिए कठोर व्यवस्था की थी। गुप्तकालीन प्रशासन से ज्ञात होता है कि भू-वितरण ग्राम-परिषद् की स्वीकृति या उसके माध्यम से होता था। भू-संपत्ति का हस्तांतरण ग्राम के सह-निवासियों की सहमति अथवा ग्राम-परिषद् की अनुमति से

होता था। भू-हस्तांतरण ग्राम महात्तारों की उपस्थिति में किया जाता था और वे उसका सीमा रेखांकन कर देते थे।

स्मृतियों में कृषि कर्म वैश्यों का धर्म बताया गया है, अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि भू-स्वामित्व अधिकांशतः उनमें ही सीमित रहा होगा। किंतु साथ ही राज शासनों के देखने से यह भी ज्ञात होता है कि अग्रहार आदि के रूप में ब्राह्मणों को भी प्रचुर मात्रा में भूमि प्राप्त होती थी। संभव है कि राजानुज्ञा से क्षत्रियों को भी भूमि दी जाती हो किंतु शासन में इस प्रकार की चर्चा नहीं है। इसका मात्र अनुमान किया जा सकता है। किस सीमा तक भू-स्वामी अपने हाथों से कृषि कर्म करते थे, यह कहना कठिन है, पर स्मृतियों से यह बात अवश्य झलकती है कि कितने ही भू-स्वामी स्वयं कृषि कर्म न करके उसे जोतने बोने वाले लोगों को दे देते थे और वह उसे जोतता-बोता था और इस श्रम के बदले उसे 35 से 50 प्रतिशत उत्पादन प्राप्त होता था। इस काल में विष्टि बेगार की प्रथा प्रचलित थी, ऐसा भी ज्ञात होता है। अतः जिन लोगों को विष्टि लेने का अधिकार प्राप्त था, वे लोग नि:संदेह उसका उपयोग अपने कृषि-कार्य के लिए करते थे। इस प्रकार समाज का बहुत बड़ा वर्ग कृषिरत था।

कृषि की रक्षा राजा के कर्तव्यों में एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था। इसलिए प्रतीत होता है कि राज्य की ओर से सिंचाई आदि का समुचित प्रबंध किया जाता रहा होगा, कुएँ, वापी, तालाब तडाग की समुचित व्यवस्था की जाती रही होगी। इस प्रकार के जलाशय-निर्माण किए जाने के उल्लेख अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं। गुप्तकाल में सिंचाई संबंधी व्यवस्था की ओर राज्य कितना सजग था, इसका एक महत्वपूर्ण उल्लेख स्कंदगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में मिलता है। गिरनार पर्वत पर सुदर्शन नामक एक विशाल झील चंद्रगुप्त मौर्य के समय बनी थी। उस झील से उनके पौत्र अशोक के समय में सिंचाई के निमित्त एक नहर निकाली गई थी। इस झील का बाँध स्कंदगुप्त के समय में टूट गया तो उसके अधिकारियों ने तत्काल बड़ी तत्परता से उसकी मरम्मत कराई। यदि राज्य की ओर से सिंचाई के प्रति सजगता न होती तो इस प्राचीन झील की सहज उपेक्षा की जा सकती थी किंतु ऐसा नहीं हुआ।

गुप्तकाल में मुख्य कृषि उत्पादन क्या था, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। साहित्य में उपलब्ध प्रासंगिक उल्लेखों से ही कुछ अनुमान किया जा सकता है। कालिदास के ग्रंथों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों ईख और धान की पैदावार बहुत होती थी। धान के रूप में उन्होंने शालि, नीवार, कलम और श्यामाक का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उनके ग्रंथों में केवल जौ और तिल का उल्लेख मिलता है। लंकावतार सूत्र में स्वीकृत खाद्यों की जो सूची दी हुई है, उनमें जौ, चावल और चीनी के अतिरिक्त गेहूँ और दाल का भी उल्लेख है, अतः इस काल में उनकी खेती का भी अनुमान किया जा सकता है। चरक और सुश्रुत ने सूत्रस्थान में अन्नों की एक काफी लंबी सूची दी है। वे अन्न निश्चित ही इस काल में भी उपजाए जाते रहे होंगे, पर उनकी उपज सीमित ही रही होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

2.3.5. उद्योग

गुप्तकाल में सामान्य जीवन से संबंधित उद्योग तो किसी न किसी रूप में हर नगर और जनपदों में उसी परंपरा में होता रहा होगा, जो अब तक कुटीर-उद्योगों के रूप में प्रत्येक गाँवों में रही थी। समकालीन ग्रंथों से प्रतीत होता है कि मिट्टी के बर्तन बनाने का काम कुम्हार, लोहे के बर्तन, अस्त्र-शस्त्र, खेती के उपकरण लुहार, धातु के बर्तन आदि कसेरे, लकड़ी के काम बढ़ई और आभूषण आदि बनाने का काम सुनार करते थे। इसी प्रकार जुलाहों के हाथ में कपड़े बुनने का उद्योग था। निष्कर्ष यह है कि वर्गगत व्यवसाय के रूप में लोग अपने-अपने घरों में अपना-अपना परंपरागत व्यवसाय करते थे।

पुरातात्विक और साहित्यिक सूत्रों से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में तंतु उद्योग कपड़े अत्यंत विकसित था। सूती, रेशमी, ऊनी और अलसी आदि की छाल से बने कपड़ों का प्रायः उल्लेख मिलता है। कालिदास के ग्रंथों में कौशेय, क्षौम, पत्रोर्ण, कौशेय-पत्रोर्ण, दुकूल, अंशुक आदि वस्त्रों का उल्लेख हुआ है, जो विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का परियच देते हैं। कालिदास के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि उन दिनों इतने महीन कपड़े पहने जाते थे, जो साँस से उड़ जाए। अमरकोश में रूई और छाल के रेशों से बने क्षौम दुकूल, फलों की छालों से बने बदर, कीड़ों की लार से बने रेशम और पशुओं के रोम से बने ऊनी वस्त्रों का उल्लेख है। उसमें बुने, धोये, चिकनाए कपड़ों के विविध नाम भी दिए गए हैं और मोटे-महीन विविध प्रकार के कपड़ों, बिछाने की चादरों, दरियों आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

पुरातात्विक उत्खनन और साहित्यिक उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में हाथी-दाँत के साज-सज्जा, सामान, मूर्तियाँ, मुहरें आदि बना करती थीं। तत्कालीन तक्षण-कला का परिचय मूर्तियों और वस्तुओं से मिलता है। इसी प्रकार कुम्हार लोग भी मूर्ति-कला में पारंगत थे।

समकालीन साहित्य में विभिन्न प्रकार के सोने, चाँदी और मणियों के आभूषणों का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। इससे प्रतीत होता है कि सुनारी की कला भी उन दिनों बहुत उत्कर्ष पर थी। नक्काशी और खुदाई के बारीक कामों के नमूनों के रूप में तत्कालीन सोने के सिक्कों को देखा जा सकता है। उनके ठप्पों की खुदाई जिस बारीकी और कौशल से की गई है, वह तत्कालीन कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। मोतियों का काम भी उन दिनों बहुत होता था, यह आचारांग सूत्र में विस्तार के साथ नाना प्रकार के मुक्ता-हारों के उल्लेख से ज्ञात होता है। हीरा, लाल, नीलम आदि मणियों के काटने और सँवारने के कामों का परिचय भी तत्कालीन साहित्य से मिलता है। मणियों का प्रयोग न केवल आभूषणों में होता था वरन् उनका उपयोग गृहसज्जा के लिए भी किया जाता था यह मृच्छकटिकम् में बसंतसेना के प्रासाद वर्णन से ज्ञात होता है। पुरातात्विक उत्खनन में अनेक स्थानों से गुप्त कालीन विविध प्रकार के मनके प्राप्त हुए हैं, जो तत्कालीन मणि उद्योग का परिचय देते हैं।

गुप्तकाल में लौह उद्योग का जो रूप था, उसका सहज उदाहरण महरौली स्थित चंद्रगुप्त द्वितीय कालीन लौह-स्तंभ में देखा जा सकता है। यह स्तंभ23 फुट 8 इंच लंबा है और अनुमानतः वजन में 6 टन होगा और इसकी समूची ढलाई एक साथ हुई है। इतनी लंबी और वजनी धातु की ढलाई का प्राचीन कालीन नमूना अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता है और आधुनिक युग में इस प्रकार की ढलाई सहज नहीं कही जा सकती। इसकी ढलाई ही नहीं, इसका धातु निर्माण भी तत्कालीन लौह-कला की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करता है। इस संबंध में द्रष्टव्य यह है कि लगभग डेढ़ हजार वर्ष से वह गर्मी, सर्दी, बरसात सहता हुआ खुले में खड़ा है, किंतु आजतक उसमें जरा भी जंग नहीं लगा। जंग-मुक्त लौह का निर्माण वस्तुतः धातु विज्ञान के क्षेत्र में एक आश्चर्य है। अन्य धातुओं के उद्योग और कला के रूप में तत्कालीन धातु मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। पूर्व गुप्त कालिक जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, जो चौसा जिला शाहाबाद से प्राप्त हुई हैं और अब पटना संग्रहालय में हैं और उत्तर गुप्तकाल की विशालकाय बुद्धमूर्ति, जो सुल्तानगंज जिला भागलपुर में प्राप्त हुई थी और अब बरमिंगघम संग्रहालय में है, इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। चरक-संहिता में विभिन्न प्रकार के धातु-पात्रों का उल्लेख किया गया है, उनसे भी धातु-उद्योग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

2.3.6. व्यापार-वाणिज्य

कृषि और उद्योग पर अवलंबित आर्थिक जीवन की व्यवस्था का माध्यम व्यापार था। गुप्तकाल में इस व्यापार के दो स्पष्ट रूप थे। एक का नियंत्रण श्रेष्ठि करते थे और दूसरे का सार्थवाह। श्रेष्ठि जनता की

आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे। उनकी दुकानें नगरों और ग्रामों में प्रायः सभी जगह होती थी। सार्थवाह एक स्थान से दूसरे स्थान तक आते-जाते थे और इस प्रकार वे देश-विदेश का माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का काम करते थे। इस प्रकार वे यातायात के व्यवस्थापक और थोक व्यापारी दोनों का काम करते थे।

2.3.6.1. सार्थवाह

समान अथवा संयुक्त अर्थवाले व्यापारी, जो बाहरी मंडियों के साथ व्यापार करने के लिए एक साथ सामान लाद कर चलते थे, वे सार्थ कहलाते थे और उनका वरिष्ठ नेता ज्येष्ठ व्यापारी सार्थवाह कहलाता था। गुप्तकाल में सार्थ व्यवस्था का क्या रूप था, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर अनुमान किया जा सकता है कि वह पूर्व परंपराओं के उसी क्रम में रहा होगा, जिसका परिचय जैन-साहित्य में प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कोई एक उत्साही व्यापारी सार्थ बन कर व्यापार के लिए निकलता था और उसके सार्थ में अन्य व्यापारी भी सम्मिलित हो जाते थे। सार्थ में सम्मिलित होने वाले व्यापारियों के बीच एक प्रकार की साझेदारी का समझौता होता था और हानि-लाभ के संबंध में उनके बीच अनुबंध रहता था। सार्थ में सम्मिलित होने वाले सभी व्यापारियों की साझेदारी समान हो, यह आवश्यक न था। एक ही सार्थ के सदस्य हानि-लाभ और पूँजी की साझेदारी की दृष्टि से कई दलों में बँटे हो सकते थे। उन्हें इस संबंध में पारस्परिक संबंध स्थापित करने की पूरी छूट होती थी। किंतु एक यात्रा में किसी एक सार्थवाह के नेतृत्व में यात्रा करने वाले सभी व्यापारी, चाहे उनमें पूँजी की साझेदारी हो या न हो, सांगात्रिक कहे जाते थे और उन्हें कतिपय नियमों और सार्थवाह के आदेशों को समान रूप से पालन करना पड़ता था। उन्हें सार्थ के रूप में किन उत्तरदायित्वों को निभाना और मर्यादाओं का पालन करना पड़ता था, यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता।

साधारणतया सार्थ में पाँच प्रकार के व्यक्ति होते थे। (1) 'मंड-सार्थ' (व्यापारिक माल-असबाब लादकर चलने वाले वणिक), (2) 'वहलिका' (ऊँट, खच्चर, घोड़े, बैल आदि), (3) 'भारवाह' (माल का बोझा ढोने वाले लोग), (4) 'औदरिका' (ऐसे लोग जो जीविकोपार्जन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना चाहते थे), (5) 'कार्पटिक' (भिक्षु और साधु लोग)। सार्थ का अधिकांश भाग पैदल चलता था। वन्य पशुओं, चोरों, लुटेरों और डाकुओं से बचने के लिए प्रायः सार्थ उन मार्गों से आते-जाते थे जो अधिकाधिक गाँवों, बस्तियों और नगरों से निकलते थे।

2.3.6.2. व्यापार

गुप्त साम्राज्य भारत के पूर्वी और पश्चिमी तट के दोनों ओर के समुद्रों को स्पर्श करता था। उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र भी जहाँ से भारत के बाहर उत्तर में मध्य एशिया, पूर्वी और पश्चिमी देशों को जाने के स्थल-मार्ग निकलते थे, गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत ही था। अतएव गुप्त साम्राज्य में स्थल और जलमार्गों द्वारा खूब व्यापार होता था। गुप्तकाल अत्यधिक व्यापार और वाणिज्य का युग था। देशी और विदेशी व्यापार गुप्त सम्राटों के संरक्षण में खूब फला-फूला और इससे देश की धन संपत्ति में अपार वृद्धि हुई। व्यापार-वाणिज्य से देश में धारासार धन बरसने लगा था। समाज में वाणिज्यपतियों का बड़ा आदर था और राजा स्वयं उनसे आदर और सम्मान का व्यवहार करता था।

2.3.7. मुद्रा

आर्थिक जीवन की समृद्धि की द्योतक मुद्राएँ हुआ करती हैं। अतः आर्थिक दृष्टि से गुप्तकाल का महत्व इस बात में है कि गुप्त-सम्राटों ने अत्यधिक मात्रा में सोने के सिक्के प्रचलित किए थे। इस दृष्टि से इस युग को स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। भूमि के क्रय-विक्रय में मूल्य का निर्धारण इन्हीं सोने के सिक्कों में होता था। भू-कर के रूप में हिरण्य का उल्लेख मिलता है, इससे भी यह अनुमान होता है कि कर का कुछ अंश सिक्कों में वसूल किया जाता था। सिक्कों के रूप में कर की वसूली से यह भी कल्पना की जा सकती है कि कर्मचारियों को वेतन सिक्कों में ही दिया जाता रहा होगा। चूँकि सिक्के अधिकांशतः सोने के ही हैं, इसलिए वेतन भी इसी सिक्के में मिलता रहा होगा। तात्पर्य यह कि उच्च कर्मचारियों को ही वेतन में सोने के सिक्के दिए जाते रहे होंगे। इन सिक्कों को तत्कालीन अभिलेखों में दीनार अथवा सुवर्ण कहा गया है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् में दान के प्रसंग में 'निष्कशत सुवर्ण परिमाण' का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि इसे निश्चित रूप से 'निष्क' भी कहते थे।

गुप्तकाल में सोने की अपेक्षा चाँदी के सिक्के मिलते हैं। साम्राज्य के पूर्वी भाग में तो चाँदी के सिक्के अत्यल्प मात्रा में मिले हैं। वे अधिकतर पश्चिमी भाग में ही पाए गए हैं, जहाँ सोने के सिक्कों का प्रायः अभाव है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि सोने के सिक्कों का पूर्व में और चाँदी के सिक्कों का पश्चिम में प्रचलन था। यह बात अपने-आप में विचित्र जान पड़ती है। दोनों धातुओं के अलग क्षेत्र होने पर भी दोनों के बीच एक मूल्य निर्धारित था। सुवर्ण का एक सिक्का चाँदी के 25 सिक्कों के बराबर समझा जाता था जिसे 'रूपक' कहते थे।

ताँबे के सिक्के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही भागों में कम ही मिले हैं। मध्य भारत में एक मात्र रामगुप्त के सिक्के बड़ी मात्रा में पाए गए हैं, जो नाग सिक्कों की अनुकृति पर हैं। रामशरण शर्मा की धारणा है कि ताँबे के सिक्कों का अभाव इस बात का द्योतक है कि गुप्तकाल में छोटे राज कर्मचारी अधिक संख्या में नहीं थे, जो उचित नहीं प्रतीत होता।

इसी प्रसंग में यह भी द्रष्टव्य है कि अभिज्ञानशाकुंतलम् में मंत्री का कथन है किधन की गणना करते- करते सारा दिन बीत गया, इस बात का द्योतक है कि मुद्राओं का अत्यधिक प्रचलन था। दूसरी ओर फा–हियान का कहना है कि क्रय-विक्रय में लोग कौड़ियों का प्रयोग करते थे। ये दोनों परस्पर विरोधी बातें कहते हैं; पर दोनों में से किसी की सत्यता से सहसा इनकार नहीं किया जा सकता। कदाचित् यह बात कुछ वैसी ही है जैसी आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक सिक्कों के प्रचुर प्रचलन के बावजूद गाँवों में बहुत-सी चीजों के लेन-देन में कौड़ियों का व्यवहार होता था।

2.3.8. ग्रामीण जीवन

गुप्तयुग में भी अन्य युगों के समान भारत की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती थी। उनकी प्रधान वृत्ति कृषि और पशुपालन था। कृषि की अमित संपदा उनकी थी। जनपदों और नगरों का कृषि से पेट पलता था। कृषि के साथ-साथ लोकप्रिय व्यवसाय पशु-पालन था। कृषि के लिए उपयुक्त पशु, भार ढोने वाले पशु, देश को घी, दूध, दही, मक्खन आदि से तृप्त रखने वाले पशु और उनको पालने वाले लोग गाँवों में निवास करते थे। पशु-पालन का कार्य प्रधान तथा गोपालों या घोषों (घोषियों) द्वारा होता था। ग्रामों में पशुओं की संख्या बहुत अधिक थी और ग्रामों में चारागाहों की संख्याभी बहुत थी। कृषि से संबंधित अन्य व्यवसाय करने वाले जैसे सुतार (बढ़ई), लुहार आदि भी गाँवों में रहते थे, उनका अपना धंधा था, अपनी कला थी। ग्रामीण जीवन सुखी और सफल था। गाँवों के निवासी नगर के छल-छंद से दूर

श्रमशील, संयमी और कठिन कर्तव्य का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी श्रम शिला पर अन्य वर्णों और वर्गों का भार टिका हुआ था।

कृषि और पशुपालन का महत्व होने से भूमि का विशेष महत्व था। संभवतः भूमि प्राप्त करने और भूमि की संपत्ति में वृद्धि करने की प्रवृत्ति लोगों में बलवती हो रही थी। इससे भूमि संबंधी विवादों में भी वृद्धि हो गई थी। तत्कालीन स्मृति ग्रंथों में भूमि के विवादों की चर्चा विस्तार से की गई है। राज्य की ओर से भी भूमि के वितरण और भूमि के क्रय-विक्रय की समुचित कठोर व्यवस्था थी। तत्कालीन दानपत्रों के अभिलेखों से और अन्य अभिलेखों के विश्लेषण से विदित होता है कि भूमि का वितरण, भूमि का क्रय-विक्रय और हस्तांतरण ग्राम परिषद् की स्वीकृति और उसके माध्यम से होता था। ग्राम महात्तारों की उपस्थिति में भूमि का हस्तांतरण किया जाता था और उनके निरीक्षण में ही कृषि भूमि के खंडों और उपखंडो का सीमा रेखांकन भी कर दिया जाता था। ब्राह्मणों को अग्रहार आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में भूमि दी जाती थी। स्मृतियों से विदित होता है कि जब भूमि के स्वामी स्वयं भूमि को न जोत कर अपनी भूमि बटाई पर देते थे और जो व्यक्ति कृषि भूमि को जोतते और बोते थे, तब उनके श्रम के बदले में उन्हें 35 से 50 प्रतिशत उत्पादन प्राप्त होता था। कृषकों में बेगार (विष्टि) प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। इस प्रकार यद्यपि नगरों में उच्चस्तरीय समृद्धि, वैभव और विलास का जीवन था, फिर भी सामान्य ग्रामीण जीवन में अर्थ का अभाव नहीं था। जीवन-यापन सुलभ और सरल था।

2.3.9. सामान्य जीवन

गुप्तकालीन साहित्य में नागरिक जीवन का जो चित्रण हुआ है, उससे तत्कालीन उच्चस्तरीय वैभवपूर्ण जीवन का ही चित्र उभरता है। सामान्य नागरिक के आर्थिक जीवन की स्पष्ट झलक नहीं मिलती। संभावित अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि 12 दीनार के दान के सूद से एक भिक्षुको नियमित रूप से नित्य भोजन दिया जा सकता था। इस रकम पर कितना सूद प्राप्त होता था, इसका तो अभिलेख में उल्लेख नहीं है, पर यदि स्मृतियों में उल्लिखित सवा प्रतिशत प्रतिमास के सामान्य सूद को इसका आधार मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रतिमास उसका सूद 3/20 दीनार अर्थात् सवा दो रूपक होगा। एक रूपक सिक्के में 32 से 36 ग्रेन चाँदी पाई जाती है। इस प्रकार 80 ग्रेन चाँदी के मूल्य से एक भिक्षुको एक मास तक भोजन कराया जा सकता था। आज के भाव से इस चाँदी का दाम लगभग दो रूपया हुआ, जो उस समय किसी एक व्यक्ति के एक दिन के भोजन के लिए पर्याप्त है। स्पष्ट है कि गुप्तकाल में सामान्य जीवन-यापन अत्यंत सुलभ था।

2.3.10. मूल्यांकन

एस. के. मैती का विचार है कि गुप्तकाल में भारत तथा पाश्चात्य विश्व के बीच व्यापारिक संबंधों में गिरावट आ गई थी। इसका प्रमाण हमें कुमारगुप्त कालीन मंदसौर लेख से मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि 'पट्टवायश्रेणी' लाट प्रदेश को छोड़कर दशपुर में जाकर बस गई थी। इस प्रवजन का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि इस समय पश्चिमी देशों के साथ व्यापार लाभकारी नहीं रह गया था। आर. एस. शर्मा भी आर्थिक दृष्टि से गुप्तकाल को पतन का काल मानते हैं। किंतु यह विचार सही नहीं है। मंदसौर लेख से यह ज्ञात नहीं होता है कि बुनकरों की श्रेणी ने अपना परंपरागत पेशा छोड़कर अन्य पेशों को अपना लिया था। इसी लेख में एक स्थान पर कहा गया है कि उन्होंने शिल्प द्वारा अर्जित धन से सूर्य के भव्य मंदिर का निर्माण करवाया तथा बाद में क्षतिग्रस्त होने पर उसका जीर्णोद्धार भी करवाया था। यदि बुनकर अभावग्रस्त होते तो अपनी गाढ़ी कमाई का उपयोग मंदिर निर्माण में कदापि नहीं करते। बुनकरों

का प्रवजन सुरक्षा संबंधी कारणों से भी हो सकता है। इस संबंध में एक अन्य विचारणीय बात यह है कि रोम के साथ स्थल मार्ग से व्यापार भी होता था तथा यह चौथी सदी में इतना अधिक विकसित हुआ कि 'सिल्क जो आर्लियन के काल में सोने से तौल कर बिकता था तथा धनी एवं कुलीन वर्ग की विलासिता की वस्तु था, वह जूलियन के काल में इतना सस्ता हो गया कि सामान्य मनुष्य भी उसे खरीद सकता था।' अतः यह नहीं कहा जा सकता कि गुप्तयुग में भारत का रोम के साथ व्यापारिक संबंध पतनोन्मुख रहा। रोम के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि 408 ई. में हूण आक्रांता एलरिक ने रोम का घेरा डाला तथा फिरौती के रूप में तीन हजार पौंड गोलमिर्च तथा चार हजार थान रेशमी वस्त्र प्राप्त करने के बाद ही अपना घेरा उठाया था। यह इस बात का सूचक है कि पाँचवी शती में भी रोम में भारतीय माल प्रचुर मात्रा में था। रोम के पतन के बाद उसका स्थान कुस्तुनतुनिया ने ग्रहण किया तथा कांन्स्टैंटाइन महान ने 330 ई. में उसे अपने शासन का केंद्र बनाया। इस समय से भारत तथा रोम का व्यापारिक संबंध और घनिष्ठ हो गया। कुस्तुंतुनिया के अभिजात लोग अत्यंत धनी एवं विलासप्रिय थे जिनकी आवश्यकताएँ केवल पूर्वी देश ही पूरी कर सकते थे। कुस्तुंतुनिया के चिकित्सा प्रबंधों से पता चलता है कि वहाँ के बाजारों में सभी प्रकार के भारतीय मसाले बहुतायत में विक्रय होते थे। जुस्तिनियन 'लॉ डाइजेस्ट' में आयातित वस्तुओं की जो सूची मिलती है, उनमें अधिकांश भारतीय हैं। भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त कुस्तुंतुनिया सिक्कों से भी दोनों देशों के बीच घनिष्ठ व्यापारिक संबंधों की सूचना मिलती है। अतः यह सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है कि गुप्तयुग में व्यापार-वाणिज्य का ह्रास हुआ। रोमिला थापर के शब्दों में, 'गुप्तकाल की व्यापारिक समृद्धि उस आर्थिक प्रगति का अंतिम चरण थी जो पिछले काल में प्रारंभ हुई थी।'

2.3.11. सारांश

गुप्तकालीन आय-व्यय– गुप्तकालीन अभिलेखों से साम्राज्य की आय के विभिन्न साधन ज्ञात होते हैं। नियमित रूप से भूमि का नाप और निरीक्षण करके, भूस्वामित्व के अधिकारों का विश्लेषण करके भूमिकर निर्दिष्ट किया जाता था। राज्य की आय का मुख्य आधार भूमिकर था। अन्य कर निम्नलिखित थे—

(1) उद्रंग (2) उपरिकर (3) भूतोवात (4) नगरीय शुल्क
(5) प्रतिवेधनिक (6) विक्रय कर (7) कारुकर (8) सामयिक कर
(9) अर्थदंड (10) वन कर (11) भूमि से आय (12) सामंतों से कर/उपहार
(13) राज्य का व्यय

कृषि– गुप्तकालीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक जीवन कृषि प्रधान था। इस युग में राज्य की ओर से प्रयास हुआ था कि अधिक से अधिक भूमि खेती के योग्य बनाई जाए। कृषि की रक्षा राजा के कर्तव्यों में एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था। इसलिए प्रतीत होता है कि राज्य की ओर से सिंचाई आदि का समुचित प्रबंध किया जाता रहा होगा, कुएँ वापी, तालाब तडाग की समुचित व्यवस्था की जाती रही होगी। इस प्रकार के जलाशय-निर्माण किए जाने के उल्लेख अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं।

उद्योग– गुप्तकाल में सामान्य जीवन से संबंधित उद्योग तो किसी-न-किसी रूप में हर नगर और जनपदों में उसी परंपरा में होता रहा होगा, जो अब तक कुटीर-उद्योगों के रूप में प्रत्येक गाँवों में रही थी। समकालीन ग्रंथों से प्रतीत होता है कि मिट्टी के बर्तन बनाने का काम कुम्हार, लोहे के बर्तन, अस्त्र-शस्त्र, खेती के उपकरण लुहार, धातु के बर्तन आदि कसेरे, लकड़ी के काम बढ़ई और आभूषण आदि बनाने का काम

सुनार करते थे। इसी प्रकार जुलाहों के हाथ में कपड़े बुनने का उद्योग था। निष्कर्ष यह है कि वर्गगत व्यवसाय के रूप में लोग अपने-अपने घरों में अपना-अपना परंपरागत व्यवसाय करते थे।

व्यापार– कृषि और उद्योग पर अवलंबित आर्थिक जीवन की व्यवस्था का माध्यम व्यापार था। गुप्तकाल में इस व्यापार के दो स्पष्ट रूप थे। एक का नियंत्रण श्रेष्ठि करते थे और दूसरे का सार्थवाह। श्रेष्ठि जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे। उनकी दुकानें नगरों और ग्रामों में प्रायः सभी जगह होती थी। सार्थवाह एक स्थान से दूसरे स्थान तक आते-जाते थे और इस प्रकार वे देश-विदेश का माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का काम करते थे। इस प्रकार वे यातायात के व्यवस्थापक और थोक व्यापारी दोनों का काम करते थे।

मुद्रा– आर्थिक जीवन की समृद्धि की द्योतक मुद्राएँ हुआ करती हैं। अतः आर्थिक दृष्टि से गुप्त-काल का महत्व इस बात में है कि गुप्त-सम्राटों ने अत्यधिक मात्रा में सोने के सिक्के प्रचलित किए थे। इस दृष्टि से इस युग को स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। भूमि के क्रय-विक्रय में मूल्य का निर्धारण इन्हीं सोने के सिक्कों में होता था। भू-कर के रूप में हिरण्य का उल्लेख मिलता है, इससे भी यह अनुमान होता है कि कर का कुछ अंश सिक्कों में वसूल किया जाता था।

ग्रामीण जीवन– गुप्तयुग में भी अन्य युगों के समान भारत की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती थी। उनकी प्रधान वृत्ति कृषि और पशुपालन था। कृषि की अमित संपदा उनकी थी। जनपदों और नगरों का कृषि से पेट पलता था। कृषि के साथ-साथ लोकप्रिय व्यवसाय पशु-पालन था।

सामान्य जीवन– गुप्तकालीन साहित्य में नागरिक जीवन का जो चित्रण हुआ है, उससे तत्कालीन उच्चस्तरीय वैभवपूर्ण जीवन का ही चित्र उभरता है। संभावित अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि 12 दीनार के दान के सूद से एक भिक्षु को नियमित रूप से नित्य भोजन दिया जा सकता था।

2.3.12. बोध प्रश्न

2.3.12.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकाल में किस किसकी खेती होती थी? नाम लिखिए।
2. गुप्तकाल में सिंचाई के कौन से साधन उपलब्ध थे?
3. गुप्तकाल के प्रमुख उद्योग कौन से थे?
4. श्रेष्ठि और सार्थवाह से आप क्या समझते हैं?
5. गुप्तकाल में किन–किन वस्तुओं का व्यापार होता था?
6. हिरण्य से आप क्या समझते हैं?
7. गुप्तकालीन ग्रामीण जीवन पर प्रकाश डालिए।
8. गुप्तकालीन सामान्य जीवन पर प्रकाश डालिए।
9. गुप्तकालीन प्रमुख करों के नाम लिखिए।
10. गुप्तकालीन आर्थिक जीवन पर डॉ. रोमिला थापर के क्या विचार हैं?

2.3.12.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकालीन कृषि का वर्णन कीजिए।
2. गुप्तकालीन उद्योगों की विवेचना कीजिए।
3. सार्थवाह पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
4. गुप्तकालीन व्यापार का वर्णन कीजिए।

5. गुप्तकालीन मुद्राओं की विवेचना कीजिए।
6. गुप्तकालीन करों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए।

2.3.13. संदर्भ ग्रंथ

01. रमशेचन्द्र, मजूमदार (1962). *प्राचीन भारत*. दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।
02. जयचन्द्र, विद्यालंकार (1942). *भारतीय इतिहास की रूपरेखा*. इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडेमी।
03. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल. (1963). *पतंजलिकालीन भारत*. बिहार : राष्ट्र भाषा परिषद, पटना।
04. पाण्डेय, चन्द्रभान. (1963). *आंध्र-सातवाहन साम्राज्य का इतिहास*. दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
05. पाण्डेय, विमल चन्द्र. *प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास*. इलाहाबाद।
06. मोतीचन्द्र, सार्थवाह. (1953). *प्राचीन भारत का पथ पद्धति*. बिहार : राष्ट्र भाषा परिषद।
07. वी. वी. मिराशी, (1964). *वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख*. वाराणसी।
08. पाण्डेय, राजबली. (1962). *प्राचीन भारत*. वाराणसी : नंदकिशोर एण्ड संसद।
09. अग्रवाल, वासुदेवशरण. (सं. 2012 वि.). *पाणिनिकालीन भारत*. वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज।
10. मोतीचन्द्र, (सं. 2007). *प्राचीन भारतीय वेशभूषा*. भारती भंडार, प्रयाग।
11. जायसवाल, प्रशांत कुमार (1993). *शककालीन भारत*. साधना सदर, इलाहाबाद, फरवरी।
12. मुकर्जी, राधाकुमुद. (1962). *प्राचीन भारत*. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
13. पाण्डेय, राजबली. (1960). *विक्रमादित्य*. वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन।
14. ए.एल. बाशम, अद्भुत भारत. (1967). *शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी*. आगरा।
15. जयचंद्र, विद्यालंकार (1960). *भारतीय इतिहास की मीमांसा*. इलाहाबाद : हिंदी भवन।
16. घोष एम.ए, नगेन्द्रनाथ. (1951). *भारत का प्राचीन इतिहास*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
17. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (1952). *प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद*. बंबई : हिंदी ग्रंथ रत्नाकार।
18. बारनेट, एल.डी. (1913). *एण्टीक्विटीज ऑफ इंडिया*. लंदन।
19. ई.जे, रैप्सन. *कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया*. (खंड-1)।
20. रैप्सन, ई.जे. (1922). *एंशेंट इंडिया* कैम्ब्रिज।
21. राय चौधरी, एच.सी. (1938). *पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया*. कलकत्ता : चतुर्थ संस्करण।
22. के.ए, नीलकंठ शास्त्री. (1950). *हिस्टरी ऑफ इंडिया, (खंड-1)*. मद्रास : एंशेंट इंडिया।
23. वी.ए, स्मिथ. (1924). *अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया*. चतुर्थ संशोधित संस्करण।
24. मजूमदार तथा पुसलकर, दी वैदिक एज. *भारतीय विद्या भवन*. बम्बई।
25. मजूमदार तथा पुसलकर, (1953). *दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी*. बंबई : भारतीय विद्या भवन।
26. मजूमदार तथा पुसलकर, (1953). *दी क्लासिकल एज*. बंबई : भारतीय विद्या भवन।
27. के. ए, नीलकंठ शास्त्री. (1957). *ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इंडिया (खंड-2)*. मुम्बई : ओरियंट लांगमैन्स।

28. एलन, हेग, डाडवेल. (1934). *दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इंडिया.* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
29. सुधाकर, चट्टोपाध्याय. (1938). *अर्ली हिस्टरी ऑफ नार्थ इंडिया.* कलकत्ता : एकेडेमिक पब्लिशर्स।
30. ए. एस, अल्तेकर. (1960). *वाकाटक-गुप्त एज.* दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।

खंड–2 गुप्तकाल

इकाई–4 : स्वर्णकाल : विभिन्न मत

इकाई की रूपरेखा

2.4.1. उद्देश्य
2.4.2. प्रस्तावना
2.4.3. गुप्तकाल के पूर्व भारत
2.4.4. गुप्त सम्राट
2.4.5. वैदिक धर्म का पुनरुत्थान
2.4.6. साहित्य की प्रगति
2.4.7. विज्ञान का विकास
2.4.8. कला एवं स्थापत्य
2.4.9. प्रशासनिक व्यवस्था
2.4.10. सामाजिक जीवन
2.4.11. धार्मिक स्थिति
2.4.12. आर्थिक स्थिति
2.4.13. वैदेशिक संबंध
2.4.14. निष्कर्ष
2.4.15. विभिन्न मत
2.4.16. सारांश
2.4.17. बोध प्रश्न
2.4.17.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
2.4.17.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
2.4.18. संदर्भ ग्रंथ

2.4.1. उद्देश्य

गुप्त-काल को न केवल स्वर्ण-युग कहा जाता है वरन् उसकी तुलना अन्य विश्व प्रसिद्ध युगों से की जाती है। एल. डी. बारनेट ने गुप्त-युग को भारत का 'पेरिक्लिज-युग' कहा है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य इतिहासकारों ने गुप्त युग को 'क्लासिकल एज' की भी संज्ञा दी है। गुप्त-काल को स्वर्ण-युग क्यों कहा जाता है? एवं स्वर्णयुग के विषय में विद्वानों के क्या मत-मतांतर रहे हैं। इन सभी तथ्यों पर प्रकाश डालना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

2.4.2. प्रस्तावना

गुप्त शासकों ने मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् पहली बार इतने व्यापक रूप से राजनीतिक एकता स्थापित की। अपने उत्कर्ष काल में गुप्त-साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विंध्य पर्वत तक तथा पूर्व में बंगाल से पश्चिम में सौराष्ट्र तक फैला हुआ था। यह भाग गुप्त राजाओं के प्रत्यक्ष शासन में था जबकि सूदूर दक्षिण तक उनका यश फैला हुआ था तथा दक्षिणापथ के शासक उनकी राजनीतिक

प्रभुसत्ता स्वीकार करते थे। गुप्त सम्राट संपूर्ण देश में एकछत्र शासन स्थापित करना चाहते थे। अपने पराक्रम एवं वीरता के बल पर उन्होंने प्रायः समस्त भारतवर्ष को एकता के सूत्र में आबद्ध कर लिया था। गुप्तकाल में देश की बहुत कुछ भौतिक तथा नैतिक उन्नति अंततोगत्वा उसकी सुदृढ़ राजनीतिक परिस्थितियों का ही परिणाम थी।

अपनी जिन विशेषताओं के कारण गुप्तकाल भारतीय इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णयुग का स्थान बनाए हुए है, वे इस प्रकार हैं–

1. राजनैतिक एकता का काल।
2. महान सम्राटों का काल।
3. श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का काल।
4. आर्थिक समृद्धि का काल।
5. धार्मिक सहिष्णुता का काल।
6. साहित्य, विज्ञान एवं कला के चरमोत्कर्ष का काल।
7. भारतीय संस्कृति के प्रचार का काल।

स्वर्ण काल - विभिन्न मत

गुप्त-युग को भारत के इतिहास में स्वर्ण-युग के नाम से जाना जाता है। गुप्त-शासकों ने भारत को राजनीतिक एकता, सुरक्षा व शांति की भावना प्रदान की। गुप्त-काल को स्वर्ण-युग कहा जाने के लिए इस युग में हुई चतुर्दिक उन्नति उत्तरदायी है। इस काल में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में असीमित उन्नति हुई। गुप्तकाल में भारतीय समाज एवं संस्कृति की विशेष उन्नति हुई। इस समय ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं था जिसमें भारत वासियों ने उन्नति की ओर कदम नहीं उठाया हो। वास्तव में यह काल भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' था। अतः भारतीय इतिहास में गुप्त काल अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

2.4.3. गुप्तकाल के पूर्व भारत

गुप्त काल के प्रादुर्भाव से पूर्व उत्तरी तथा दक्षिणी भारत विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। कुषाण वंश का भारत से पूर्णतया लोप हो चुका था।

(क) शांति तथा सुव्यवस्था का अंत- भारत देश में आंतरिक तथा पारस्परिक स्पर्धा के कारण शांति तथा सुव्यवस्था का पूर्णतः लोप हो चुका था।

(ख) बाह्य आक्रमणों का शिकार - गुप्तों के पूर्व पर्याप्त समय तक भारत बाह्य आक्रमणों का शिकार बना हुआ था जिसके कारण भारत का राजनीतिक जीवन विशृंखलित हो चुका था। भारत के पश्चिमी भागों पर विदेशियों की सत्ता स्थापित थी।

(ग) व्यापार एवं वाणिज्य की अधोगति - व्यापार एवं वाणिज्य अधोगति को प्राप्त हो चुका था। उसकी दशा बड़ी सोचनीय थी।

(घ) प्रजा का निम्न आर्थिक स्तर - प्रजा का सामाजिक तथा आर्थिक स्तर बहुत गिर गया था। समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा था। राजाओं के पारस्परिक कलह ने उग्र रूप धारण कर लिया था, जिसके कारण उनको अपने शासन प्रबंध एवं प्रजा की व्यवस्था उन्नत करने का अवकाश प्राप्त नहीं होता था।

(ङ) गुप्तों द्वारा नई लहर का जन्म - गुप्तों की दिग्विजय, आदर्श शासन व्यवस्था, उदार एवं सहिष्णु धार्मिक नीति तथा विद्या व विभिन्न ललित कलाओं के प्रोत्साहन ने भारत के जीवन में पूर्णतया परिवर्तन

कर भारत में एक नई लहर को जन्म दिया। इसका फल यह हुआ कि भारतीय जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति की झलक दिखाई देने लगी जिसके कारण इस काल को स्वर्ण युग कहा गया है। डॉ. भगवत शरण उपाध्याय के शब्दों में ''दीर्घजीवी सम्राटों ने इस युग में शास्त्रों को आदर्श बनाकर उनके आदेशों के अनुसार आचरण किया। दिग्विजय, अश्वमेध यज्ञादि अनुष्ठान कर उन्होंने भारतीय धरा को एक छत्र के नीचे लाने का सफल उद्योग किया और दीर्घकाल तक उस पर पितृवत् शासन किया।''

2.4.4. गुप्त सम्राट

गुप्तकाल में अनेक महान एवं यशस्वी सम्राटों का उदय हुआ जिन्होंने अपनी विजय द्वारा एकछत्र शासन की स्थापना की। समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कंदगुप्त आदि इस काल के योग्य तथा प्रतापी सम्राट थे। समुद्रगुप्त का आदर्श संपूर्ण पृथ्वी को बाँधना था। उसने न केवल आर्यावर्त्त के राजाओं का उन्मूलन किया, अपितु सुदूर दक्षिण तक अपनी विजय वैजंती फहराई। शक-कुषाण आदि शक्तियों ने भी उसे अपना सम्राट स्वीकार किया। उसका उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य उसी के समान वीर योद्धा था। उसका आदर्श 'कृत्स्नपृथ्वीजय' था। उसने गुजरात और काठियावाड़ के शकों का उन्मूलन किया तथा उसके प्रताप के सौरभ से दक्षिण के समुद्रतट सुवासित हो रहे थे। स्कंदगुप्त अपने वंश का अंतिम प्रतापी शासक हुआ। उसने हूण जैसी बर्बर एवं भयानक जाति को परास्त कर अपनी वीरता का परिचय दिया। हूणों के साथ उसने इतना घनघोर युद्ध किया कि उसकी भुजाओं के प्रताप से पृथ्वी कंपित हो उठी। इस प्रकार उसने एक क्रूर तथा बर्बर आक्रमण से भारत भूमि की रक्षा की। स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण की। इस प्रकार हम पाते हैं कि गुप्तकाल महान सम्राटों का काल रहा। इतने वीर एवं यशस्वी शासक प्राचीन भारतीय इतिहास के किसी अन्य युग में दिखाई नहीं देते।

2.4.5. वैदिक धर्म का पुनरुत्थान

गुप्त राजा वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने वैदिक धर्म के उत्थान के लिए विशेष प्रयत्न किया। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म का भारत से पतन होना आरंभ हुआ और वैदिक धर्म का उत्थान होने लगा। गुप्त राजा यद्यपि वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायी थे, किंतु उनकी धार्मिक नीति अन्य धर्मों के प्रति सदा उदार रही। वे अन्य धर्मों के विद्वानों का उसी प्रकार आदर करते थे जिस प्रकार वे वैदिक धर्म के आचार्यों का आदर करते थे। इस काल में यज्ञों की भरमार थी। सम्राटों ने बड़े-बड़े यज्ञ किए। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ अपनी दिग्विजय के उपरांत किया था। इस काल में वैदिक धर्म वैसा संकीर्ण नहीं रह गया था जैसा कि वह महात्मा बुद्ध तथा महावीर स्वामी के काल में था। वैदिक धर्म ने अपने देवताओं को मानव रूपधारी देवताओं का बाना पहना दिया था। उन्होंने देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित कर उनकी उपासना आरंभ कर दी थी। इस प्रकार इस काल से भक्ति मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय के उत्कीर्ण लेखों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म का क्षेत्र विस्तृत हो गया था। अन्य धर्मों के अनुयायियों की संख्या दिन प्रतिदिन कम हो रही थी। इसका कारण धार्मिक अत्याचार अथवा राजाओं की अनुदार नीति नहीं थी, वरन् वैदिक धर्म में आवश्यक सुधारों के होने पर जनता इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट होने लगी थी। सरकारी सेवाओं की प्राप्ति में धर्म बाधक नहीं था। चंद्रगुप्त प्रथम का सेनापति अमरकादिक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। राजाओं की उदारता तथा सहिष्णुता का प्रभाव जनता पर भी अच्छा पड़ा। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में कटुता का अभाव था। उनमें सहयोग एवं सद्भावना विद्यमान थी। प्रसिद्ध चीनी

यात्री फा-हियान के अनुसार उस समय भारत में धर्म के नाम पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जाता था। ब्राह्मणों तथा बौद्धों में मैत्रीपूर्ण संबंध था।

2.4.6. साहित्य की प्रगति

हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के साथ-साथ संस्कृत भाषा ने विशेष रूप से उन्नति की। साहित्यकारों ने इस भाषा को अपनाकर अपने ग्रंथों की रचना संस्कृत भाषा में की। अतः इस भाषा ने उन्नति की चरम सीमा प्राप्त की। यह राजकीय भाषा के पद पर आसीन हुई। यह युग धार्मिक साहित्य की तीन धाराओं- वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य में विभाजित किया जाता है। इस काल में अनेक साहित्यकार हुए जिसमें - कालिदास, भवभूति, हरिषेण, वीरसेन और वासुल विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब में कालिदास की कृतियाँ अनुपम तथा अद्भुत हैं। उनका 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' नाटक विश्व की अद्भुत कृतियों में गिना जाता है। उनका महाकाव्य 'रघुवंशम्' है। संस्कृत कवियों तथा नाट्यकारों में मातृगुप्त, शूद्रक, विशाखदत्त तथा कालिदास बहुत प्रसिद्ध हैं। इस युग में गणित और ज्योतिष शास्त्र के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। इसमें आर्यभट्ट और विष्णुगत्त विशेष महत्वपूर्ण विद्वान हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुस्मृति, महाभारत, पुराण, आदि धार्मिक ग्रंथों का भी वर्तमान रूप इस काल की ही देन है। इसी समय बौद्ध तथा जैन विद्वानों ने भी धार्मिक ग्रंथों की रचना की। बौद्ध लेखकों तथा विद्वानों में आचार्य मंत्रिम, असंग, कुमारजीव, चंद्रकीर्ति, धर्मपाल, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। जैन विद्वानों में चंद्रमणि, सिद्धसेन मणि हुए हैं।

2.4.7. विज्ञान का विकास

इस काल में गणित, आयुर्वेद और ज्योतिष विज्ञान की विशेष प्रगति हुई। गुप्तकाल ने ही आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर जैसे जगतप्रसिद्ध गणितज्ञ एवं ज्योतिषाचार्य उत्पन्न किए जिनकी रचनाएँ आज भी प्राचीन विश्व के विज्ञान को भारत की महानतम देन स्वीकार की जाती हैं। सर्वप्रथम आर्यभट्ट ने ही यह खोज की थी कि पृथ्वी अपनी धुरी की परिक्रमा करती है तथा सूर्य के चारों ओर घूमती है।

2.4.8. कला एवं स्थापत्य

गुप्तकाल में विभिन्न कलाओं की भी विशेष रूप से उन्नति हुई। इस समय एक नवीन भारतीय कला का उदय हुआ। भारतीय कला पर जो प्रभाव विदेशी कला का था उसका पूर्णतया अंत हो गया। भारतीय कला ने विदेशी कला को प्रभावित किया। इसका अन्य देशों की कला शैली पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। इस काल में कलाओं को कई शीर्षकों के अंतर्गत विभक्त किया गया है जो निम्नलिखित हैं -

(क) भवन निर्माण कला– गुप्तकालीन भवन निर्माण कला के नमूने पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं। इसका प्रमुख कारण समय का प्रभाव और विदेशी आक्रमणकारियों की ध्वंसात्मक नीति है, किंतु जो कुछ भी प्राप्त होते हैं उनके आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उस समय के भारत में भवन निर्माण कला उच्चकोटि पर थी। सारनाथ स्तूप, अजंता एलोरा आदि के गुहा, विहार इसी समय के उत्कृष्ट नमूने हैं। ऐहोल में दुर्गा का मंदिर, देवगढ़ का मंदिर, बोधगया का महाबोधि मंदिर इस युग की भवन निर्माण कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। भवनों के अलंकृत स्तंभों में मेहरौली (दिल्ली) स्थित स्तंभ की अपनी एक अलग विशेषता है जिस पर जल का आज तक कोई प्रभाव नहीं हुआ है।

(ख) मूर्ति कला– इस समय की मूर्ति कला पर से विदेशी प्रभाव का पूर्ण रूप से अंत हो चुका था। इस समय की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इस काल की देव मूर्तियों की विशेषताओं में अलंकृत प्रभावमंडल् भीने वस्त्र, केशों की विशेष विन्यास शैली, मुद्रा आसन आदि उल्लेखनीय हैं। इस समय की विष्णु, शिव, पार्वती, ब्रह्मा आदि देवताओं तथा बुद्ध, बोधित्सव और अवलोकितेश्वरी की अनेक सुदंर तथा भव्य मूर्तियाँ विद्यमान हैं। सारनाथ में मिली हुई भगवान बुद्ध की प्रसिद्ध मूर्ति इस काल की मूर्ति कला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(ग) चित्रकला– चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण गुप्तकाल में ही उपलब्ध होते हैं। गुप्तकाल की चित्रकला के उदाहरण अजंता, एलोरा, बाघ गुफा, बादामी एवं सितनपल की गुफाओं में उपलब्ध हैं। गुफाओं में चट्टानों को काटकर उनकी दीवारों पर चित्रकारी की तालिका ने गुप्तकालीन चित्रकला को अमर बना दिया है। अजंता की विश्वविख्यात गुहा की चित्रकारी अधिकतर गुप्तकाल में ही संपन्न हुई है। इसकी प्रशंसा विश्व के सभी कला विज्ञानों ने मुक्तकंठ से की है। मानव भावों का इतना सुदंर, सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण और कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है जैसा अजंता की गुफाओं में देखा गया है। समाधिरत बुद्ध से लेकर प्रणय क्रीड़ारत दंपत्ति तथा शृंगार में मग्न स्त्रियाँ, प्रशांत तपस्वी, कुख्यात निर्दयी बधिक, राज-परिवार, धूर्त एवं सभी प्रकार के महलों के चित्र यहाँ पर चित्रित हैं। अजंता के चित्रों की प्रमुख विशेषता विविध प्रकार के अंगविन्यास, वेश-भूषा, मुख-मुद्रा एवं भाव-भंगिमा आदि हैं।

(घ) संगीत कला– गुप्तकाल में संगीत कला की भी पर्याप्त उन्नति हुई। इस कला को गुप्तकाल के सम्राटों का संरक्षण एवं आश्रय प्राप्त था। उन्होंने इस कला को प्रोत्साहित करने हेतु विशेष रूप से ध्यान दिया। सम्राट समुद्रगुप्त संगीत कला का विशेष प्रेमी था। उसको इससे विशेष अनुराग था। वह इस कला में दक्ष था। उसे वीणा बजाने का विशेष चाव था। साहित्य में भी संगीत का पर्याप्त उल्लेख है। समुद्रगुप्त को उस समय के साहित्यकारों ने नारद और तुमरू से भी अधिक योग्य बतलाया है।

(ड.) मुद्रा कला– गुप्तकाल में मुद्रा-कला की भी उन्नति हुई। इस काल की मुद्राएँ विशेष आकर्षक थीं। इन पर अंकित मूर्तियाँ बड़ी भव्य थी। इन पर सम्राटों की मनोवृत्ति तथा उनकी कीर्तियाँ अंकित की गई हैं। समुद्रगुप्त की एक मुद्रा पर उसका अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा तथा वह स्वयं वीणा लिए हुए अंकित किया गया है। इनकी मुद्रा शुद्ध भारतीय स्वर्ण की थी।

(च) नाट्य कला– इस काल में नाट्य कला का भी तीव्रगति से विकास हुआ। इस कला में कई नाट्यकार हुए हैं। नाटकों में जनता की विशेष रुचि थी। रंगमंच उन्नत अवस्था में था।

2.4.9. प्रशासनिक व्यवस्था

गुप्तों के प्रशासन का आधार मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था ही थी। दोनों के शासन प्रबंध में केवल अंतर यह था कि गुप्तकालीन नियम व दंड व्यवस्था उतनी कठोर नहीं थी जितनी कि वह मौर्यकाल में थी। इस काल में जनता को व्यक्तिगत स्वतंत्रता मौर्य काल से अधिक प्राप्त थी। गुप्त राजा, मंत्रियों और सचिवों की सलाह से शासन करते थे। समस्त साम्राज्य प्रांतों में विभक्त था और प्रत्येक प्रांत एक प्रांतीय सूबेदार के अधिकार में था। वह अपने प्रत्येक कार्य के लिए सम्राट के प्रति उत्तरदायी था। प्रांतों का विभाजन कई भागों में किया जाता था। उस समय न्याय-व्यवस्था बहुत उच्चकोटि की थी। राजा प्रधान न्यायाधीश था। अपराधों की संख्या बहुत कम थी। दंड अपराध के अनुसार दिए जाते थे। साधारणतः आर्थिक दंड दिया जाता था। शारीरिक तथा मानसिक दंड बहुत कम दिए जाते थे।

2.4.10. सामाजिक जीवन

गुप्तकाल में सामाजिक जीवन के क्षेत्र में भी विशेष उन्नति हुई। गुप्तों की दिग्विजय के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति का जन्म हुआ और भारतीय समाज ने उन्नति की ओर अग्रसर होना आरंभ किया। इस काल में जाति व्यवस्था की मान्यता कम होने लगी थी। वर्णों का आदर एवं सत्कार उनके कर्तव्य-पालन के आधार पर किया जाता था। ब्राह्मणों का समाज में बड़ा मान था। इस काल में वे अपने कार्य को बड़ी योग्यता एवं तत्परता से किया करते थे। क्षत्रियों ने अपने कर्तव्य को बड़ी निष्ठा एवं सतर्कता से संपन्न किया। उन्होंने प्रत्येक समय प्रजा की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। वैश्य व्यापार एवं वाणिज्य की ओर विशेष ध्यान देते थे। उनके प्रयत्नों से व्यापार एवं वाणिज्य की विशेष उन्नति हुई, जिसने भारतीयों के जीवन को अधिक उन्नत किया। शूद्रों ने अपनी शक्ति के अनुसार समाज सेवा संबंधी कार्य किए। शूद्रों की कुछ जातियाँ अछूत के रूप में मानी जाती थीं। वे नगर अथवा गाँव के एक किनारे निवास करती थीं। वे घृणा की दृष्टि से देखी जाती थीं। उसकी गणना भारतीय समाज में नहीं की जाती थी। वे नगर तथा गाँव के भीतरी भागों में बहुत कम प्रवेश करते थे। जिस समय वे ऐसा करते थे तो वे ढपली बजाते थे, जिससे लोग मार्ग से हट जाएँ। इस समय वर्णों तथा व्यवसायों का परिवर्तन संभव था। अंतर्जातीय विवाह तथा प्रीतिभोज प्रथा का प्रचलन था। अतः इस काल के समाज में संकीर्णता का अभाव था।

(क) विवाह– गुप्तकालीन साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि यह युग अंतर्जातीय विवाहों का युग था। इस काल के साहित्य में इस प्रकार के विवाहों की विशेष चर्चा है। गुप्तकालीन क्षत्रिय सम्राटों ने ब्राह्मण वाकाटकी के साथ वैवाहिक संबंधों की स्थापना की। इस समय विधवा विवाह निषेध नहीं माना जाता था। उसका भी प्रचलन था। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की विधवा पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह किया। अनमेल वृद्ध विवाहों का भी प्रचलन था। स्वयं कुमारगुप्त ने अपनी वृद्धावस्था में एक नवयुवती कन्या से विवाह किया था। इस समय बहु-विवाह का भी प्रचलन था।

(ख) स्त्रियों का समाज में स्थान– गुप्तकालीन समाज में स्त्रियों को उन्नत स्थान प्राप्त था। माता का नाम पिता के साथ सम्मिलित किया जाता था। स्त्रियों की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाता था। स्त्रियों ने शासन-संबंधी कार्यों में अपने पतियों को बड़ा सहयोग प्रदान किया। प्रभावती गुप्ता ने शासन-संचालन बड़ी योग्यता एवं दक्षता के साथ किया। साधारणतः स्त्रियों में पर्दाप्रथा का प्रचलन नहीं था। वे सामाजिक, धार्मिक आदि कार्यों में पुरुषों के समान भाग लिया करती थीं। सती प्रथा का आरंभ इसी काल में हुआ। गुप्तकालीन साहित्य में इस ओर संकेत किया गया है।

(ग) भोजन– अधिकांश जनता का भोजन सात्विक था। प्रायः लोग शाकाहारी थे। फा-हियान ने अनुसार मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज आदि का प्रयोग केवल चांडाल ही किया करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय के लोगों पर जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव विशेष रूप से था।

(घ) वस्त्र, आभूषण– जनता साधारण वस्त्रों का प्रयोग करती थी। साधारण श्रेणी के लोग सूती वस्त्र और उच्च श्रेणी के लोग रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों आभूषणों का प्रयोग करते थे। पुरुष धोती बाँधते थे और स्त्रियाँ साड़ी और चोली धारण करती थीं। इनको शृंगार का विशेष चाव था। स्त्रियाँ अपने केशों को विशेष प्रकार से गूँथती थीं।

2.4.11. धार्मिक स्थिति

इस समय भारत में तीन धर्मों के अनुयायी मुख्य रूप से थे, किंतु इस समय ब्राह्मण धर्म उन्नत था और बौद्ध धर्म का पतन आरंभ हो गया था।

(क) ब्राह्मण धर्म– गुप्तकालीन सम्राट ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, किंतु उनकी धार्मिक नीति बड़ी उदार थी। जनता को धार्मिक स्वतंत्रता पूर्णरूप से प्राप्त थी। राजाओं की ओर से लोगों की धार्मिक भावनाओं तथा कृत्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं था। इस काल में यज्ञों की बहुलता थी। ब्राह्मण धर्म का प्रभाव दक्षिणी प्रदेशों में भी होना आरंभ हो गया था। वैदिक धर्म में आवश्यक परिवर्तन किए गए। देवताओं का मानवीकरण किया गया। सूर्य की प्रतिमा की पूजा का प्रचलन हुआ। सूर्य के मंदिरों का निर्माण किया गया। विष्णु और शिव की विशेष रूप से उपासना की जाने लगी।

(ख) बौद्ध धर्म– बौद्ध धर्म हीनयान और महायान नामक दो संप्रदायों में विभाजित हुआ। बौद्ध धर्मावलंबी बुद्ध की सर्वसत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास करने लगे। महात्मा बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा और उनको मंदिरों में प्रतिष्ठित भी किया जाने लगा। उनमें भी स्तुति, पूजन तथा अर्चन की प्रथा का प्रचलन हुआ। महायान संप्रदाय में भक्ति के मार्ग का उदय हुआ। वह वैदिक धर्म के अधिक निकट आता हुआ दिखलाई देने लगा। अतः दोनों धर्मों में समन्वय की स्थापना आरंभ हुई। इस समय भी बौद्ध धर्मावलंबियों की संख्या बहुत थी। उस समय के लेखों से ऐसा आभास होता है कि वैदिक प्रतिक्रिया तथा आवश्यक परिवर्तनों के कारण बौद्ध इस ओर प्रभावित होने लगे। कुछ समय के उपरांत बौद्ध अनुयायियों की संख्या में कमी होने लगी।

(ग) जैन धर्म– गुप्तकाल में जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत कम थी। उनके आचरण संबंधी नियम कठोर होने के कारण भारतीय जनता उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हो सकी। जैन धर्म उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में अधिक पल्लवित हुआ। जैनियों में भी मूर्ति प्रथा का प्रचलन वैदिक प्रभाव के कारण आरंभ हो गया था। उन्होंने भी अपने तीर्थंकरों की मूर्ति का निर्माण करना आरंभ किया और उनको मंदिरों में प्रतिष्ठित करने लगे तथा उनमें स्तुति, पूजन, अर्चन आदि की प्रथाओं का प्रचलन हुआ।

अतः यह कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन युग ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का युग था। इस धर्म का प्रभाव अन्य धर्मों पर भी विशेष रूप से पड़ा जिसके कारण बौद्ध धर्म के अनुयायी उस धर्म में विलीन हो गए और जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या न्यून हो गई। उनका कार्य क्षेत्र उत्तरी भारत से हटकर दक्षिण भारत हो गया।

2.4.12. आर्थिक स्थिति

गुप्तकालीन भारत में जनता की आर्थिक व्यवस्था बहुत उन्नत थी। इस काल में उत्पत्ति के साधन तथा आवागमन के मार्ग उन्नत थे। राज मार्ग विशेष रूप से सुरक्षित थे। जनता को चोर और डाकुओं का भय नहीं था। इसका कारण यह है कि लोगों को थोड़े परिश्रम से ही आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती थी एवं चोरी की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कृषि, उद्योग, व्यापार, वाणिज्य आदि उन्नत दशा में थे। राज्य की ओर से उनकी उन्नति तथा विकास के लिए विशेष प्रयास किया जाता था। इस समय का बाह्य व्यापार बहुत उन्नत था तथा जल एवं स्थल मार्गों द्वारा किया जाता था। व्यवसायिकों के संघ थे। उनके अपने नियम तथा कोष थे। बैंक का कार्य संघ करते थे। इन संघों ने प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था को संपन्न बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। विनिमय के लिए कई प्रकार के सिक्के थे।

आर्थिक दृष्टि से गुप्त सम्राटों का शासनकाल समृद्धि का काल रहा। लोगों की जीविका का प्रमुख स्रोत कृषि कर्म था। इस युग के सम्राटों ने कृषि की उन्नति पर ध्यान दिया। प्रायः सभी प्रकार के अन्नों एवं फलों का उत्पादन होता था। सिंचाई की बहुत ही उत्तम व्यवस्था की गई थी। कालिदास के विवरण से पता चलता है कि इस समय धान एवं ईख की खेती प्रचुरता से होती थी। कृषि के साथ ही साथ व्यापार और व्यवसाय भी उन्नति पर थे। समूचे राज्य में अनेक व्यापारिक श्रेणियाँ तथा निगम थे। पाटलिपुत्र, वैशाली, उज्जयिनी, दशपुर, भड़ौच, आदि इस काल के प्रसिद्ध व्यापारिक नगर थे। भड़ौच तथा ताम्रलिप्ति प्रमुख बंदरगाह थे। स्थल तथा जल दोनों ही मार्गों से व्यापार होता था। इस समय भारत का व्यापार अरब, फारस, मिस्र, रोम, चीन तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया से होता था। बाह्य देशों में भारतीय वस्तुओं की बड़ी माँग थी। कालिदास के अनुसार चीनी रेशमी वस्त्र का भारत में प्रचार था। जलीय व्यापार के लिए इस समय बड़े-बड़े जहाजी बेड़ों का निर्माण किया गया था। जावा के बोरोबुदुर स्तूप के ऊपर जहाज के कई चित्र अंकित मिलते हैं जिससे इस बात की सूचना मिलती है कि भारतीयों ने बड़े-बड़े जहाजों द्वारा वहाँ प्रवेश किया था। सुप्रसिद्ध कलाविद् आनंद कुमारस्वामी के शब्दों में "गुप्तकाल ही भारतीय पोत निर्माण कला का महानतम युग था जबकि पेगु, कंबोडिया, जावा, सुमात्रा बोर्नियो में भारतीयों ने उपनिवेश स्थापित किए तथा चीन, अरब और फारस के साथ उनका व्यापारिक संबंध था।" इस प्रकार निःसंदेह गुप्तकाल आर्थिक संपन्नता का काल था।

2.4.13. वैदेशिक संबंध

व्यापार के माध्यम द्वारा भारत का संपूर्ण विदेशों से संबंध स्थापित हुआ। जल तथा थल दोनों ही मार्गों से विदेशों से आवागमन होता था। भारत से अनेक प्रचारक तथा व्यापारी चीन, पूर्वी द्वीप समूह, सुमात्रा, जावा, आदि देशों में गए। उन्होंने वहाँ के निवासियों को अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित किया। एशिया के पश्चिमी देशों में इसका विशेष रूप से प्रचार हुआ। अजंता की चित्रकारियों में एक ऐसा दृश्य है जिसमें भारतीय राजा की सभा में एक ईरानी दूतमंडल दिखलाया गया है। इस प्रकार बृहत्तर भारत की नींव गुप्त काल में पड़ी।

गुप्त-काल भारतीय संस्कृति के प्रचार और प्रसार के लिए प्रसिद्ध है। यद्यपि गुप्त युग के पहले से ही उत्साही भारतीयों ने मध्य तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के विभिन्न भागों में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए थे तथापि इन उपनिवेशों में हिंदू-संस्कृति का प्रचार विशेषतया गुप्त युग में ही हुआ। फूनान, कंबुज, मलाया, चंपा, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो, स्याम, बर्मा आदि इस समय के प्रमुख हिंदू राज्य थे। इन द्वीपों के शासक अपने को भारतीयों के वंशज मानते थे। तंत्रीकामन्दक नामक जावा के ग्रंथ में एश्वर्यपाल नामक सूर्यवंशी राजा अपने को समुद्रगुप्त का वंशज बताता है। प्रयाग प्रशस्ति में 'सर्वद्वीपवासिभिः' का उल्लेख हुआ है। इससे तात्पर्य दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीपों से ही है। हम कह सकते हैं कि इन द्वीपों के शासकों ने समुद्रगुप्त को अपना सार्वभौम सम्राट मान लिया होगा। गुप्तकाल में अनेक भारतीय धर्म-प्रचारक चीन गए तथा फा-हियान नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री भारत आया। इसके अतिरिक्त तिब्बत, कोरिया, जापान तथा पूर्व में फिलीपीन द्वीप समूह तक भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। इस सांस्कृतिक प्रचार के फलस्वरूप 'बृहत्तर भारत' का जन्म हुआ जो गुप्तकाल को गौरवान्वित करता है।

2.4.14. निष्कर्ष

उक्त कारणों के आधार पर विद्वानों ने गुप्तकाल को स्वर्ण युग के पद पर आसीन किया है। इस युग में कला, साहित्य, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में विशेष प्रगति हुई। देश धन-धान्य से पूर्ण था। प्रजा का जीवन शांतिमय तथा सुखमय था। भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक अवस्था उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। चोरी, आदि का तनिक भी डर नहीं था। लोग घरों में ताला तक नहीं लगाते थे। इसी कारण आज का भारतीय इस काल पर गर्व करता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में गुप्तकाल में अभूतपूर्व प्रगति हुई। अतः हम कह सकते हैं कि इस काल का भारतीय इतिहास में अद्वितीय स्थान है तथा इसकी समकक्षता में कोई अन्य काल नहीं आ सकता। गुप्तों के पूर्व यद्यपि मौर्य शासकों का साम्राज्य अत्यंत विस्तृत था तथापि इसमें संस्कृति की वह चहुँमुखी प्रगति हमें देखने को नहीं मिलती, जिसका साक्षात्कार हम गुप्त युग में करते हैं। आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं कला-कौशल के क्षेत्रों में इस समय देश उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया तथा उन परंपराओं का निर्माण हुआ जो आगामी शताब्दियों के लिए आदर्शस्वरूप बनी रहीं। अतः गुप्तकाल को प्राचीन इतिहास में 'स्वर्ण-युग' की संज्ञा से विभूषित करना सर्वथा उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है।

2.4.15. विभिन्न मत

विश्व के प्रायः सभी प्रमुख इतिहासकार इस तथ्य पर एकमत हैं कि गुप्तकाल भारत के इतिहास में स्वर्ण-युग था। इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के मत-मतांतर निम्नानुसार हैं -

वारनेट के अनुसार - ''गुप्तकाल भारत के इतिहास में वही स्थान रखता है जो यूनान के इतिहास में पेरिक्लिज युग को प्राप्त है।''

मोरलेंड और ए. सी. बनर्जी के अनुसार - ''गुप्तकाल' कला तथा साहित्य में बड़ी क्रियाशीलता का समय था।''

बी. जी. गोखले के शब्दों में - ''गुप्तकाल, शांति तथा समृद्धि, नगर संस्कृति तथा परिमार्जन, धार्मिक पुनरुत्थान तथा बौद्धिक प्रयास, उत्कृष्ट साहित्य तथा कला की उन्नति का युग था। आत्मविश्वास के साथ भारतीय संस्कृति ने दरबार के आचार-व्यवहार, मुद्रा, विज्ञान तथा कला के क्षेत्रों में विदेशों की बहुत-सी बातें अंगीकार कर लीं, परंतु विदेशों से सीखते समय भी यह ध्यान रखा कि इससे उनकी भारतीयता नष्ट न हो। भारत की मूलभूत भारतीयता को पूर्णतः समझा गया, पुष्ट किया गया तथा उसे परिमार्जित एवं चिर-स्थायी रूप में व्यक्त किया गया ताकि आने वाली पीढी के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया जा सके।''

डॉ. आर. एस. त्रिपाठी ने भी गुप्त-युग को स्वर्ण-युग मानते हुए लिखा है,''गुप्त-सम्राटों का काल भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है। इस काल के अनेक उदात्त, मेधावी और शक्तिशाली राजाओं ने उत्तर-भारत को एक छत्र के नीचे संगठित कर शासन में सुव्यवस्था तथा देश में समृद्धि व शांति की स्थापना की।''

वी. ए. स्मिथ ने भी भारतीय इतिहास में गुप्त युग को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनके शब्दों में,''हिंदू-इतिहास में अन्य सभी युगों की तुलना में महान गुप्त शासकों का काल सर्वाधिक अभिमत व संतोषजनक है। इस युग में साहित्य, कला और विज्ञान की असाधारण प्रगति हुई तथा बिना किसी अत्याचार के क्रमिक धार्मिक प्रगति हुई।''

डॉ. वी. एस. अग्रवाल के शब्दों में,''गुप्तकला अपनी विशिष्टताओं से सदैव के लिए महान बन गई।''

चीनी यात्री फा-हियान ने भी गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए लिखा है,''भारतवर्ष के लोग सुखी और समृद्ध हैं। वे न्यायालयों के बंधन से मुक्त हैं। उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त है।''

डॉ. ए. एस अल्तेकर का कथन है,''हम गुप्त प्रशासन पर अच्छी तरह गर्व कर सकते हैं जो तत्कालीन तथा बाद के राज्यों के लिए आदर्श बना।''

प्रो. यू. एन. घोषाल ने लिखा है,''गुप्तों की कुशल प्रशासनिक व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ही जनता आर्थिक रूप से समृद्ध हो सकी।''

डॉ. आर. के. मुखर्जी ने भी गुप्तकालीन भौतिक तथा नैतिक उन्नति का श्रेय गुप्तों के द्वारा भारत में शासन में स्थिरता स्थापित करने को दिया है।

श्री जी. वी. देवस्थली के शब्दों में,''कालिदास निश्चित रूप से भारतीय काव्यात्मक शैली का सर्वोच्च विद्वान था। गुप्तकाल में ही अनेक पुराणों की भी रचना हुई।'

जहाज निर्माण पर सुप्रसिद्ध कलाविद् आनंद कुमारस्वामी का कथन है कि ''गुप्तकाल ही भारतीय पोत निर्माण कला का महानतम युग था।''

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग के कुछ सामाजिक-आर्थिक इतिहासकार, जिनमें आर.एस.शर्मा, रोमिला थापर, एस.के. मैती उल्लेखनीय हैं, गुप्तकाल को स्वर्ण-युग कहना उचित नहीं मानते। इन विद्वानों के अनुसार स्वर्णकाल की अवधारणा वस्तुतः एक 'यूटोपिया' (Utopia) अर्थात् कोरा आदर्श है जिसका अस्तित्व सुदूर अतीत में ही संभव है। गुप्तकाल में उच्चवर्ग तथा निम्न वर्ग के जीवन स्तर में भारी विषमता थी। मैती के अनुसार 'स्वर्णयुग' के लिए संपूर्ण समाज में बेहतर सुविधाएँ अपेक्षित हैं तथा कृषक और स्वामी दोनों को आर्थिक स्वतंत्रता एवं संपन्नता प्राप्त होनी चाहिए। इस दृष्टि से हम भारत अथवा विश्व इतिहास के किसी भी काल को स्वर्ण-काल नहीं कह सकते, किंतु उपर्युक्त विद्वान स्वर्णकाल को उसके शाब्दिक अर्थ में ग्रहण करते हैं। जब हम गुप्त काल को प्राचीन इतिहास का स्वर्णयुग कहते हैं तो हमारा अभिप्राय मात्र यह है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में हिंदू संस्कृति के विविध पक्षों का जो विकास हुआ वह गुप्त काल में अन्य कालों की तुलना में कहीं अधिक था। यहाँ तक कि कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि कुछ क्षेत्रों में तो यह विकास आगामी पीढ़ियों के लिए मानदंड बन गया। अतः इस दृष्टि से यदि गुप्त काल को स्वर्णयुग अर्थात् चरमोत्कर्ष का काल माना जाए तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जहाँ तक आर्थिक पक्ष का प्रश्न है, इसमें भी यह काल पतन का काल नहीं कहा जा सकता। पाँचवी सदी के मध्य में हमे गुप्तों के स्वर्ण सिक्कों में मिलावट मिलने लगती है। इसके पूर्व के सिक्के विशुद्ध स्वर्ण के हैं। गुप्त राजाओं के पास भारी मात्रा में सोना था जिसका उपयोग उन्होंने साम्राज्य को समुन्नत बनाने के लिए किया। आर्थिक जीवन का प्रत्यक्ष पक्ष इस समय उतना ही विकसित हुआ जितना कि सभ्यता का अन्य पक्ष। गुप्त साम्राज्य का आर्थिक पतन वस्तुतः स्कंदगुप्त के शासन से प्रारंभ हुआ। समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्तद्वितीय का शासन काल राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से चरमोत्कर्ष का काल रहा और यह प्राचीन इतिहास का स्वर्ण युग अर्थात् चरमविकास का युग है।

2.4.16 सारांश

गुप्तकाल का स्वर्ण युग कहलाने के कारण - (1) गुप्तकाल के पूर्व का भारत (2) गुप्त सम्राटों की विजय (3) वैदिक धर्म का पुनरुत्थान (4) साहित्य की प्रगति (5) विज्ञान का विकास (6) कला एवं स्थापत्य - (क) भवन निर्माण (ख) मूर्तिकला (ग) चित्रकला (घ) संगीत कला (ड.) मुद्राकला (च) नाट्य

कला (7) प्रशासनिक व्यवस्था (8) सामाजिक जीवन- (क) विवाह (ख) स्त्रियों की दशा (ग) भोजन (घ) वस्त्र, आभूषण आदि। (9) धार्मिक स्थिति - (क) ब्राह्मण धर्म (ख) बौद्ध धर्म (ग) जैन धर्म। (10) आर्थिक स्थिति (11) वैदेशिक संबंध (12) निष्कर्ष (13) विभिन्न मत।

2.4.17 बोध प्रश्न

2.4.17.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्वर्णकाल से आप क्या समझते हैं?
2. गुप्तकालीन साहित्य के विषय में आप क्या जानते हैं?
3. गुप्तकाल वैदिक धर्म का पुनरुत्थान काल क्यों माना जाता है?
4. गुप्तकाल में विज्ञान की क्या उन्नति हुई?
5. गुप्तकालीन स्थापत्य पर प्रकाश डालिए।

2.4.17.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकाल से पूर्व भारत की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. गुप्तकालीन कलाओं का वर्णन कीजिए।
3. गुप्तकालीन सामाजिक जीवन की विवेचना कीजिए।
4. गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग क्यों माना जाता है? विस्तृत विवेचना कीजिए।
5. ''गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था'' इस कथन पर विद्वानों के मत-मतांतरों की विवेचना कीजिए।

2.4.18 संदर्भ ग्रंथ

1. रमशेचंद्र मजूमदार : प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1942
3. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1963
4. चंद्रभान पाण्डेय : आंध्र-सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963
5. विमल चंद्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद।
6. मोतीचंद्र : सार्थवाह, प्राचीन भारत का पथ पद्धति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, 1953
7. वी. वी. मिराशी : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, 1964
8. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संसद वाराणसी, 1962
9. वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारत, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, सं. 2012 वि.।
10. मोतीचंद्र : प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भारती भंडार, प्रयाग, सं. 2007
11. प्रशांत कुमार जायसवाल - शककालीन भारत, साधना सदन, इलाहाबाद, फरवरी, 1993
12. राधाकुमुद मुखर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
13. राजबली पाण्डेय : विक्रमादित्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1960
14. ए.एल. बाशम : अद्भुत भारत : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा, 1967

15. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की मीमांसा, हिंदी भवन, इलाहाबाद, 1960
16. नगेन्द्रनाथ घोष एम.ए. : भारत का प्राचीन इतिहास : इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयोग, 1951
17. एल.डी. बारनेट : एण्टीक्विटीज ऑफ इंडिया, लंदन 1913
18. रैप्सन, ई.जे. : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-1
19. रैप्सन, ई.जे. : एन्श्यिंट इंडिया, कैम्ब्रिज 1922
20. एच.सी. राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
21. के.ए. नीलकंठ शास्त्री : हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-1, एंशेण्ट इंडिया, मद्रास, 1950
22. वी.ए. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
23. मजूमदार तथा पुसलकर : दी वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई
24. मजूमदार तथा पुसलकर : दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
25. मजूमदार तथा पुसलकर : दी क्लासिकल एज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
26. के. ए. नीलकंठ शास्त्री : ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, मुंबई, 1957
27. एलन, हेग, डाडवेल : दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री ऑफ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
28. सुधाकर चट्टोपाध्याय : अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, एकेडेमिक पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1938
29. ए. एस. अल्तेकर : वाकाटक-गुप्त एज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1960

खंड - 3 गुप्तोत्तरकाल (उत्तर भारत)

इकाई - 1 राजनीतिक स्थिति

इकाई की रूपरेखा

3.1.1. उद्देश्य
3.1.2. प्रस्तावना
3.1.3. गुप्तोत्तर राजनैतिक स्थिति
3.1.4. गुप्त साम्राज्य का पतन
3.1.5. कन्नौज राज्य का उत्थान
3.1.6. गुप्तोत्तर शून्यकाल
3.1.7. साम्राज्यवादी युग
3.1.8. राजपूतों के आपसी संघर्ष
3.1.9. भारत में सामंतवाद का उदय
3.1.10. भारत में सामंतवाद का विकास
3.1.10.1. राजनैतिक स्वरूप
3.1.10.2. सांस्कृतिक स्वरूप
3.1.10.3. प्रशासकीय स्वरूप
3.1.11. सामंतवाद का परिणाम एवं प्रभाव
3.1.11.1. बौद्धिक पतन
3.1.11.2. सांस्कृतिक पतन
3.1.12. सारांश
3.1.13. बोध प्रश्न
3.1.13.1. लघु उत्तरीय प्रश्न
3.1.13.1. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.1.14. संदर्भ ग्रंथ

3.1.1. उद्देश्य

भारतीय इतिहास में गुप्त शासनकाल 'स्वर्ण-युग' के नाम से अमरत्व प्राप्त कर चुका है। गुप्तवंशी सम्राटों ने प्रायः 231 वर्षों (319-550 ई.) तक देश के राजनैतिक जीवन में एक बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनके शासन के पूर्वार्द्ध (319-467 ई.) में देश के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में जो पूर्णता एवं प्रौढ़ता आई, उसकी कोई तुलना नहीं यद्यपि उनके शासन का उत्तरार्द्ध (467-550 ई.) क्रमशः साम्राज्य के विघटन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, परंतु इस पूरे काल में देश में जो राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना जागृत हुई थी, वह गुप्त-शासन की समाप्ति पर भी सर्वथा नष्ट न हो सकी। वस्तुतः छठी शताब्दी के मध्य में गौरवशाली गुप्त राजवंश प्रकृति के नियमानुसार काल-कलवित अवश्य हो गया, परंतु उनके शासन से प्रभावित संस्थानों की अविकल शृंखला आठवीं शताब्दी के मध्य तक पूर्ववत् बनी रही। अतः इसी शृंखला को ध्यान में रखकर प्रस्तुत इकाई का 'गुप्तोत्तर राजनैतिक स्थिति' नामकरण किया गया है। यह इकाई मुख्यतः इस काल के राजनैतिक जीवन का अध्ययन प्रस्तुत करती है। अतः गुप्तोत्तर

राजनैतिक स्थिति के संबंध में विभिन्न राजवंशोंका विवरण अति संक्षेप में प्रस्तुत करना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

3.1.2. प्रस्तावना

यह इकाई सम्राट हर्ष के अतिरिक्त क्रमशः परवर्ती गुप्त राजवंश, मौखरी राजवंश की पुर्नस्थापना, कन्नौज-नरेश यशोवर्मन, बंग एवं गौड़ के राजवंश, कामरूप के वर्मन राजवंश, कश्मीर के कर्कोट राजवंश, वल्लभी के मैत्रक राजवंश, माहिष्मती के कलचुरी राजवंश एवं लाट के गुर्जर राजवंश से संबंधित हैं। वस्तुतः उत्तरी भारत के उत्तरी पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में शासन करने वाले इन प्रमुख राजवंशों के राजनैतिक इतिहास को एक साथ क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास है। इस इकाई में गुप्तोत्तरकालीन उत्तरी भारत के गौरवशाली राजवंशों के राजनैतिक उत्थान-पतन का इतिहास अति संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इकाई में आधारभूत साक्ष्यों को मूलरूप में प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयास किया गया है तथा राजनैतिक घटनाओं का चित्रण समीक्षात्मक पद्धति पर किया गया है, जिससे वे अधिक से अधिक बोधगम्य बन सकें।

3.1.3. गुप्तोत्तर राजनैतिक स्थिति

भारतीय इतिहास में गुप्तोत्तर काल अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। गुप्त-शासन के पश्चात् देश की राजनैतिक एकता की दृष्टि से यह काल यद्यपि विघटन का काल रहा है, जिसे दूर करने की सतत चेष्टा चिरस्थायी तो नहीं हो सकी, परंतु देश के इन दो सौ वर्षों के इतिहास में सकलोत्तरापथनाथ हर्ष, गौरवशाली मौखरी-नरेश सर्ववर्मन, यशस्वी कन्नौज-नरेश यशोवर्मन, अप्रतिम विजेता कश्मीर-नरेश ललितादित्य मुक्तापीड़ एवं राजनीति-विशारद गौड़-नरेश शशांक आदि महान राजाओं ने समय-समय पर देश के राजनैतिक जीवन में नवीन स्फूर्ति अवश्य उत्पन्न की। वस्तुतः गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर मगध-साम्राज्य के उत्तराधिकार के इच्छुक परवर्ती गुप्तों एवं मौखरियों के बीच विकट संघर्ष प्रारंभ हुआ, जिसमें परवर्ती गुप्तों को प्रारंभिक विजय तो अवश्य प्राप्त हुई, परंतु अंततोगत्वा मौखरी ही सफल मनोरथ हो सके। मौखरी राजवंश के अंत के साथ देश की प्रभुसत्ता हर्ष के हाथों आई जो उसकी मृत्यु के साथ सहसा विलुप्त हो गई। इस काल के उत्तरार्द्ध (647-750 ई.) में देश की राजनैतिक एकता दिवा-स्वप्न ही बनी रही। इस काल के अंतिम चरण में यशोवर्मन एवं ललितादित्य जैसे महत्वाकांक्षी सम्राटों ने दिग्विजय द्वारा चक्रवर्तित्व का चिर अभिलषित पद तो अवश्य प्राप्त किया, परंतु देश के राजनैतिक संगठन में योगदान देने में वे सर्वथा असमर्थ रहे।

साम्राज्यवादी गुप्तों के अवसान के साथ भारतीय इतिहास का एक ऐसा युग समाप्त हो गया, जिसकी अनेक निजी विशेषताएँ थीं। मौर्यों और गुप्तों का राजनैतिक स्वरूप अखिल भारतीय था और उनके शासन करते प्रायः समस्त भारत वर्ष अनेक दृष्टियों से एकसूत्र में आबद्ध था। किंतु पाँचवीं-छठी शताब्दियों से राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रारंभ हुईं जो अंततः देश को विशृंखलित कर देने का कारण बन गईं। प्रांतवाद की संकुचित भावनाओं का उदय सर्वप्रथम हमें गुप्त-साम्राज्य की अवनति के साथ दृष्टिगोचर होता है। परिणाम स्वरूप सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया, क्षेत्रीय स्वरूप और स्थानीय भावनाओं का तेजी से विकास हुआ और असुरक्षा तथा अनिश्चितता का वातावरण छाने लगा। प्रशासनिक क्षेत्रों में एकरूपता, संतुलन और आंतरिक संघटन ढीले पड़ने लगे। राजनैतिक संघर्षों और सैनिकता की प्रवृत्तियाँ बहुत ही बढ़ जाने के कारण विभिन्न शासकों ने

समान समस्याओं पर भी सामूहिक रूप से सोचने-विचारने की चिंता नहीं की। प्रायः सबकी दृष्टि व्यक्तिवादी, क्षेत्रवादी अथवा स्थानीयतावादी हो गई। सभी राजाओं ने अब अपने ही राज्य और राजवंशों की रक्षा करना अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान ली और अखिल भारतीय दृष्टि से सोचने की कोई दूर दृष्टि नहीं दिखाई। इस खंडदृष्टि और अदूरदर्शिता का परिणाम जनता में भी इतना संक्रामक हुआ कि अब वह राज्यों में प्रायः नित्य प्रति बदलने वाले मानचित्रों अथवा नवागंतुक राजाओं और राजवंशों से न तो आकृष्ट होती थी और न अधिकांश को उसका कोई दुराव था। देशभक्ति और देश भावनाएँ अत्यंत शिथिल हो गईं कुछ थोड़े से लोगों को छोड़कर अधिकांश शासितों में राजनीति के प्रति जो उदासीनता का भाव पहले से ही वर्तमान था, वह और भी घनीभूत हो गया। किंतु इन सारी प्रवृत्तियों की ओर इंगित करते हुए यहाँ यह दिखाना उद्देश्य नहीं है कि केवल यही प्रवृत्तियाँ व्याप्त थीं। उत्तरभारत पर मुसलमानी सत्ता के स्थायी स्थापना के पूर्व तथा उसके बाद भी हमें भिन्न-भिन्न अवसरों पर सामूहिक और एकबद्ध भावना, प्रगाढ़ देशभक्ति और संपूर्ण मातृभूमि की रक्षा की उत्कट इच्छा, अप्रतिम शौर्य और विदेशियों के प्रति अनवरत संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं।

3.1.4. गुप्त साम्राज्य का पतन

ऐसा नहीं कि साम्राज्यभोगी गुप्तों के बाद भारतवर्ष में उनकी तुलना में सम्राट और साम्राज्य हुए ही नहीं। 7वीं शती के प्रथमार्थ में हर्षवर्धन और 9वीं शती में गुर्जर प्रतिहारों का कन्नौज साम्राज्य अपने शक्ति और वैभव में गुप्तों से पीछे नहीं था। किंतु वे 'सकलउत्तरापथेश्वर' मात्र थे। मौर्यों और गुप्तों के मगध साम्राज्य दक्षिण भारत के लिए भी अधिराट् स्वरूप थे, किंतु उसके विपरीत कन्नौज साम्राज्य अपना प्रभाव विंध्याचल के नीचे कभी भी स्थापित नहीं कर सका। साथ ही, ऊपर जिन प्रवृत्तियों की ओर निर्देश किया जा चुका है, उनके कारण कन्नौज साम्राज्य भी कभी शांत और निर्बाध होकर देश के सांस्कृतिक, कलात्मक और साहित्यिक उन्नयन में उस प्रकार नहीं लग सका, जिस प्रकार मौर्यों और गुप्तों ने अपने को लगाया था और यदि यह अवस्था कन्नौज के विशाल साम्राज्य की थी तो अन्य छोटे-छोटे साम्राज्यों अथवा राज्यों की बात ही क्या। इस स्थिति का सर्वमुख्य कारण था भारत वर्ष के विशाल भू-भाग पर फैले हुए अनगिनत छोटे-बड़े राज्यों का प्रादुर्भाव। पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तर-पश्चिमी भारत पर होने वाले हूण आक्रमण गुप्त साम्राज्य के ह्रास के प्रमुख कारण बने। प्रायः उसी समय गुप्त साम्राज्य का मैत्रक नामक एक सामंतवंश भी वल्लभी में स्वतंत्र रूप से शासन करने लगा। पूर्व में कामरूप (असम) भगदत्तों के नेतृत्व में स्वतंत्र हो गया और बंगाल तथा उड़ीसा भौगोलिक और राजनैतिक इकाइयों के रूप में निखरने लगे। उत्तर में पुष्यभूति और उसके वंशजों ने थानेश्वर/कुरुक्षेत्र में एक राज्य की स्थापना कर ली। पश्चिम में राजस्थान/जोधपुर और गुजरात-सौराष्ट्र/ भृगुकच्छ-नांदीपुरी से गुर्जर प्रतिहारों की दो शाखाओं ने शासन प्रारंभ कर दिया। सिंध भी स्वतंत्र था। अतः देश का उत्तर-पश्चिमी द्वार हूणों के अतिरिक्त अनेक विदेशी आक्रमणकारी जातियों के लिए अप्रतिरुद्ध रूप में खुल गया। गुप्त साम्राज्य का हृदय स्थल (उत्तर प्रदेश और बिहार) भी कई छोटे क्षेत्रों में बँट गया। कन्नौज में मौखरि राजवंश शासन करने लगा, जो छठी शती के उत्तरार्द्ध और सातवीं शती के प्रथम 5-6 वर्षों के भीतर उत्तर भारतीय राजनीति में कई मोड़ों का कारण बना। विघटन के इस दौर में स्वयं गुप्तवंशके नामलेवा भी अन्य स्थानीय राजवंशों की तरह मालवा और मगध में अलग-अलग सीमित हो गए, जिनसे उनकी अपने पूर्वजों की सारी शक्ति जाती रही। इस प्रकार छठी शती ई. में उत्तर भारत से केंद्रीय सत्ता का लोप हो गया।

3.1.5. कन्नौज राज्य का उत्थान

सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में हर्षवर्धन की विजय तथा राजनैतिक और प्रशासनिक योग्यताओं के कारण उत्तर भारत पुनः एक बार एक अधिराज्य के भीतर ग्रथित होकर विघटक तत्वों को दबाने में सफल तो हुआ, किंतु वह सफलता बड़ी अल्पकालिक साबित हुई। यद्यपि उसका मुख्य कारण हर्ष की मृत्यु के बाद उसी जैसे योग्य किसी उत्तराधिकारी का अभाव था। विघटन की प्रवृत्तियों को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता, तथापि पुष्यभूति साम्राज्य के विकास के साथ कन्नौज में हमें शक्ति और राजनीति का एक नया केंद्र दिखायी देता है। ईसापूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के बीच लगभग 1000 वर्षों तक भारतीय राजनीति का केंद्र मगध और उसकी राजधानी पाटिलपुत्र में थी। किंतु अब पांचाल क्षेत्र में स्थित कन्नौज ने वह स्थान ले लिया, जो अगले लगभग 600 वर्षों तक उत्तरभारतीय राजनीति का प्रधान आकर्षण-बिंदु बना रहा।

3.1.6. गुप्तोत्तर शून्यकाल

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद लगभग 150 वर्षों तक यशोवर्मन की दिग्विजय के बावजूद कन्नौज का उत्तर भारतीय राजनीति में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिखायी देता। यह समय एक प्रकार से गुप्तोत्तर शून्य काल सा प्रतीत होता है, जो बहुत अंशों में छठी शताब्दी की राजनैतिक स्थिति के समान दिखायी देता है। कामरूप/असम, वंग-समतट/दक्षिण-पूर्वी बंगाल, गौड-वारेन्द्र/पश्चिम और उत्तर-पश्चिमी बंगाल, कोंगद/मध्य उड़ीसा, ओड्र/उत्तर-पूर्वी उड़ीसा और कलिंग/दक्षिण-पश्चिमी उड़ीसा, कोसल/दक्षिण कोसल अथवा महाकोसल, अंग, मगध तथा कन्नौज में अनेक छोटे-छोटे राजे-रजवाड़ों की स्थिति से अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस काल में इन क्षेत्रों में उस समय के सर्वप्रमुख उत्तर-भारतीय राज्यों-कश्मीर, तिब्बतियों और नेपाली-भोटियों ने कई बार आक्रमण किया। पश्चिमी भारत में सिंध, भड़ौंच, वल्लभी, मालवा, जोधपुर, उत्तर में छंब और कीर (काँगड़ा) तथा मध्य भारत में मत्स्य (अलवर, भरतपुर और जयपुर) और विदर्भ के स्वतंत्र राज्य थे। राजनैतिक अस्तव्यस्तता में ही पश्चिमी समुद्र तट के क्षेत्रों पर 712 ई. में अरबों का आक्रमण हुआ तथा सिंध और मुल्तान उनके अधिकार में चले गए।

3.1.7. साम्राज्यवादी युग

7वीं सदी के उत्तरार्द्ध में राजनैतिक नवनिर्माण की उत्कंठा से प्रेरित प्रायः एक ही साथ तीन दिशाओं में तीन विभिन्न राजनैतिक शक्तियाँ उदित हुईं दक्षिणापथ में मान्यखेट के राष्ट्रकूटों, बंगाल के पालों और मालवा के गुर्जर प्रतिहारों ने, अपने वास्तविक अधिकार-क्षेत्रों अथवा प्रभाव क्षेत्रों का समान रूप से विस्तार करते हुए, उत्तर भारतीय राजनैतिक शून्य पर छा जाने का संघर्षपूर्ण प्रयत्न प्रारंभ कर दिया, जो लगभग 150 वर्षों तक चलता रहा। इनके पारस्परिक संघर्ष मालवा से लेकर बंगाल तक के कई क्षेत्रों में कई बार हुए, किंतु उनका केंद्र प्रायः दोआब का उपजाऊ मैदान ही था। उसकी राजधानी कन्नौज उन अनेक मार्गों को जोड़ती थी, जो गंगा के किनारों से होते हुए दक्षिण-पूर्व में समुद्र तट, मालवा से होते हुए पश्चिमी समुद्रतट एवं विन्ध्याचल से दक्षिण में स्थित अनेक प्रमुख नगरों और व्यापारिक केंद्रों तक जाते थे। उनके त्रिकोणात्मक संघर्षों का मूल कारण इन व्यापारिक मार्गों और अन्न के उत्पादक क्षेत्रों पर अधिकार करना था। पालों और प्रतिहारों के बीच होने वाले युद्धों का एक अन्य कारण उत्तर भारतीय राजनीति को अप्रतिद्वंदी रूप में संचालित करने की मनोकामना प्रतीत होती है। अंततः इस दौड़ में गुर्जर

प्रतिहार बाजी मार ले गए और कन्नौज पर उन्होंने अधिकार कर प्रायः समस्त उत्तर भारतीय राजनीति को बहुत दिनों तक प्रभावित एवं संचालित किया।

3.1.8. राजपूतों के आपसी संघर्ष

गुर्जर प्रतिहारों के पतन के पश्चात् 10वीं शताब्दी के अंत और 11वीं शताब्दी के प्रारंभ का युग विशृंखलन, कमजोरी, आपसी प्रतिस्पर्धा और क्षेत्रवाद की भावना के विस्तार में पहले से भी अधिक भयंकर साबित हुआ। 1000 ई. के आसपास देश के विशृंखलन का जो चित्र दिखायी पड़ता है, वह मौर्यों तथा गुप्तों की अवनति अथवा हर्ष के अंत के बाद होने वाले विशृंखलन से कई गुना अधिक भयंकर था और वह भी ऐसे समय जब सारा उत्तरी भारत महमूद गजनवी के नेतृत्व में तुर्कों के बर्बर आक्रमणों से आक्रांत हो रहा था। प्रतिहार साम्राज्य के खंडहरों पर अन्य राजपूत राजवंश जैसे गह्डवाल (कन्नौज-काशी), चंदेल (बुंदेलखंड), तोमर (दिल्ली), चाहमान (शाकंभरी, अजमेर), परमार (मालवा), चालुक्य (गुजरात-सौराष्ट्र) और कलचुरि (पश्चिम में त्रिपुरी, पूर्व में रतनपुर और उत्तर में गोरखपुर) के जैसे अनेक स्थानीय राज्य स्थापित हो गए। इनमें भी परमारों, चाहमानों और कलचुरियों की अनेक शाखाएँ थीं, जो छोटे-छोटे क्षेत्रों पर शासन करती थीं। पूर्व में पाल राज्य का जो विघटन कैवर्तों के विद्रोह (1075 ई. के आसपास) से प्रारंभ हुआ, उसका परिणाम पालों की अवनति के साथ-साथ अंग, वंग और मगध आदि में लगभग दस स्वतंत्र राजवंशोंके उदय के रूप में उपस्थित हुआ।

बंगाल के कई भागों पर कंबोजों ने अधिकार कर लिया तथा बंगाल में सेनों एवं मिथिला के कर्णाटों के रूप में दक्षिणात्यों ने उत्तर भारत में नए-नए राजवंशों की स्थापना की। उन्होंने बदायूँ और पीठी में भी स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। एकदम पूर्व में असम स्वतंत्र था और दक्षिणपूर्व में कलिंग गंगों के अधिकार में चला गया। ये सारे क्षेत्र राजेन्द्र चोल (1012-1044 ई.), कलचुरि कर्ण (1041-1073 ई.), प्रथम सोमेश्वर (1042-1075 ई.) और षष्ठ विक्रमादित्य चालुक्य (1076-1126 ई.) तथा अनंतवर्मा चोडगंग (1078-1147 ई.) जैसे महत्वाकांक्षी विजेताओं के लिए सैनिक क्रीड़ास्थल बन गए। इस युग में उत्तरभारत के उत्तरी, मध्य तथा पश्चिमी भागों में भोज परमार (1010-1055 ई.), भीम चालुक्य (1024-1065 ई.) तथा कलचुरि कर्ण (1041-1073 ई.) ने प्रथम दौर में एवं गोविन्दचंद्र (1114-1154 ई.) और जयचंद्र गहड़वाल (1170-1194 ई.); विग्रहराज वीसलदेव (1151-1166 ई.) और तृतीय पृथ्वीराज चौहान (1177-1192 ई.) तथा जयसिंह सिद्धराज (1093-1142 ई.) एवं कुमारपाल चालुक्य (1143-1173 ई.) ने दूसरे दौर में अपने-अपने राज्यों को साम्राज्य का रूप देने के लिए घोर आपसी संघर्ष किया। वे सभी एक-दूसरे को दबाने के प्रयत्न करते हुए अपनी सत्ता को ऊपर उठाकर भारत की प्रमुख राजनैतिक सत्ता बनने का जो अनवरत प्रयत्न करते रहे, वही इस युग की मुख्य राजनैतिक प्रवृत्ति प्रतीत होती है। इसी कारण इसे 'राजपूतों के आपसी संघर्ष का युग' कहा जाता है, किंतु इनमें से किसी ने यह सोचने की चिंता नहीं की कि भारतीय संस्कृति के शत्रु इस्लाम के प्रतिनिधि क्या सोच रहे हैं अथवा तुर्क-अफगान मुसलमानों की ललचायी आँखें किस प्रकार उन्हें समाप्त कर जाना चाहती हैं। यद्यपि तुर्क आक्रमणों के मुकाबले कई बार भारतीय राजाओं को गौरवपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुई और वे व्यक्तिगत वीरता में उनसे कम न थे, किंतु कुछ साधारण अपवादों को छोड़कर, वे समवेत होकर उस समस्या का हल निकालने के लिए कभी नहीं जुटे अथवा जब जुटे भी तो अनियंत्रित, दुःसंचालित और खंडरूप में, जिनके परिणाम अंततः उनके विपरीत ही हुए। प्रतिहारों के पतन के बाद मुसलमान आक्रामकों को सीमाओं के पार ही रोकने की इच्छाशक्ति समाप्त हो गई-सी जान पड़ती है, किंतु ऐसा नहीं हुआ कि तुर्क

आक्रामक बेरोकटोक देश के विभिन्न भागों में घुस गए। आपस में लड़ते हुए इस समय के हिंदू राजाओं ने इस्लाम की चुनौती को अपनी राजनीति में मुख्य स्थान क्यों नहीं दिया, यह एक पहेली है। इस चुनौती में उन्होंने युद्ध तो जीते किंतु वे अपनी विजय को स्थायी नहीं बना सके।

3.1.9. भारत में सामंतवाद का उदय

गुप्तोत्तर राजनीति से स्पष्ट है कि हर्षवर्धन अथवा द्वितीय नागभट्ट से लेकर प्रथम महेन्द्रपाल तक के गुर्जर प्रतिहार सम्राटों जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर 600 से 1200 ई. के बीच संपूर्ण भारत की तो बात ही क्या, उत्तर भारत को भी एक राजनैतिक सूत्र में बाँधकर प्रभावित करने वाली कोई केंद्रीय सत्ता नहीं रही। इसका एक बहुत बड़ा कारण सामंतवाद का उदय था, जो कई दृष्टियों से मध्ययुगीन यूरोप की सामंतवादी स्थितियों के समान था। किंतु भारतीय सामंतवाद अपनी उत्पत्ति में कई अर्थों में यूरोपीय सामंतवाद से भिन्न था।

यूरोप के देश, अरबों, हंगेरियनों, मेग्यारों और अनेक जर्मन जातियों के अनवरत आक्रमणों से इतने त्रस्त थे कि वहाँ साधारण निवासियों का भी जीवन अत्यंत असुरक्षित और दूभर हो गया और वे रक्षकों की खोज में रहने लगे। दूसरी ओर वहाँ के राजा, राजकुमार और जमींदार अपने सेवकों, गुलामों और अनुयायियों की सेना अथवा दल तैयार कर अपने लिए राजनैतिक और आर्थिक भविष्य बनाने लगे। इस प्रकार मूलतः रक्षा चाहने वाला उसे दे सकने वाले की सेवा में लग गया और उसकी भक्ति करने लगा तथा उसका रक्षक उसे अपना जन मानने लगा। ऐसे जन अथवा सामंत (हवैसल) शांतिकाल में राजदरबारों में रहकर कई प्रकार की सेवाएँ करने लगे और अनेक प्रकार के कर देने लगे, जिनके बदले में सम्राट उन्हें प्रतिष्ठा और सेवाभूमि अथवा तालुकदारी देते थे। युद्ध के समय इन सेवकों का युद्धस्थल में जाकर लड़ना मुख्य कर्तव्य हो गया। धीरे-धीरे इस प्रकार के सामंतों की कई श्रेणियाँ बन गईं तथा उनके मालिकों की भी कई सीढ़ियाँ हो गईं, जिन्हें राज्य तथा समाज ने एक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्था के रूप में विधानतः स्वीकार कर लिया। फ्राँस और जर्मनी जैसे देशों में सामंत-संस्था इतनी सशक्त हो गई कि जब विलियम विजेता ने 1066 ई. में इंग्लैण्ड की विजय की तो वहाँ विधिवत उसे प्रचलित किया, जिसकी परंपराएँ आगे चलकर अनेक संवैधानिक संस्थाओं के निर्माण और विकास को प्रभावित करने वाली सिद्ध हुईं।

3.1.10. भारत में सामंतवाद का विकास

3.1.10.1. राजनैतिक स्वरूप

भारतीय सामंतवाद का प्रारंभ गुप्त सम्राटों के काल में हो चुका था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात है कि उसकी दिग्विजय के सिलसिले में विजित अटावी राज्यों को परिचारकीकृत (सेवकाई करने); सीमांतों में विजित राज्यों और गणों को अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए सर्वकरदान (सभी प्रकार के करों को देने), आज्ञाकरण (सम्राट की आज्ञाओं का पालन करने) तथा प्रणामागमन (सम्राट के सामने उपस्थित होकर प्रणाम करने) और दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि शक (मुरूडों) तथा सिंहल आदि द्वीपों के निवासियों की आत्मनिवेदन (सम्राट के सामने अपने को उपस्थित करने) और कन्योपायन (अपनी कन्याओं को सम्राट अथवा उसके राजपरिवार के व्यक्तियों से ब्याहने) जैसी अनेक शर्तों को मानने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार छोटे राजा दिग्विजयी से राजनैतिक अधीनता के सूचक अनेक संबंधों से बंधे होते थे और समय-समय पर सम्राट के प्रति उनके कई प्रकार के कर्तव्य होते थे। ये ही बाद में

सामंत अथवा महासामंत कहलाए। कौटिलीय अर्थशास्त्र, अशोक के धर्मलेखों अथवा मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति जैसे धर्मशास्त्रग्रंथों में मूलतः सामंत का अर्थ पड़ोसी व्यक्ति अथवा स्वतंत्र पड़ोसी राज्य माना गया है। राजनैतिक अधीनस्थ के रूप में इस शब्द का प्रयोग पहली बार छठी शती के अनंतवर्मा नामक मौखरी राजा के एक अभिलेख में प्राप्त होता है। वहाँ उसके पिता को सामंतचूड़ामणि कहा गया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित और कादम्बरी नामक अपने ग्रंथों में सामंतों के बहु प्रकारों की चर्चा करते हुए उनके हर्ष के राजदरबार में उपस्थित होने और बहुविध अभिवादन करने की चर्चा की है। सम्राट के अधीनस्थ सामंत उसके दरबार में उपस्थित होकर उसकी सेवा और भक्ति तो करते ही थे, साथ ही रास्ते में पड़ने वाले सामंत विजय यात्राओं पर जाती हुई सम्राट की सेनाओं की अगवानी, आवभगत और आवश्यकतापूर्ति भी करते थे। धीरे-धीरे सामंतों का यह प्रधान कर्तव्य हो गया कि सम्राट की विजय यात्राओं में उसके शत्रुओं के विरुद्ध लड़ने के लिए भी वे अपनी सेना लेकर सन्नद्ध हो जाएँ। इस प्रकार के अनगिनत उदाहरण पाल, गुर्जर प्रतिहार, चंदेल, चाहमान, चालुक्य और परमार अभिलेखों से हमें प्राप्त होते हैं। 5वीं-6ठी शताब्दियों के बाद सामंतगण अपने अभिलेखों में अपने सम्राटों का भी उल्लेख करने लगते हैं, किंतु उल्लेखनीय है कि स्वयं सामंत भी अपनी राजधानी में अपनी राजगद्दी पर बड़ेबड़े चमर, पालकी और हाथी जैसी प्रतिष्ठासूचक वस्तुओं एवं सवारियों का प्रयोग कर सकते थे। बड़े सामंतों को पंचमहाशब्द अथवा समधिगतपंचमहाशब्द की उपाधियाँ प्राप्त होती थीं। कल्याणी के चालुक्य राजा तृतीय सोमेश्वर कृत मानसोल्लास (1131 ई.) नामक ग्रंथ से इंगित होता है कि पंचमहाशब्द विरुद धारण करने वाले सामंतों को शृंग, तम्मट (अस्पष्ट), शंख, भेरी और जयघंटा नामक बाजाओं के बजाने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। इस प्रकार सामंतों की अनेक कोटियाँ हो गईं, जिनके आधार पर उन्हें राजा, महाराजा, राजराजानक, राणक, राजपुत्र, ठक्कुर, सामंत, नृप, महासामंत, महासामंताधिपति, महासामंतराणक और माण्डलिक जैसे विशेषण दिए जाने लगे।

3.1.10.2. सांस्कृतिक स्वरूप

सामंतवाद के राजनैतिक स्वरूप के अतिरिक्त उसका एक सांस्कृतिक स्वरूप भी था। गुप्तकाल के बाद छोटे-बड़े सभी राजे-महाराजे ब्राह्मणों, धर्मसंस्थानों, मंदिरों तथा विहारों और संघारामों को भूमिदान देते समय दान की गई भूमि से राज्य को प्राप्त होने वाले करों जैसे सभी आर्थिक लाभों का भी दान कर देते थे तथा उनके शासन के संपूर्ण अधिकार दानग्रहीता को हस्तांतरित हो जाते थे। मौर्य युग अथवा उसके पूर्व भी भूमिदान किए जाते थे, किंतु उनमें कहीं भी राजा द्वारा अपने प्रशासनिक अथवा कर संबंधी अधिकारों और खनिज, वन्य एवं जलीय क्षेत्रों के छोड़ने का उल्लेख नहीं है। अतः इस युग वाले दानों का परिणाम यह हुआ कि सारे राज्य में दान दी गई भूमियों के ऐसे अनेक खंड प्रखंड बन गए, जहाँ से केंद्रीय प्रशासन समाप्त हो गया और उसके स्थान पर ब्राह्मणों अथवा देवस्थानों या धर्मस्थानों का प्रशासन प्रारंभ हो गया। ऐसे दान प्राप्तकर्ताओं की संख्या लाखों में थी और वे सभी दान शाश्वत समय के लिए (जब तक सूर्य और चंद्र उगते और डूबते रहें) किए जाते थे। दानकर्ता अपने उत्तराधिकारियों और बाद में होने वाले राजाओं से भी आशा करता था कि वे उन्हें बाधित नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में राजकीय प्रशासन से स्वतंत्र छोटे-छोटे प्रशासनों की ऐसी अनेक इकाइयाँ उत्पन्न हो गईं, जो आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से स्वतंत्र रूप में अपने पैरों पर खड़ी होने में समर्थ थीं। आगे चलकर कहीं-कहीं तो दान प्राप्तकर्ताओं को चोरों को दंडित करने के भी अधिकार प्राप्त हो गए। यद्यपि इस प्रकार के दान मुख्यतः ब्राह्मणों, पुजारियों, पुरोहितों और धर्मसंस्थानों को ही दिए जाते थे एवं राजकीय अधिकारियों अथवा सेना-कर्मचारियों को भी वेतन

अथवा पारिश्रमिक स्वरूप भूमि दिए जाने के उदाहरण मिलते हैं। इन सबका परिणाम यह हुआ कि साधारण कृषकों और केंद्रीय शासन के बीच एक ऐसे भौमिक जमींदार वर्ग का विकास होता गया, जो शासितों और शासकों के बीच मध्यमवर्ती अथवा दीवार का काम करने लगा। साधारण कर वसूली और प्रशासन के अतिरिक्त बेगार (विष्टि) लेने की भी उन्हें सुविधा थी। चूँकि इस प्रकार के दान अथवा भूमिप्रबंधों का अधिकार सामंतों अथवा दानप्राप्तकर्ताओं को भी था, इस प्रकार प्रशासन का शिथिलीकरण निरंतर बढ़ता गया।

3.1.10.3. प्रशासकीय स्वरूप

गुप्तकाल से गुप्तोत्तर काल तक केंद्रीय शासन के अथवा उसकी ओर से प्रशासन के विभिन्न पदों पर सामंतों के नियुक्त किए जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। अनेक उच्चाधिकारी ऐसे भी होते थे, जो वास्तव में सामंत न होते हुए भी सामंती पदवियाँ धारण करते थे। भोगपति, भोगिक, उपरिक महाराज, सांधिविग्रहिक अथवा महासांधिविग्रहिक, दण्डनायक अथवा महादण्डनायक, कुमारामात्य और अक्षपटलाधिकृत जैसे अनेक अधिकारियों के उल्लेख सामंत अथवा महासामंत, मांडलिक अथवा महामांडलिक और महाराज जैसे विशेषणों से युक्त मिलते हैं। स्पष्ट है, सामंतवाद की संस्थात्मक प्रवृत्तियों ने केंद्रीय प्रशासन से लेकर नीचे तक घर कर लिया था। इन अधिकारियों में अनेक ऐसे थे, जिन्हें राजकीय सेवाओं के बदले अंशतः या पूर्णतः भूमि और उससे प्राप्त होने वाली आय के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता था।

उपरोक्त की तुलना फ्रांस, जर्मनी अथवा इंग्लैंड में प्रचलित सामंती व्यवस्थाओं से नहीं की जा सकती। इन दोनों में मुख्य अंतर यह है कि यूरोप की तरह भारतीय सामंतवाद 'सहायता करने और रक्षा करने' की आवश्यकताओं अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान संबंधों से उत्पन्न नहीं हुआ था। वास्तव में भारतीय सामंतवाद असुरक्षा और विदेशी आक्रमणों का परिणाम था। साथ ही, यूरोपीय चर्चों की तरह भारत के मंदिरों और बौद्ध विहारों की भूमियों के दान प्राप्त तो हुए थे, किंतु उससे यहाँ के भिक्षु, पंडित-पुजारी और ब्राह्मण वर्ग की शक्ति बहुत बढ़ी नहीं और न उनका राज्यों से कोई झगड़ा और संघर्ष ही हुआ। वास्तव में भारत का यह वर्ग यूरोपीय चर्चों की तरह संगठित नहीं था और यहाँ यूरोप के पोपों और सम्राटों के बीच होने वाले संघर्षों जैसी विषम स्थितियों की कोई संभावना ही नहीं थी, किंतु राजदरबार में उपस्थिति का दायित्व, अपने लार्डों अथवा अधिराजों से पद और प्रतिष्ठा की प्राप्ति तथा उनकी सैनिक सेवाएँ सामंतों के लिए दोनों ही जगह समान थीं।

3.1.11. सामंतवाद का परिणाम एवं प्रभाव

सामंतवाद के उदय और विकास का परिणाम भारतीय शासन पद्धति के लिए बड़ा ही हानिकारक सिद्ध हुआ। गुप्तकाल के बाद से राजनैतिक बँटवारे की जो तस्वीर उपस्थित होती है, वह बहुत कुछ सामंतवाद का ही परिणाम था। विभिन्न सामंती क्षेत्रों में बड़ेबड़े राज्यों अथवा साम्राज्यों की तरह राजदरबार, राज्याधिकारी, न्यायालय, सचिवालय, पुलिस और सेना जैसे प्रशासन के अनेक तत्व होने लगे। परिणामतः, सामंतगण अधिराज की शक्ति कम होते ही अपनी शक्ति और राज्य क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करने लगते थे। बहुत से राज्य तो मूलतः दान दी गई अथवा राजकीय सेवा हेतु दी गई भूमियों से विकसित हो जाते थे। 11वीं एवं 12वीं शदी में पालों के वैद्यदेव नामक अमात्य और सेनापति ने असम में इसी प्रकार के एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। राजाओं द्वारा प्रतिद्वंदी राजकुमारों को दिए जाने

वाले जिलों अथवा प्रांतों से भी कुछ राज्य विकसित हो गए थे। अभिलेखों से स्पष्ट है कि महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर और चक्रवर्ती जैसे विरुद सम्राटों अथवा अधिराजों के लिए ही लगाए जाते थे किंतु उनकी कमजोरी और अवनति के समय प्रतिहार मथनदेव जैसे सामंतों ने भी उन बड़े विरुदों को धारण करते कोई संकोच नहीं दिखाया। 12वीं शती की मानसार नामक रचना में अवतरण क्रम से 9 प्रकार के बड़े-छोटे राजाओं की सूची दी गई है। इसी प्रकार 12वीं शती के भट्टभुवनदेव के ग्रंथ अपराजितपृच्छा में भी अवतरण क्रम में ही 9 प्रकार के राजाओं का उल्लेख किया गया है। वह क्रम है - महीपति, राजा, नराधिप, महामंडलेश्वर, मांडलिक, महासामंत, सामंत, लघुसामंत और चतुराशिक। शुक्रनीतिसार में वार्षिक आय के आधार पर विभिन्न राजाओं के क्रम और उनके शासकों की पदवियाँ निश्चित की गई हैं। स्पष्ट है कि राजाओं और राज्यों के घटते-बढ़ते हुए आकार के आधार पर उनका विशेषण और पदविशेष निश्चित किया जाने लगा। किंतु उनके सदा परिवर्तनशील रहने के कारण इस संबंध में कोई स्पष्ट मापदंड नहीं निश्चित हो पाए। आज का साम्राज्य, कल का सामंत क्षेत्र रहा हो अथवा आने वाले कल में उसकी विपरीत की स्थिति हो जाए, यह इस युग में सदा संभव था। गुर्जर प्रतिहारों की अवनति और अंत में उनके पतन अर्थात् लगभग 950-1030 ई. के बाद उत्तर भारत में जो विभिन्न राज्य जैसे- चाहमान, परमार, चंदेल, चालुक्य, कलचुरि और गहड़वाल उठ खड़े हुए जो उनकी सत्ता के चरमोत्कर्ष के समय उनके सामंत राज्य रह चुके थे। ऐसी स्थिति में वंश और परिवार के प्रति भक्ति, आंतरिक कलह, फूट और युद्ध, प्रशासनिक ढीलापन, केंद्रीय सत्ता का ह्रास, निरंतर अस्थिरता, विदेशी आक्रमणकारियों को मानों निमंत्रण देने वाली स्थिति और अन्य राजनैतिक कमजोरियों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था, किंतु आश्चर्य तो यह है कि भारतीय सम्राटों ने यह कभी नहीं सोचा कि उनके द्वारा दिए गए दानों से उत्पन्न उनके प्रशासनिक अधिकारों की कमी से तथा सामंतों को राज्य के बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त करने अथवा उन्हें सैनिक अधिकार देने से अंत में उनकी शक्ति कितनी सीमित हो जाएगी और उसका कितना भयानक परिणाम होगा।

3.1.11.1. बौद्धिक पतन

भारत के निरंतर राजनैतिक पतन का प्रमुख कारण उस समय का बौद्धिक पतन था। यद्यपि संस्कृत अब भी पढ़े लिखे लोगों की भाषा थी और उसमें इस युग में भी प्रभूत साहित्य की रचना हुई किंतु धीरे-धीरे ये भाषा दुरूह, अलंकार बोझिल और शब्दाडंबर से युक्त होकर साधारण व्यक्ति और बोलचाल की भाषाओं से दूर जाने लगी। परिणामतः उसकी व्यापकता और उपयोगिता कम होने लगी। 10वीं शताब्दी के राजशेखर के बाद उच्च कोटि के संस्कृत कवियों, नाटककारों और गद्यलेखकों की कमी हो गई तथा अपभ्रंश और प्राकृतों का प्रयोग अधिक किया जाने लगा। इस युग में जो साहित्य भी लिखा गया, वह केवल आनुश्रुतिक (पुराण, रामायण और महाभारत की पूर्ववत कथाओं पर आधारित) और टीकात्मक ही रहा। उसमें वैदिक साहित्य, प्राचीन हिंदू और बौद्ध दर्शनों तथा अर्थशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों की तरह विचारों की उड़ान, तर्कशक्ति, व्यवस्थापन, धार्मिक और सामाजिक नियमों का प्रतिष्ठापन और मार्गदर्शन का प्रायः अभाव प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य के अधिकांश ग्रंथ अब छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र और रसशास्त्र के विवेचन तक सीमित होने लगे, जिनके प्रायः सभी उदाहरण प्राचीन लेखकों से लिए जाते रहे। सदूक्तियों का संग्रह उसी प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप था। शंकराचार्य (788-820 ई.) प्राचीन भारत के अंतिम दार्शनिक कहे जा सकते हैं, किंतु उन्होंने वृत्तियों और भाष्यों के लिखने की जो प्रणाली चलाई, आगे वही अनुकरण की वस्तु हो गई। विवेच्य युग प्राचीन स्मृतियों की

टीकाओं से भरा हुआ है जो नवीन स्मृतियाँ लिखी भी गईं, उनकी वह मान्यता न हो सकी जो मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे प्राचीन धर्मशास्त्र ग्रंथों की थी। राजनीति के क्षेत्र में कौटिलीय अर्थशास्त्र के टक्कर की कोई भी पुस्तक हमें नहीं मिलती। जो ग्रंथ इस विषय पर लिखे भी गए, वे प्राचीन सिद्धांतों और उक्तियों को दुहराने मात्र तक सीमित रहे और उनमें नवीन परिस्थितियों की कल्पना अथवा समकालिक समस्याओं पर विचार का प्रायः अभाव दिखायी देता है। लक्ष्मीधर और हेमाद्रि जैसे राजकार्यों के ऊँचे पदों पर रहने वाले विद्वानों ने भी दान, व्यवहार, प्रायश्चित और व्रत जैसे विषयों पर ही लिखने में अपना समय अधिक व्यतीत किया। यह वैचारिक उड़ान और राजनैतिक चिंतन के अभाव का ही द्योतक है। इस युग में बड़े-बड़े कवि भी राजाओं-महाराजाओं की प्रशस्तियों को लिखने और गाने मात्र तक से अपने को धन्य समझने लगे। संभवतः देश की नित्य परिवर्तनशील परिस्थितियों और अशांत अवस्थाओं में बौद्धिक वर्ग की देखरेख करने वालों और उसे प्रोत्साहन देने वालों की इतनी कमी हो गई कि कविगण यदि थोड़ा भी आश्रय पा जाते तो उसकी तुलना में कई गुना आश्रयदाता का बखान करते। ऐसी स्थिति में ऊँचे साहित्य और चिंतन का पनपना असंभव था। कार्यकारण के इस परस्पर स्वरूप का कदाचित् सबसे बड़ा उदाहरण और उसकी परिणति बल्लालभट्टकृत (16वीं शदी का अंत) भोजप्रबंध है, जो पंडितों की दीनता, अल्पबुद्धि एवं इतिहास के तैथिक क्रम के ज्ञान के आश्चर्यजनक अभाव का अत्यधिक परिचायक है।

उपरोक्त बौद्धिक पतन का अप्रत्यक्ष प्रभाव राजकीय निरंकुशता और एकतंत्रवादिता के विकास के रूप में उपस्थित हुआ। प्राचीन भारत के प्रारंभिक युग की तरह न तो इस समय गणतंत्र रहे और न उनकी शासन-प्रणाली अथवा उनके विचार। 600 ई. के बाद राजाओं का नियमन करने वाली संस्थाएँ अत्यंत शिथिल हो गईं और इस समय के वंशगत मंत्री प्रतिष्ठा और नियंत्रण शक्ति में प्राचीन मंत्रियों की अपेक्षा अत्यंत हीन और नगण्य हो गए। अब वे राजा की कृपा और आश्रय के अधिक आकांक्षी होने लगे और उनका परामर्श मानना या ना मानना राजा की इच्छा पर निर्भर हो गया। पुराणों, धर्मशास्त्रों और राजनैतिक ग्रंथों ने अब राजा को ईश्वर का अवतार और देवस्वरूप स्वीकार कर उसकी आज्ञाओं को सर्वदा स्वीकार करने की अनुशंसा की और यदि कहीं इनके अपवादस्वरूप परंपरागत राजनैतिक विचारों के आधार पर अत्याचारी राजा के विरोध की बातें दुहरायी भी गईं तो उनका मूल्य नहीं रहा। परिणामतः राजा और राजतंत्र एकतंत्री और निरंकुश हो गया और जनता में अत्याचारों के विरोध की शक्ति कम हो गई। इस युग में इस प्रकार के विरोध के बहुत ही कम उदाहरण मिलते हैं। राजनैतिक अस्थिरता और सतत विदेशी आक्रमणों के इस युग में निर्णय, कार्यान्वयन और नेतृत्व की शक्ति एक अथवा अत्यंत थोड़े हाथों में सीमित हो गई। किंतु इस सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक एकतंत्र की ओर इंगित करने का यह तात्पर्य नहीं है कि पूर्वमध्ययुगीन सभी हिंदू राजा निरंकुश अथवा अत्याचारी थे।

3.1.11.2. सांस्कृतिक पतन

गुप्तोत्तर काल निरंतर सामाजिक और धार्मिक गतिरोध, संकोच, रूढ़िवादिता और अंधविश्वास की भावानाओं को भी परिलक्षित करता है। यहाँ तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक स्थितियों पर विचार करना न तो अभीष्ट है न प्रासंगिक, किंतु उस संबंध की कुछ विशेष बातों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, जिनका इस समय की राजनीति की गति पर प्रभाव पड़ा। विभिन्न वर्णों में जातियों-उपजातियों की बढ़ती हुई संख्याएँ तथा वर्णेतरों, अस्पृश्यों और अंत्यजों की स्थिति से सामाजिक भेदोपभेद और दुराव बढ़ने लगा। कर्म की प्रधानता के स्थान पर जन्म की प्रधानता हो गई। धीरे-धीरे

समाज रूढ़िगत, प्रतिक्रियावादी और पुरातनवादी हो गया और नवीन परिस्थितियों के मुकाबले के लिए उसके पास विकल्पों की कमी हो गई। ब्राह्मणों का नेतृत्व ढीला हो गया तथा समाज और देश की रक्षा का भार केवल क्षत्रियों पर छोड़ दिया जाने लगा। पहले विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध का जो उत्तरदायित्व सार्वजनिक हुआ करता था वह अब राजकाज में लगे हुए केवल एक वर्ग पर छोड़ दिया गया, जो उसे अपनी राजनैतिक कमजोरियों के कारण, वीरता होते हुए भी, पूरी तरह निभा नहीं सका। देवी-देवताओं की अदृश्य शक्तियों पर कभी-कभी इतना अधिक विश्वास (अथवा अंधविश्वास) किया जाने लगा कि मुनष्य अपने कर्तव्यों को भी खो बैठा। मंदिरों में धन बहुत बड़ी मात्राओं में जमा किया जाने लगा, जो तुर्क आक्रमणकारियों की गिद्धदृष्टि का कारण बना और परिणामतः भयावह विनाश, लूट और हत्याओं का तांता लग गया।

गुप्तोत्तर कालीन राजाओं की धर्मनीति, समाजनीति अथवा युद्धनीति, स्त्रियों, ब्राह्मणों, देव स्थानों और गाँवों का आदर और किसी भी अवस्था में उनकी अघन्यता स्वीकार करती थी। शस्त्र छोड़े हुए अथवा युद्ध से विरत धूर्त और भयंकर शत्रु पर भी शस्त्र प्रहार न करने अथवा शरणागत होने प उसे क्षमा कर देने जैसे हिंदुओं में अनेक उदात्त गुण थे, किंतु कई कठिन अवसरों पर ये गुण भी उनके नाश के कारण बन गए। तुर्क आक्रमणों के लिए इन नीतियों का कोई मूल्य नहीं था। उन्होंने हिंदुओं के इन नैतिक गुणों का भी लाभ उठाया, जिनके सम्मुख उपर्युक्त प्रकार के आचरण नीति नहीं अपितु दुर्नीति ही साबित हुए। इस प्रकार का एक उदाहरण यहाँ अनुप्रयुक्त न होगा। मुल्तान के अरब-शासकों की चर्चा करता हुआ अल्-मसूदी (914-916) कहता है कि "वहाँ उन्होंने सब मंदिर गिरा दिए, केवल एक छोड़ रखा, जिसकी मूर्ति की पूजा के लिए प्रतिवर्ष अनगिनत हिंदू तीर्थयात्री जाते थे और उस पर इतनी अधिक धन-संपत्ति चढ़ाते थे कि वहाँ के मुसलमान शासक का बहुत बड़ा खर्च उससे चल जाता था।" यही नहीं, जब वे मुल्तान पर प्रतिहार राजाओं के नेतृत्व में हिंदू प्रतिरोधियों के आक्रमण की आशंका करते थे तो उस मूर्ति को तोड़ देने की धमकी देकर उन्हें चढ़ाई से विरत कर देते और अपने को बचाते थे। यदि पृथ्वीराजरासो के इस कथन को अतिरंजित भी माना जाय कि तृतीय पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी को अपनी अंतिम पराजय के पूर्व सात बार हराकर छोड़ चुका था तो भी वह निर्विवाद है कि तराइन की पहली लड़ाई में वह विजयी हुआ था। उसे चाहिए था कि भारत से भागते हुए उस आक्रमणकारी को घेरकर सदा के लिए तुर्क विभीषिका को समाप्त कर दे किंतु उसने ऐसा नहीं किया और उसकी गलती का परिणाम उसे ही नहीं बल्कि भारत को भी दीर्घकाल तक भोगना पड़ा।

3.1.12. सारांश

यह इकाई सम्राट् हर्ष के अतिरिक्त क्रमशः परवर्ती गुप्त राजवंश, मौखरी राजवंश की पुर्नस्थापना, कन्नौज-नरेश यशोवर्मन, बंग एवं गौड़ के राजवंश, कामरूप के वर्मन राजवंश, कश्मीर के कर्कोट राजवंश, वल्लभी के मैतृक राजवंश, माहिष्मती के कलचुरी राजवंश एवं लाट के गुर्जर राजवंश से संबंधित हैं। वस्तुतः उत्तरी भारत के उत्तरी पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में शासन करने वाले इन प्रमुख राजवंशों के राजनैतिक इतिहास को एक साथ क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास है।

भारतीय इतिहास में गुप्तोत्तर काल अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। गुप्त-शासन के पश्चात् देश की राजनैतिक एकता की दृष्टि से यह काल यद्यपि विघटन का काल रहा है, जिसे दूर करने की सतत चेष्टा चिरस्थायी तो नहीं हो सकी परंतु देश के इन दो सौ वर्षों के इतिहास में सकलोत्तरापथनाथ हर्ष, गौरवशाली मौखरी-नरेश सर्ववर्मन, यशस्वी कन्नौज-नरेश यशोवर्मन, अप्रतिम विजेता कश्मीर-नरेश

ललितादित्य मुक्तापीठ एवं राजनीति-विशारद गौड़-नरेश शशांक आदि महान राजाओं ने समय-समय पर देश के राजनैतिक जीवन में नवीन स्फूर्ति अवश्य उत्पन्न की। वस्तुतः गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर मगध-साम्राज्य के उत्तराधिकार के इच्छुक परवर्ती गुप्तों एवं मौखरियों के बीच विकट संघर्ष प्रारंभ हुआ, जिसमें परवर्ती गुप्तों को प्रारंभिक विजय तो अवश्य प्राप्त हुई परंतु अंततोगत्वा मौखरी ही सफल मनोरथ हो सके। मौखरी राजवंश के अंत के साथ देश की प्रभुसत्ता हर्ष के हाथों आई जो उसकी मृत्यु के साथ सहसा विलुप्त हो गई। इस काल के उत्तरार्द्ध (647-750 ई.) में देश की राजनैतिक एकता दिवा-स्वप्न ही बनी रही। इस काल के अंतिम चरण में यशोवर्मन् एवं ललितादित्य जैसे महत्वाकांक्षी सम्राटों ने दिग्विजय द्वारा चक्रवर्तित्व का चिर अभिलषित पद तो अवश्य प्राप्त किया परंतु देश के राजनैतिक संगठन में योगदान देने में वे सर्वथा असमर्थ रहे।

साम्राज्यवादी गुप्तों के अवसान के साथ भारतीय इतिहास का एक ऐसा युग समाप्त हो गया, जिसकी अनेक निजी विशेषताएँ थीं। मौर्यों और गुप्तों का राजनैतिक स्वरूप अखिल भारतीय था और उनके शासन करते प्रायः समस्त भारत वर्ष अनेक दृष्टियों से एकसूत्र में आबद्ध था, किंतु पाँचवीं-छठी शताब्दियों से राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रारंभ हुईं जो अंततः देश को विशृंखलित कर देने का कारण बन गईं। प्रांतवाद की संकुचित भावनाओं का उदय सर्वप्रथम हमें गुप्त-साम्राज्य की अवनति के साथ दृष्टिगोचर होता है। परिणाम स्वरूप सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया, क्षेत्रीय स्वरूप और स्थानीय भावनाओं का तेजी से विकास हुआ और असुरक्षा तथा अनिश्चितता का वातावरण छाने लगा। प्रशासनिक क्षेत्रों में एक रूपता, संतुलन और आंतरिक संघटन ढीले पड़ने लगे। राजनैतिक संघर्षों और सैनिकता की प्रवृत्ति बहुत ही बढ़ जाने के कारण विभिन्न शासकों ने समान समस्याओं पर भी सामूहिक रूप से सोचने-विचारने की चिंता नहीं की। प्रायः सबकी दृष्टि व्यक्तिवादी, क्षेत्रवादी अथवा स्थानीयतावादी हो गई। सभी राजाओं ने अब अपने ही राज्य और राजवंशों की रक्षा करना अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान ली और अखिल भारतीय दृष्टि से सोचने की कोई दूरदृष्टि नहीं दिखाई।

3.1.13. बोध प्रश्न

3.1.13.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर काल से आप क्या समझते हैं?
2. कन्नौज राज्य के उत्थान पर टिप्पणी लिखिए।
3. गुप्तोत्तर शून्य काल क्या था?
4. सामंतवाद से आप क्या समझते हैं?
5. भारत में सामंतवाद का उदय क्यों हुआ?

3.1.13.1. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर राजनैतिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।
2. राजपूतों के आपसी संघर्ष की विवेचना कीजिए।
3. गुप्तकाल के पतन पर भारत की राजनैतिक स्थिति का परीक्षण कीजिए।
4. भारत में सामंतवाद के उदय एवं विकास की विवेचना कीजिए।
5. गुप्तोत्तर कालीन सामंतवाद के परिणामों का समालोचनात्मक वर्णन कीजिए।

3.1.14. संदर्भ ग्रंथ

01. रमशेचन्द्र मजूमदार : प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
02. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, नंदकिशोर एंड संस् वाराणसी, 1962
03. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
04. बारनेट, एल.डी. : एण्टीक्विटीज ऑफ इंडिया, लंदन 1913
05. मेस्सोन, ओरसैल तथा अन्य : एंशेण्ट इंडिया, लंदन 1934
06. रैप्सन, ई.जे. : कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1
07. रैप्सन, ई.जे. : एंशेण्ट इंडिया, कैम्ब्रिज 1922
08. राय चौधरी, एच.सी. : पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
09. नीलकंठ शास्त्री, के.ए. : हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1, एंशेण्ट इंडिया, मद्रास, 1950
10. स्मिथ, बी.ए. : अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
11. मजूमदार तथा पुसलकर : दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
12. नीलकंठ शास्त्री : ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-2, ओरियंट लांगमैन्स, 1957
13. एलन, हेग, डाडवेल : दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
14. मजूमदार तथा पुसलकर : दी इम्पीरियल एज ऑफ कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
15. मजूमदार तथा पुसलकर : दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
16. मार्क ब्लाश : दि फ्यूडल् सोसायटी, केगन पाल, लंदन, 1961
17. स्टूडेंट्स, मैन्युअल् ऑफ इंगलिश कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री, षष्ठ संस्करण, ऑक्सफोर्ड
18. फ्लीट : कार्पस्, जिल्द 3
19. बाणभट्ट : हर्षचरित (अनुवादित) निर्णयसागर प्रेस
20. अग्रवाल, वी. एस. : कादम्बरी, एक सांस्कृतिक अध्ययन
21. अल्तेकर, ए. एस. : राष्ट्रकूट्ज एंड देयर टाइम्स् पूना, 1931
22. शर्मा, आर. एस. : इंडियन् फ्यूडलिजम्, नई दिल्ली, 1990
23. इलियट् और डाउसन् : हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टॉरियंस् जि. 1
24. शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, नई दिल्ली, 1982

खंड – 3 : गुप्तोत्तरकाल (उत्तर भारत)
इकाई – 2 : सामाजिक और आर्थिक स्थिति

इकाई की रूपरेखा

3.2.1 उद्देश्य
3.2.2 प्रस्तावना
3.2.3 सामाजिक स्थिति
3.2.3.1 वर्ण व्यवस्था
3.2.3.2 जातिप्रथा
3.2.3.3 विवाह
3.2.3.4 स्त्रियों की दशा
3.2.3.5 पर्दाप्रथा
3.2.3.6 वस्त्र तथा आभूषण
3.2.3.7 साहित्य
3.2.3.8 खान-पान
3.2.3.9 संस्कार
3.2.4 धर्म और दर्शन
3.2.4.1 मंदिर एवं प्रतिमाएँ
3.2.4.2 धार्मिक संप्रदाय
3.2.4.3 धार्मिक अनुष्ठान
3.2.4.4 दार्शनिक परंपराएँ
3.2.5 आर्थिक जीवन
3.2.5.1 व्यापार
3.2.5.2 श्रेणी एवं संघ
3.2.5.3 कृषि
3.2.5.4 वैदेशिक व्यापार
3.2.6 सारांश
3.2.7 बोध प्रश्न
3.2.7.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
3.2.7.1 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
3.2.8 संदर्भग्रंथ सूची

3.2.1 उद्देश्य

भारतीय इतिहास में गुप्त काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से जाना जाता है। गुप्त सम्राटों ने लगभग 230 वर्षों तक भारत के राजनीतिक पटल एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुप्तकाल के पूर्वार्द्ध में भारत के सांस्कृतिक जीवन में जो पूर्णता आई उसकी कोई तुलना नहीं है, परंतु इस काल में भारत में जो सांस्कृतिक चेतना जागृत हुई, वह गुप्तकाल की समाप्ति पर भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई। गुप्त राजवंश के पतन

के बाद भी उनके शासन से प्रभावित सांस्कृतिक संस्कारों की शृंखला गुप्तोत्तर काल तक बनी रही। अतः इसी शृंखला को ध्यान में रखकर प्रस्तुत इकाई का 'गुप्तोत्तर सामाजिक और आर्थिक स्थिति' नामकरण किया गया है। अतः गुप्तोत्तर सामाजिक और आर्थिक स्थिति के संबंध में विभिन्न राजवंशों का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत करना ही इसइकाई का उद्देश्य है।

3.2.2 प्रस्तावना

यह इकाई गुप्तोत्तर कालीन सम्राट् हर्ष के अतिरिक्त क्रमशः परवर्ती गुप्त राजवंश, मौखरी राजवंश की पुर्नस्थापना, कन्नौज-नरेश यशोवर्मन, बंग एवं गौड़ के राजवंश, कामरूप के वर्मन राजवंश, कश्मीर के कर्कोट राजवंश, वलभी के मैत्रक राजवंश, माहिष्मती के कलचुरी राजवंश एवं लाट के गुर्जर राजवंश से संबंधित हैं। वस्तुतः उत्तरी भारत के उत्तरी पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में शासन करने वाले इन प्रमुख राजवंशों के सामाजिक और आर्थिक इतिहास को एक साथ क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास है। इस इकाई में गुप्तोत्तर कालीन उत्तरी भारत के गौरवशाली राजवंशों के सामाजिक और आर्थिक जीवन का इतिहास संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इकाई में आधारभूत साक्ष्यों को मूलरूप में प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयास किया गया है तथा सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं का चित्रण समीक्षात्मक पद्धति पर किया गया है, जिससे वे अधिक से अधिक बोधगम्य बन सकें।

3.2.3 सामाजिक स्थिति

3.2.3.1 वर्ण व्यवस्था

सातवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अनेक प्राचीन व्यवस्थाएँ समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर नई व्यवस्थाओं ने जन्म लिया परंतु समाज के मूलाधार, वर्णाश्रम व्यवस्था, में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। गुप्तोत्तर काल में समाज का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था बनी रही। तत्कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार वर्गों में विभाजित था।

वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। अलमसूदी तथा अलबरूनी के कथन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इनका प्रमुख कार्य अध्ययन व अध्यापन, यज्ञ करना, पूजा करना तथा बलि देना था। कुछ ब्राह्मणों ने अन्य व्यवसाय भी अपना लिए थे क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था में शिथिलता आने लगी थी। कुछ ब्राह्मण राज्य में उच्च पदाधिकारी थे तो कुछ ने व्यापार करना प्रारंभ कर दिया था। यों तो ब्राह्मण अन्य कोई भी व्यवसाय अपना सकता था परंतु यह समाज में अच्छा नहीं समझा जाता था। वल्लभट्टस्वामिन के ग्वालियर अभिलेख में ग्वालियर दुर्ग के कोट्टपाल अल्ल को ब्राह्मण जाति का बताया गया है। अबूजैद का भी कथन है कि धार्मिक कार्य में रत व्यक्ति ब्राह्मण कहलाते थे तथा ये दरबार में कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक आदि का कार्य भी करते थे। ब्राह्मणों के पश्चात् समाज में दूसरा वर्ग क्षत्रियों का था इनका युद्ध और शासन का कार्य करना था। वैश्यों का समाज में तीसरा स्थान था। यह जाति संपूर्ण भारत में निवास करती थी। इनका कार्य कृषि व व्यापार करना था।

वर्ण व्यवस्था में शूद्रों का स्थान निम्न था। इनका कार्य उपरोक्त सभी वर्णों के व्यक्तियों की सेवा करना था। इन्हें धार्मिक कार्य तथा पूजा उपासना की अनुमति नहीं थी परंतु मेघातिथी के मतानुसार शूद्र यजन-याजन और बलि जैसे प्रकरण, श्राद्ध, अष्टका और वाषवदेव आदि धार्मिक कार्य कर सकते थे। शूद्रों में ऊँच नीच की भावना थी। जो जातियाँ अधिक गंदे कार्य करती थीं वे अंत्यज कहलाती थीं; इसके अंतर्गत धोबी, मोची, जुलाहे, नट, टोकरी बनाने वाले, कुंजड़े, मछली मारने वाले और शिकारी आते थे।

ये नगर ग्राम या कस्बे के बाहरी भाग में रहते थे। इनका स्पर्श वर्जित था तथा असावधानीवश स्पर्श होने पर शुद्धि के लिए स्नान तथा प्रायश्चित करना होता था।

3.2.3.2 जातिप्रथा

उपरोक्त के अतिरिक्त अलबरूनी अपने वर्णन में हादी, डोम, चांडाल और वधाताऊ जातियों का उल्लेख करता है। ये जातियाँ किसी वर्ग के अंतर्गत नहीं आती थीं। इनका कार्य नगर, कस्बे तथा ग्राम की सफाई करना था। ये चारों वर्णों की अवैध संतान कहलाते थे।

प्रतीहार काल में कायस्थ जाति का वर्णन मिलता है। कायस्थों का संबंध शासन से अधिक था। वे न्यायाधीश, महकमों के अध्यक्ष तथा लेखा-जोखा का कार्य करते थे। मुस्लिम इतिहासकार इब्नखुर्दबदा के अनुसार भारतीय समाज सात भागों में विभक्त था - सवकुफ्रया - इसमें सर्वोच्च जाति के लोग रहते थे। राजा का चुनाव इसी वर्ग से होता था। - शेष छह वर्गों के व्यक्ति इनका सम्मान करते थे। दूसरे वर्ग के अंतर्गत ब्राह्मण आते थे। ये सुरा तथा सभी व्यसनों से दूर रहते थे। तीसरा वर्ग कटारिया संभवतः क्षत्रिय जाति का था। ये तीन प्याले से अधिक सुरा का पान नहीं कर सकते थे। चैथा वर्ग सुदरियों का था। ये व्यवसाय करते थे। संभवतः इब्नखुर्दबदा ने वैश्यों को सुदस्या कहा है। पाँचवाँ तथा छठवाँ वर्ग बसुरिया तथा संडलिया का था बसुरिया बाँस से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करते थे तथा संडलिया का कार्य चांडालों के समान था। सातवाँ वर्ग लाहुद जाति का था इस जाति की स्त्रियाँ अपने को सजाने संवारने में व्यस्त रहती थीं तथा पुरूष विभिन्न खेलों तथा तमाशों के प्रदर्शन का कार्य करते थे।

उपरोक्त वर्णित वर्णों की सामाजिक स्थिति में भिन्नता थी। अलबरूनी का कथन है कि इन वर्णों में आपस में सामान्यतः खान-पान नहीं होता था। शूद्र तथा उससे निम्न जाति वालों के यहाँ उच्च वर्ग के व्यक्ति पानी भी नहीं पीते थे। हिंदू मुस्लिम संबंधों पर प्रकाश डालते हुए वह कहता है किहिंदू म्लेच्छों के यहाँ अन्न, जल ग्रहण करते थे। यदि किसी हिंदू दास को म्लेच्छ अपने देश ले जाते थे तो वहाँ से लौटने पर शुद्धीकरण के पश्चात् समाज उसे पुनः अपना लेता था। इस समय जबकि बलात् हिंदुओं को मुसलमान बनाया जाता था शुद्धीकरण की यह प्रक्रिया सत्य प्रतीत होती है। दास प्रथा का प्रचलन था। राजशेखर और अलबरूनी दोनों दासों का वर्णन करते हैं। राज महल की दासियों की दशा अच्छी थी, वे राजकुमारियों की सखियों की भाँति रहती थीं। चँवर डुलाने वाली, तलवार लिए, केश सँवारने वाली, बाण लिए, पानदान उठाने वाली, माला लिए, स्नान कराने वाली, ढाल, तलवार लिए तथा कविता करने वाली स्त्रियों का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ सेवा तथा रक्षा दोनों कार्य करती थीं।

3.2.3.3 विवाह

समाज में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। अंतर्जातीय विवाह संबंधों में कठोरता न थी। समाज में अनुमोल विवाह प्रचलित थे। इब्नखुर्दबदा व अलबरूनी का कथन है कि व्यक्ति अपने वर्ण तथा अपने वर्ण से एक नीचे वर्ण से विवाह संबंध कर सकता था उसके इस कथन की सत्यता प्रतीहार वंश के संस्थापक हरिचंद्र के क्षत्रिय कन्या भद्रा के साथ हुए विवाह से पुष्ट होती है। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' में भी उल्लेख है कि ब्राह्मण राजशेखर का विवाह क्षत्रिय कन्या अवंति सुंदरी के साथ हुआ था परंतु समाज में इन विवाहों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। प्रतिलोम विवाह का समाज में प्रचलन न था। अलबरूनी कहता है कि व्यक्ति को अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह का निषेध था। इब्नखुर्दबदा भी इस कथन की पुष्टि करता है। माता-पिता के गोत्र में विवाह वर्जित था। समाज में बाल-विवाह प्रथा प्रचलित थी।

बहुविवाह प्रथा का भी समाज में प्रचलन था। अलबरूनी का कथन है कि एक व्यक्ति चार विवाह कर सकता था। समाज के उच्च वर्ग में यह अधिक प्रचलित था।

विवाह विच्छेद तत्कालीन हिंदू समाज में संभव न था, पति-पत्नी मृत्यु द्वारा ही एक दूसरे से अलग हो सकते थे। विधवा विवाह का समाज में प्रचलन न था। नियोग प्रथा को समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सती होना समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। अलबरूनी का कथन है कि मृत राजा के शव के साथ उसकी सभी पत्नियाँ अग्नि में प्रवेश करती थीं। इस काल में सती प्रथा में रूढ़ता आ गई थी।

3.2.3.4 स्त्रियों की दशा

कन्या की अपेक्षा पुत्र जन्म को अधिक महत्व दिया जाता था। 'विद्धशालभंजिका' में वर्णन है कि लाट देश के राजा चंद्रवर्मा ने अपनी पुत्री मृगांकवली को मृगांकवर्मा के नाम से प्रसिद्ध किया क्योंकि उससे कोई पुत्र न था तथा पुत्री ही राज्य की उत्तराधिकारी थी। परिवार में इनकी उच्च स्थिति का परिचय प्रतीहार अभिलेखों में मिलता है। अहार अभिलेख में भट्टनी महादेव का परिचय उसकी स्थिति का परिचय देता है। राज्य और प्रशासन चलाने में प्रतीहार रानी महादेवी सहायता देती थी। उसे अग्रहार दान देने का पूरा अधिकार था। अल्पवयस्क राजा की संरक्षिका के रूप में वह प्रशासन संभालती थी।

स्त्रियों को शिक्षा अर्जन का पूर्ण अधिकार था। राजशेखर की पत्नी अवंति सुंदरी एक प्रसिद्ध कवियित्री थी। मारूला, मोरिका तथा सुभद्रा इस काल की प्रमुख विदुशी महिलाएँ थी। शिक्षा के अतिरिक्त ललितकालाओं का भी स्त्रियों को ज्ञान कराया जाता था परंतु सामान्यतः स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार अल्प था। समस्त समाज में लगभग 10 प्रतिशत स्त्रियाँ ही शिक्षित थीं। स्त्रियाँ शास्त्रों में भी रूचि रखती थीं। देवदासी और वैश्यावृत्ति का भी समाज में प्रचलन था। इन के विकास में राजा और धनी व्यक्तियों का प्रमुख हाथ था।

3.2.3.5 पर्दाप्रथा

समाज में पर्दा प्रथा प्रचलित थी। परंतु उसके नियम कठोर नहीं थे। अबूज़ैद का कथन है कि तत्कालीन अधिकांश राजा रानियाँ सहित राज दरबार में आते थे। मेलों और धार्मिक उत्सवों में स्त्रियाँ भाग लेती थीं। समाज में स्त्रियों का सम्मान था।

3.2.3.6 वस्त्र तथा आभूषण

स्त्रियाँ और पुरूष दोनों धोती पहनते थे, उसे कमर में लपेटकर शेष भाग को स्कंध पर डाल देते थे। ऊपर पहनने का वस्त्र उत्तरीय था जिसे स्त्री-पुरूष दोनों पहनते थे। स्त्री समाज अलंकरण और प्रसाधन में रूचि रखती थी। अनेक प्रकार की केश विन्यास प्रणालियाँ प्रचलित थीं। वे गंधतेल, चंदन, कज्जल, सुरमा, मिस्सी आदि सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग करती थीं। उनके प्रमुख आभूषण वलय, मुक्ताहार, कुण्डल, कांची, नूपुर आदि थे। नीवी, चोलक, दुकूल आदि परिधान स्त्रियों द्वारा धारण किए जाते थे। परिधान नील, लोहित, आदि रंगों के होते थे। धनिक वर्ग में चीनांशुक का प्रयोग होता था। रेशमी वस्त्र के विषय में सुलेमान लिखता है कि वह मुद्रिका के मध्य से निकल जाता था। पुरूषों के वस्त्र अधिकतर श्वेत होते थे। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियाँ गेरूए चीवर धारण करती थीं। जैन सन्यासी पीत तथा हिंदू सन्यासी काषाय वस्त्र धारण करते थे। अलबरूनी का मत है कि पुरूष चर्म-उपानह धारण करते थे परंतु स्त्री समाज में इनका उपयोग नहीं होता था।

3.2.3.7 साहित्य

राजशेखर के ग्रंथों में मसिपिंड, अष्टादश लिपि, केतलीदल लेख पाठ इत्यादि शब्द मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में विद्यार्थियों के तीन वर्गों का वर्णन किया है, सहजा (जो एक बार सुनकर याद कर ले), आहार्यबुद्धि (जो अभ्यास से याद करे) और औपदेशिका (जो उपदेश से भी शिक्षा ग्रहण न कर सके)। परंपरागत चौदह विषयों के अतिरिक्त वार्ता (कृषि और वाणिज्य), दंडनीति, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, और साहित्य विद्या की शिक्षा दी जाती थी। नालंदा, विक्रमशिला, वलभी, कांपिल्य, पाटलिपुत्र, अवंति, भिनमाल, कन्नौज आदि उच्च शिक्षा के केंद्र थे। इन केंद्रों में समय-समय पर ब्रह्म सभाएँ होती थीं जो काव्य-शास्त्र की परीक्षा लेती थीं।

गुप्तोत्तर नरेश विद्वानों के आश्रयदाता थे। प्रसिद्ध विद्वान राजशेखर इस युग की साहित्यिक विभूति थे, जिन्होंने कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, काव्यमीमांसा, बाल-भरत आदि ग्रंथों की रचना की।

3.2.3.8 खान-पान

मदिरा पान का समाज में प्रचार था। राजशेखर ने राजा, सन्यासी और साधारण प्रजा तीनों में मदिरा पान का प्रचलन बताया है। राजशेखर की साहित्यिक कृतियों में मदिरापान का इतना वर्णन है कि तत्कालीन समाज में इसकी लोकप्रियता प्रमाणित हो जाती है। अलमसूदी और राजशेखर का कथन है कि स्त्रियाँ भी सुरापान करती थीं।

ब्राह्मण समाज में मांस भक्षण निषिद्ध था परंतु इस विषय में मुस्लिम इतिहासकारों के वर्णन में विरोधाभास है। अलमसूदी का कथन है कि ब्राह्मण किसी भी जानवर का मांस नहीं खाते थे किंतु अलबरूनी का कथन है कि वे गैंडे का मांस खा सकते थे। सामान्यतः भेड़, बकरी, खरगोश, भैंस, मछली, मुर्गा, बदक, मोर आदि जानवरों का मांस खाया जाता था। पशुओं में घोड़ा, गाय, खच्चर, गधे, ऊँट, तथा हाथी का मांस भक्षण वर्जित था। इनकी स्वतः मृत्यु हो जाने पर शूद्र इनका मांस भक्षण कर सकते थे। ब्राह्मणों के लिए लहसुन, प्याज, गाजर, एक प्रकार की लौकी तथा पानी में उगने वाली कमल-ककड़ी का सेवन वर्जित था। वे गाय तथा भैंस के दूध के अतिरिक्त अन्य जानवरों के दूध का भक्षण नहीं करते थे। सामान्यतः भोजन में अनाज, घी, दूध तथा शक्कर का समावेश रहता था। अलबरूनी कहता है कि ब्राह्मण एक-एक करके भोजन करते थे तथा भोजन के पूर्व तथा पश्चात् उस स्थान को गाय के गोबर से लीपते थे।

गुप्तोत्तर कालीन सामाजिक जीवन सादा था। कर्पूरमंजरी में कहा गया है कि हिंदू परस्पर मिलने पर अभिवादन करते थे।

3.2.3.9 संस्कार

संतान प्राप्ति के लिए गर्भाधान संस्कार किया जाता था। गर्भधारण के चैथे मास में सीमन्तोन्नयन नामक संस्कार तथा पुत्र प्राप्ति होने पर जात्तकर्मन, नामकरण आदि संस्कार किए जाते थे। संतान उत्पन्न होने पर उस घर में अन्य व्यक्ति अन्न जल ग्रहण नहीं करते थे। यह अवस्था सभी जातियों के लिए अलग-अलग थी। संतान के तीन वर्ष का हो जाने पर चूड़ाकरण संस्कार तथा आठ वर्ष का हो जाने पर कर्णभेद नामक संस्कार किया जाता था।

मृतक का दाह संस्कार किया जाता था परंतु आश्रम में रहने वाले सिद्ध पुरूषों को समाधिस्थ किया जाता था। अलबरूनी का कथन है कि निर्धनता के कारण जो व्यक्ति शव का दाहकर्म करने में असमर्थ होते थे वे शव को खुला छोड़ देते थे या जल में प्रवाहित कर देते थे। अल-उतबी का कथन है कि शव को जलाने के पश्चात् उसके अवशेषों को नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था ऐसा करने से मृतक के

पाप नष्ट हो जाते हैं। अलबरूनी कहता है कि मृतक के दाह स्थल पर स्मृति चिह्न बनाया जाता था। मृतक के संस्कार के पूर्व उसे स्नान कराया जाता था तथा उसकी केशसज्जा की जाती थी। तत्पश्चात् चंदन तथा तीव्र अग्निग्राही पदार्थों की सहायता से उसका दहन किया जाता था। मृतक के शव के साथ जो व्यक्ति दाह स्थल तक जाते थे वे लौटते समय अपने कपड़े साफ करते तथा केशों को मुंडवाते थे। शव घर में रहने पर कोई भोजन आदि ग्रहण नहीं करता था। अलबरूनी के वर्णन के अनुसार दाहकर्म के दसवें व तेरहवें दिन विशेष उत्सव होते थे तथा इनका क्रम एक वर्ष तक चलता था।

3.2.4 धर्म और दर्शन

गुप्तोत्तर काल की प्रमुख धार्मिक घटना बौद्ध धर्म का पतन और भागवत धर्म का पुनरूत्थान है। यद्यपि वर्धनकाल इसका अपवाद है। वैष्णव धर्म राजा तथा प्रजा दोनों में समान रूप से लोकप्रिय था। वैष्णव के अतिरिक्त, शैव, शाक्त, और सौर संप्रदाय भी समाज में प्रचलित थे। विष्णु भगवान की पूजा अनेक नामों से की जाती थी, यथा, गरूड़ासनदेव, चक्रस्वामिदेव, त्रैलोक्यमोहन, माधव, वामन, स्वामीदेव, मुरारी आदि। अभिलेखों में उनके दशावतारों मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि के नाम मिलते हैं। विष्णु का राम रूप इस काल में लोकप्रिय न था। किसी भी प्रतीहार कलाकृति या अभिलेख में राम की प्रतिमा या देवालय निर्माण का उल्लेख नहीं किया गया है।

3.2.4.1 मंदिर एवं प्रतिमाएँ

मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना पुण्य कार्य समझा जाता था। गुप्तोत्तर कालीन अनेक अभिलेखों में इसके प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि नागभट्ट के पौत्र तथा वल्लभट्ट के पुत्र ग्वालियर के कोट्टपाल अल्ल ने विष्णु देवालय का निर्माण कराया था। पहेवा अभिलेख में कन्नौज के निकट भोजपुर ग्राम में ब्राह्मण गूवक द्वारा विष्णु देवालय निर्माण का उल्लेख है। इसी गूवक ने पहेवा में यजनवराह देवालय का निर्माण भी कराया था। प्रतीहार अभिलेखों में बीस से अधिक देवालयों के नाम मिलते हैं जिनका निर्माण प्रतीहार राजाओं ने कराया था। मंदिरों की आर्थिक व्यवस्था के लिए ग्राम, भूमि, भवन आदि दान किए जाते थे। भैल नामक एक व्यापारी ने वामन स्वामीदेव के देवालय को दान दिया था, चण्डुक नामक अन्य व्यापारी ने एक विष्णु देवालय को दान दिया था।

इस समय अनेक विष्णु प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। जोधपुर अभिलेख में परमेश्वर का चतुर्मुखी वर्णन है। वे शंख, चक्र, गदा, कमल और कौस्तुभमणि धारण किए हैं। शेषशायी रूप में वे अनेक देवालयों में प्रदर्शित हैं। प्रतीहार नरेशों ने वैष्णव धर्म को प्रोत्साहन दिया था। अभिलेखों में प्रतीहार नरेश देवशक्ति को परम वैश्णव कहा गया है।

3.2.4.2 धार्मिक संप्रदाय

शैव संप्रदाय भी समाज में लोक प्रिय था। अभिलेखों में इनके नाम उमा महेश्वर, त्रिलोचन, लच्छुकेश्वर महादेव, योगस्वामिन, शंभू, सिद्धेश्वर-महादेव, पशुपति, महाकाल, काल प्रिय, तथा अघोरेश्वर मिलते हैं। शिव की पूजा अधिकतर लिंग रूप में की जाती थी। इनकी स्थापना देवालय में ही जाती थी। बाऊक के जोधपुर अभिलेख में कहा गया है कि प्रतीहार राजा सिल्लुक ने पवित्र स्थान त्रेता में सिद्धेश्वर महादेव देवालय का निर्माण कराया था। राजोर अभिलेख के अनुसार मथनदेव ने शिवालय निर्माण के पश्चात् उसे एक गाँव दान में दिया था। कामन अभिलेख का उल्लेख है कि गुर्जर-प्रतीहार नरेश के भोज ने एक शिवालय की आर्थिक व्यवस्था के लिए धन दान दिया था। देवालयों का प्रबंध गोष्ठिकाओं द्वारा होता था। देश में बहुसंख्यक शैवाचार्य और पाशुपत संन्यासी थे। इनके अनेक मठ थे। परताबगढ़

अभिलेख में महेन्द्रपाल द्वारा दशपुर स्थित मठ में निवास करने वाले हरी नामक ऋषि को दान देने का उल्लेख किया गया है। राजोर अभिलेख में स्त्रीकाष्ठ शिवाचार्य और ओंकार शिवाचार्य के नाम दिए गए हैं। अनेक प्रतीहार नरेश शैव धर्मोपासक थे। वत्सराज, महेन्द्रपाल द्वितीय और त्रिलोचन पाल को शैव कहा गया है। इनके द्वारा शिवालयों को दिए गए दान के उल्लेख मिलते हैं। चाहमान भतृवृद्ध जैसे अनेक प्रतीहार सामंत भी शैव मतावलंबी थे।

इसके अतिरिक्त सूर्य पूजा के भी प्रमाण मिलते हैं। तत्कालीन अभिलेखों में सूर्य के विभिन्न नाम यथा-इंद्रराजादित्यादेव, इंद्रादित्यादेव तरूणादित्यदेव, तथा गंगादित्यदेव मिलते हैं। सियादोनी अभिलेख में इनका एक अन्य नाम भिल्लस्वामिन देव मिलता है। प्रतीहार नरेश रामभद्र और विनायकपालदेव आदित्यभक्त कहे गए हैं। अभिलेखों में विनायक, कार्तिकेय, इंद्रमाधव तथा लउडेश्वर नामक देवालयों के नाम भी मिलते हैं।

शक्ति की आराधना भगवती, चंडिका या चामुण्डा, श्री अम्बालोही देवी, लक्ष्मी, वटयाक्षिणीदेवी, वसुधारा, सर्वमंगलदेवी, कंचनदेवी, गंधदेवी, गौरी और वाग्मूर्तिदेवी रूप में होती थी। प्रतीहार युगीन शिल्प में इन देवियों का शिल्पांकन अत्यधिक संख्या में किया गया है। प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय और भोज प्रथम भगवती के उपासक थे।

गुप्तोत्तर राजाओं का धर्म अलग-अलग होते हुए भी राज्य में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता थी। वैष्णवों और शैवों के संबंध परस्पर अच्छे थे। सामान्यतः शिवालय में ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती थीं। शैवाचार्यों द्वारा शिवालय के साथ वैष्णव देवालयों की व्यवस्था करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नीलगुंड अभिलेख में विष्णु, ब्रह्मा, और शिव की स्तुति एक साथ की गई है।

3.2.4.3 धार्मिक अनुष्ठान

देवी-देवताओं की पूजा के निमित्त पुजारी होते थे। अलबरूनी के वर्णन के अनुसार विष्णु की आराधना करने वाले भागवत, सूर्य की आराधना करने वाले मग, तथा महादेव की आराधना करने वाले सिद्ध कहलाते थे। ये मस्तक पर जटा तथा गले में अस्थियों की माला धारण करते थे। संपूर्ण शरीर में भस्म लपेटते थे और तालाब में स्नान करते थे।

वैदिक धर्म का पालन करने वाले प्रातः तथा संध्याकाल में नियम से यज्ञ करते थे। इनके धर्म में अग्नि का महत्व था। अत्रिसंहिता में वर्णन है कि जो ब्राह्मण अग्निहोत्र नहीं करता उसे भोजन नहीं करना चाहिए। अलबरूनी का कथन है कि दुर्गा, महादेव, क्षेत्रपाल आदि देवी-देवताओं के नैवेद्य हेतु भेड़, मुर्गे या भैंसे की बलि दी जाती थी। हिंदू प्रतिदिन शरीर का शुद्धीकरण करके भगवद् भोजन करते थे। ब्राह्मण प्रतिदिन तीन समय नहाते थे। व्यास ने गायित्री, सावित्री तथा सरस्वती तीन अनिवार्य संध्याओं का वर्णन किया है। इनका पालन प्रत्येक ब्राह्मण को आवश्यक था। समाज में धार्मिक अनुष्ठान और उपवासों का महत्व था। पंचगव्य का भक्षण कर उपवास का समापन किया जाता था।

प्रतिमा पूजन के साथ-साथ मंदिर, ब्राह्मण व सन्यासियों आदि को दान-दक्षिणा देना पुण्य कार्य समझा जाता था। ग्रहण, श्राद्ध, जातकर्म, नामकरण, वर्षगाँठ उत्सव, उत्तरायण, दक्षिणायन, संक्रांति, अक्षयतृतीया, तथा वृद्धि मास के अवसरों पर दान दिए जाते थे। दान सामग्रियों में ग्राम, भूमि, सोना, गाय, वस्त्र, अनाज, आदि का दान दिया जाता था। बंगाल एशियाटिक सोसायटी अभिलेख में प्रतिष्ठान भुक्ति में वाराणसी विषय के अंतर्गत टिक्करिका ग्राम दान में दिए जाने का उल्लेख है। यह दान चंद्रग्रहण के अवसर पर दिया गया था। परताबगढ़ अभिलेख में व्यापारी माधव द्वारा मीन संक्रांति के पुण्य पर्व के अवसर पर धाराभद्रक नामक ग्राम दान देने का उल्लेख है। झूसी अभिलेख में त्रिलोचनपाल द्वारा गंगा

स्नान तथा शिवपूजन के पश्चात् लभुंदक नामक ग्राम प्रतिष्ठान के छह हजार ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख है। यह दान दक्षिणायन संक्रांति के अवसर पर दिया गया था।

तीर्थ यात्रा करना समाज में लोकप्रिय था। वाराणसी, पुष्कर, कुरूक्षेत्र, मथुरा और मुल्तान प्रमुख तीर्थ स्थल थे। तीर्थ यात्रा विभिन्न हेतुओं की पूर्ति के लिए की जाती थी। तीर्थ स्थलों पर तीर्थ यात्री केश मुंडवाते थे। कर्म तथा पुनर्जन्म का विश्वास हिंदू समाज में गहराई से व्याप्त था। अरब यात्री का कथन है कि पुनर्जन्म में हिंदुओं का दृढ़ विश्वास है। उनका विश्वास है कि आत्मा अमर है तथा वह शरीर परिवर्तन करती है।

3.2.4.4 दार्शनिक परंपराएँ

तत्कालीन भारतीय दर्शन अनेक शाखाओं में विभाजित था। जिनमें शंकर दर्शन, वैशेषिक, पाशुपति, कुलाचार्य, सांख्य और ब्राहस्पत्य दर्शन प्रमुख हैं। इस समय तक जैन तथा शैव दर्शन में संघर्ष प्रारंभ हो गया था। जैन धर्म दक्षिण भारत में अधिक पल्लवित हो रहा था। उत्तर भारत में इसका प्रभाव क्रमशः कम होता जा रहा था। गुप्तोत्तर युग में देवगढ़ राजस्थान और गुजरात जैन धर्म के प्रमुख केंद्र थे। व्यावसायिक वर्ग में इस धर्म का अधिक प्रभाव था। जैन भिक्षु अरहंत कहे जाते थे, ये तीर्थंकरों की उपासना करते थे। सोमदेवकृत यशष्टिशलाका में वर्णन है कि त्याग के कारण जैन जिन कहलाते थे। इस धर्म को राज्य की ओर से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। देवगढ़ का शांतिनाथ मंदिर तथा ग्यारसपुर का मालादेवी देवालय इसका ज्वलंत उदाहरण है परंतु किसी प्रतीहार राजा ने जैन धर्म ग्रहण किया हो इसके उदाहरण हमें नहीं मिलते हैं। ओसियाँ अभिलेख में भी महावीर स्वामी के देवालय का उल्लेख है।

बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया था। इसके अनुयायी भी अल्पसंख्यक थे परंतु इन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता तथा राजकीय संरक्षण प्राप्त था। गुनेरिया अभिलेख तथा अन्य बौद्ध प्रमिताओं की पादपीठ पर प्रतीहार राजाओं के अभिलेखों के अंकन से इसकी पुष्टि होती है। ब्रिटिश संग्रहालय अभिलेख में एक बौद्ध भिक्षु को दान दिए जाने का उल्लेख है। सारनाथ, उत्तर प्रदेश, से भी बौद्धदेवी तारा की दो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

3.2.5 आर्थिक जीवन

3.2.5.1 व्यापार

गुप्तोत्तरयुगीन आर्थिक व्यवस्था उच्चकोटि की थी। व्यापार करने वाले व्यवहारक कहलाते थे। इस काल में सामान्यतः तीन प्रकार के व्यापारी होते थे। प्रास्तारिक-सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज पदार्थों के व्यापारी; सांस्थानिक - गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, आदि पशुओं के व्यापारी; तथा बाँस, चमड़ा व लाख के व्यापारी। व्यापारी वर्ग का एक संघ होता था जिसे श्रेणी कहते थे। एक जैसी वस्तुओं का व्यापार करने वाले व्यापारी एक विशिष्ट पूर्व निर्धारित स्थान में एकत्र होकर वस्तुओं का क्रय विक्रय करते थे। ये श्रेणियाँ संपूर्ण भारत में विस्तीर्ण थीं या इनका स्थानीय स्वरूप था इस विषयक पर्याप्त साक्ष्य नहीं है परंतु अभिलेखिक साक्ष्यों में इनके स्थानीय स्वरूप का वर्णन मिलता है।

प्राचीन वर्ण व्यवस्था व्यापार का आधार था परंतु इस समय तक रूढ़ि में शिथिलता आ गई थी और व्यक्ति अपनी रूचि और सुविधानुसार व्यवसाय अपनाने को स्वतंत्र था। कई ब्राह्मण, क्षत्रिय कृषि करने लगे थे एवं कई वैश्य सेना में सैनिक हो गए थे परंतु इसके उदाहरण कम मिलते हैं।

3.2.5.2 श्रेणी एवं संघ

यद्यपि श्रेणियों की उत्पत्ति पूर्व कालिक है परंतु इस काल में हमें उनका परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। 933 वि.सं. के वल्लभट्टस्वामिन् के ग्वालियर अभिलेख में स्थानीय तैलिक-संघ द्वारा एक

देवालय को दीप प्रज्वलित करने के लिए तेल देने का, माला-संघ द्वारा पंद्रह पुष्पहार प्रतिदिन विशिष्ट देवालय को देने का उल्लेख है। कामन अभिलेख में कुंभकारों तथा शिल्पियों के संघ का उल्लेख है। ये श्रेणियाँ बैंकर का कार्य भी करती थीं। इन श्रेणियों का कार्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता रहता था। इनका समाज पर इतना अधिक प्रभाव था कि राजा किसी व्यवसाय पर कर लगाने के लिए संबंधित श्रेणी के सदस्यों से सलाह लेता था। श्रेणियों के कार्यों के लिए इनके सदस्य सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते थे।

अनेक गुप्तोत्तर अभिलेखों में व्यापारियों के संघ व व्यवसायों का उल्लेख किया गया है। व्यापारियों के संघ को 'व्यवहारिक' व व्यापारी को 'श्रेष्ठिन' कहा जाता था। पहेवा अभिलेख में 'घाटका' (घोड़ों का व्यापारी) व 'सार्थवाह' का नाम मिलता है। सियादोनी अभिलेख में सुरा निर्माताओं को 'कल्लपाल' कहा गया है, इनका प्रमुख अधिकारी 'कल्लपाल महत्तक' कहलाता था। 'कन्दुक' शब्द इस अभिलेख में भड़भूंजे के लिए प्रयुक्त किया गया है, इसी अभिलेख में तम्बोली का वर्णन है, इनका प्रमुख 'तम्बोली महार' कहलाता था। इस संदर्भ में केशव तम्बोली का नाम उल्लेखनीय है, यह बटेश्वर तम्बोली का पुत्र था। इसकी पान की दुकान हाट के मध्य थी। इस तथ्य की पुष्टि अन्य अभिलेखों से भी होती है।

तेल मिल 'घृणिका' और तेल बनाने वाले तैलिक कहलाते थे। इनका प्रमुख 'तैलिक महत्तक' कहलाता था। ग्वालियर और सियादोनी अभिलेखों में इस व्यवसाय का विस्तृत वर्णन किया गया है। गंधिकों का व्यवसाय अत्यधिक प्राचीन है। ये सुगंधित तेल तथा सौंदर्य प्रसाधनों का क्रय विक्रय करते थे। अहार अभिलेख में देवंग के पुत्र माधव का उल्लेख है जो माथुर जाति का इत्र बेचने वाला था।

शिल्प कार्य तत्कालीन समाज का एक प्रमुख व्यवसाय था। कामन अभिलेख में स्थापित और कुंभकार शिल्पियों के नाम मिलते हैं। सियादोनी अभिलेख में शिल्पियों की सूची वर्णित है। जिसमें कुंभकर, ताम्रकार, प्रस्तरकर्तनकर, बढ़ई, सुनार, जौहरी, लुहार आदि नाम मिलते हैं। मनोरंजन करने वालों का व्यवसाय भी सुव्यवस्थित था। राजशेखर ने नट, नर्तक, गाने बजाने वाले, जादूगर आदि का उल्लेख किया है। अरब यात्री अलमसूदी ने एक जाति लहुद का वर्णन किया है। इस जाति के पुरूष तथा स्त्रियाँ मनोरंजन का कार्य करते थे।

3.2.5.3 कृषि

गुप्तोत्तर काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी कृषि कार्यों में संलग्न थे। कामन अभिलेख में साहुल्ल, जज्ज और अन्य ब्राह्मणों को भूमि जोतते हुए बताया गया है। ग्वालियर अभिलेख में क्षत्रिय देववर्मन के पुत्र मेमाक को कृषक कहा गया है। यह कहा जा सकता है कि जातियाँ स्वयं भूमि नहीं जोतती थीं वरन् मजदूरों से कृषि कराती थीं। जैन धर्म के प्रभाव के कारण अनेक वैश्यों ने कृषि तथा पशुपालन का कार्य बंद कर दिया था क्योंकि इसमें जीवहिंसा की अधिक संभावना रहती थी। अभिलेखों में भूमियों के प्रकार बताए गए हैं। कृषि योग्य भूमि वहानिक कहलाती थी। ऊसर तथा चारागाह की भूमि का उल्लेख भी किया गया है। वस्तुओं का क्रय-विक्रय विनियम तथा मुद्राओं के माध्यम से होता था। आदि वराह, ट्रम्म, पाद, रूपक, पण, काकिणी तथा कार्पदक नाम की मुद्राएँ प्रचलित थीं।

अभिलेखिक साक्ष्यों में वस्तु के क्रय-विक्रय स्थान को 'हट्ट' कहा गया है। कामन अभिलेख में पशुओं के बाजार के लिए 'कम्बली हट्ट' शब्द का प्रयोग किया गया है। दुकानों को 'अवरी' कहा जाता था। नियमित अवरी प्रायः आवास से संलग्न रहती थी। यातायात के लिए बैलगाड़ी, घोड़ों, ऊँटों, गधों तथा समुद्री जहाज का प्रयोग किया जाता था। बड़ी-बड़ी मंडियों को 'पेष्ठास्थानक' कहा जाता था।

कान्यकुब्ज, गोर्तिया, भोजपुर, पृथूडक तथा श्रावस्ती प्रतीहार साम्राज्य के प्रमुख व्यापारिक स्थान थे। व्यापारी संपूर्णदेश में व्यापारार्थ आते-जाते थे। समुद्र पार से भी व्यापार होता था।

3.2.5.4 वैदेशिक व्यापार

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तोत्तर शासकों की रूचि विदेशियों से संबंध स्थापित करने में नहीं थी। सुलेमान कहता है कि जुर्ज का शासक अरबों से मैत्री-भाव नहीं रखता है, भारत में इस्लाम का उससे बड़ा कोई दूसरा शत्रु नहीं है। उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है कि भारतीय समाज और राजा विदेशों से विशेषकर अरबों से संबंध स्थापित करने में रूचि नहीं रखते थेपरंतु साहित्य में भारत के वेदैशिक संबंधों के प्रमाण उपलब्ध हैं। डॉ. लल्लनजी गोपाल का मत है कि भारत का चीन, ईरान, अरब देशों तथा एशिया माइनर के देशों से व्यापार संबंध था। इन देशों से व्यापार स्थल मार्ग से होता था। इस्लाम के उदय ने भारत का संपर्क यूरोप से तोड़ दिया। इसका कारण बताते हुए डॉ. गोपाल लिखते हैं कि मुसलमानों ने अपने क्षेत्र से व्यापारियों का आना-जाना कठिन बना दिया, इससे यूरोपीय संपर्क पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सामुद्रिक व्यापार की अवनति हो गई थी, डॉ. ए.एल. बाशम का मत है कि इस समय तक भारतीयों की नौका निर्माण तकनीक का ह्रास होना प्रारंभ हो गया था। डॉ. गोपाल भी बाशम का समर्थन करते हुए कहते हैं कि भारतीय नौकाएँ चीनी और अरबी नौकाओं से बहुत पीछे थीं परंतु डॉ. पुरी का कथन है कि भारत का संपर्क अरब देशों, लंका व दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों से था।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि गुप्तोत्तर कालीन आर्थिक दशा का आधार कृषि, व्यापार और उद्योग थे। कृषि की दशा उन्नत थी तथा अत्यंत विकसित देशी व विदेशी व्यापार के कारण भारत आर्थिक दृष्टि से संपन्न था।

3.2.6 सारांश

सामाजिक स्थिति

सातवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अनेक प्राचीन व्यवस्थाएँ समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर नई व्यवस्थाओं ने जन्म लिया परंतु समाज के मूलाधार, वर्णाश्रम व्यवस्था, में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रतीहार काल में समाज का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था बनी रही। तत्कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार वर्गों में विभाजित था।

वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। अलमसूदी तथा अलबरूनी के कथन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इनका प्रमुख कार्य अध्ययन व अध्यापन, यज्ञ करना, पूजा करना तथा बलि देना था। कुछ ब्राह्मणों ने अन्य व्यवसाय भी अपना लिए थे क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था में शिथिलता आने लगी थी। कुछ ब्राह्मण राज्य में उच्च पदाधिकारी थे तो कुछ ने व्यापार करना प्रारंभ कर दिया था। यों तो ब्राह्मण अन्य कोई भी व्यवसाय अपना सकता था परंतु यह समाज में अच्छा नहीं समझा जाता था। वल्लभट्टस्वामिन के ग्वालियर अभिलेख में ग्वालियर दुर्ग के कोट्टपाल अल्ल को ब्राह्मण जाति का बताया गया है। अबूजैद का भी कथन है कि धार्मिक कार्य में रत व्यक्ति ब्राह्मण कहलाते थे तथा ये दरबार में कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक आदि का कार्य भी करते थे। ब्राह्मणों के पश्चात् समाज में दूसरा वर्ग क्षत्रियों का था इनका युद्ध और शासन का कार्य करना था। वैश्यों का समाज में तीसरा स्थान था। यह जाति संपूर्ण भारत में निवास करती थी। इनका कार्य कृषि व व्यापार करना था।

धार्मिक स्थिति

गुर्जर प्रतीहार काल की प्रमुख धार्मिक घटना बौद्ध धर्म का पतन और भागवत धर्म का पुनरूत्थान है। वैष्णव धर्म राजा तथा प्रजा दोनों में समान रूप से लोकप्रिय था। वैष्णव के अतिरिक्त, शैव,

शाक्त, और सौर संप्रदाय भी समाज में प्रचलित थे। विष्णु भगवान की पूजा अनेक नामों से की जाती थी, यथा, गरूड़ासनदेव, चक्रस्वामिदेव, त्रैलोक्यमोहन, माधव, वामन, स्वामीदेव, मुरारी आदि। अभिलेखों में उनके दशावतारों मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि के नाम मिलते हैं। विष्णु का राम रूप इस काल में लोकप्रिय न था।

आर्थिक स्थिति

प्रतीहारयुगीन आर्थिक व्यवस्था उच्चकोटि की थी। व्यापार करने वाले व्यवहारक कहलाते थे। इस काल में सामान्यतः तीन प्रकार के व्यापारी होते थे। प्रास्तारिक-सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज पदार्थों के व्यापारी; सांस्थानिक - गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, आदि पशुओं के व्यापारी; तथा बाँस, चमड़ा व लाख के व्यापारी। व्यापारी वर्ग का एक संघ होता था जिसे श्रेणी कहते थे। एक जैसी वस्तुओं का व्यापार करने वाले व्यापारी एक विशिष्ट पूर्व निर्धारित स्थान में एकत्र होकर वस्तुओं का क्रय विक्रय करते थे। ये श्रेणियाँ संपूर्ण भारत में विस्तीर्ण थीं या इनका स्थानीय स्वरूप था इस विषयक पर्याप्त साक्ष्य नहीं है परंतु अभिलेखिक साक्ष्यों में इनके स्थानीय स्वरूप का वर्णन मिलता है।

प्राचीन वर्ण व्यवस्था व्यापार का आधार था परंतु इस समय तक रूढ़ि में शिथिलता आ गई थी और व्यक्ति अपनी रूचि और सुविधानुसार व्यवसाय अपनाने को स्वतंत्र था। कई ब्राह्मण, क्षत्रिय कृषि करने लगे थे एवं कई वैश्य सेना में सैनिक हो गए थे परंतु इसके उदाहरण कम मिलते हैं।

3.2.7 बोध प्रश्न

3.2.7.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1 गुप्तोत्तर कालीन वर्ण व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
2 गुप्तोत्तर कालीन जातिप्रथा के विषय में लिखिए।
3 गुप्तोत्तर में विवाह संस्कार किस अवस्था में था?
4 गुप्तोत्तर कालीन नारी की दशा पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
5 गुप्तोत्तर कालीन वस्त्र-आभूषण पर टिप्पणी लिखिए।
6 गुप्तोत्तर काल में साहित्य की क्या स्थिति थी?
7 गुप्तोत्तर कालीन खान-पान पर प्रकाश डालिए।
8 गुप्तोत्तर कालीन संस्कारों पर टिप्पणी लिखिए।
9 गुप्तोत्तर कालीन प्रतिमाओं पर प्रकाश डालिए।
10 गुप्तोत्तर कालीन धार्मिक सम्प्रदायों के विषय में लिखिए।
11 गुप्तोत्तर काल में दर्शन की क्या स्थिति थी? समझाइए।

3.2.7.1 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

12 गुप्तोत्तर कालीन सामाजिक स्थिति की विवेचना कीजिए।
13 गुप्तोत्तर कालीन धार्मिक स्थिति का परीक्षण कीजिए।
14 गुप्तोत्तर कालीन आर्थिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
15 गुप्तोत्तर कालीन व्यापार पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
16 गुप्तोत्तर कालीन धर्म-दर्शन का वर्णन कीजिए।
17 गुप्तोत्तर काल में श्रेणी एवं संघ की स्थिति पर विस्तार से प्रकाश डलिए।
18 गुप्तोत्तर कालीन नारी की स्थिति का मूल्याँकन कीजिए।
19 गुप्तोत्तर काल में वर्ण व्यवस्था तथा जातिप्रथा का परीक्षण कीजिए।

20 गुप्तोत्तर कालीन धार्मिक अनुष्ठान एवं दार्शनिक परंपराओं का वर्णन कीजिए।
21 गुप्तोत्तर काल में कृषि एवं विदेशी व्यापार पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
22 गुप्तोत्तर कालीन संस्कारों का वर्णन कीजिए।

3.2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रमशेचन्द्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. राजबली पाण्डेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संसद् वाराणसी, 1962
3. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
4. बारनेट, एल.डी.: एण्टीक्विटीज ऑफ इण्डिया, लंदन 1913
5. मेस्सोन, ओरसैल तथा अन्य: एंशेण्ट इण्डिया, लंदन 1934
6. रैप्सन, ई.जे.: कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1
7. रैप्सन, ई.जे.: एंशेण्ट इण्डिया, कैम्ब्रिज 1922
8. राय चैधरी, एच.सी.: पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
9. नीलकंठ शास्त्री, के.ए.: हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1, एंशेण्ट इण्डिया, मद्रास, 1950
10. स्मिथ, बी.ए.: अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
11. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
12. नीलकंठ शास्त्री: ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957
13. एलन, हेग, डाडवेल: दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इण्डिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
14. मजूमदार तथा पुसलकर: दी इम्पीरियल एज ऑफ कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
15. मजूमदार तथा पुसलकर: दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
16. मार्क ब्लाश: दि फ्यूडल् सोसायटी, केगन पाल, लंदन, 1961
17. स्टूडेंट्स, मैन्युअल् ऑफ इंगलिश कान्स्टीट्यूशनल् हिस्ट्री, षष्ठ संस्करण, ऑक्सफोर्ड
18. फ्लीट: कार्पस्, जिल्द 3
19. बाणभट्ट: हर्षचरित (अनुवादित) निर्णयसागर प्रेस
20. अग्रवाल, वी. एस.: कादम्बरी, एक सांस्कृतिक अध्ययन
21. अल्तेकर, ए. एस.: राष्ट्रकूट्ज् एण्ड देयर टाइम्स्, पूना, 1931
22. शर्मा, आर. एस.: इंडियन् फ्यूडलिजम्, नई दिल्ली, 1990
23. इलियट् और डाउसन्: हिस्ट्री ऑफ, इण्डिया एज डोल्ड बाइ इट्स् ओन हिस्टॉरियंस्, जि. 1
24. शर्मा, दशरथ: अर्ली चैहान डाइनेस्टीज, नई दिल्ली, 1982

खंड-3 : गुप्तोत्तर काल (उत्तर भारत)

इकाई-3 : सांस्कृतिक विकास

इकाई की संरचना

3.3.1. उद्देश्य

3.3.2. प्रस्तावना

3.3.3. गुप्तोत्तर कालीन साहित्य

3.3.3.1. राजपूत काल में साहित्य के क्षेत्र में प्रगति

3.3.4. गुप्तोत्तर काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

3.3.4.1. गणित एवं विज्ञान दशमलव पद्धति

3.3.4.2. चिकित्सा शास्त्र

3.3.4.3. रसायनशास्त्र

3.3.4.4. शिल्पशास्त्र एवं धातु विज्ञान

3.3.5. गुप्तोत्तर कालीन संस्कृति

3.3.5.1. हर्षवर्धन कालीन संस्कृति

3.3.5.2. राजपूत कालीन संस्कृति

3.3.6. सारांश

3.3.7. अपनी प्रगति की जाँच करें प्रश्नों के उत्तर

3.3.8. बोध प्रश्न

3.3.8.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

3.3.8.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

3.3.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ सूची

3.3.1. उद्देश्य

इस इकाई के लेखन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. गुप्तकाल के पश्चात् कोई अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित न होकर क्षेत्रीय राज्य स्थापित हुए, जिनकी संस्कृतियों से परिचित कराना।
2. गुप्तोत्तर कालीन जाति प्रथा, दास प्रथा एवं बेगार प्रथा की जानकारी देना।
3. गुप्तोत्तर कालीन साहित्यिक प्रगति से अवगत कराना।
4. गुप्तोत्तर कालीन आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति की जानकारी देना॥

3.3.2. प्रस्तावना

गुप्तकाल में साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में जो उन्नति हुई वह उन्नति का क्रम गुप्तोत्तर काल में भी जारी रहा। यद्यपि गुप्तकाल के पश्चात् कोई एक शक्तिशाली सत्ता भारत में स्थापित नहीं हुई फिर भी क्षेत्रीय शक्तियों ने साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो स्थायी आधारशिला गुप्तकाल में रखी गई, वह क्रम भी अनवरत जारी रहा। साहित्य के क्षेत्र में तो अत्यधिक प्रगति हुई। कई क्षेत्रीय राजाओं ने तो स्वयं साहित्यिक कृतियों का सृजन किया। गुप्तोत्तर कालीन सांस्कृतिक विकास में हर्षवर्धन, राजपूत राजाओं एवं चोलों का महत्वपूर्ण योगदान था। ये सभी

किसी-न-किसी धर्म के अनुयायी थे। अशोक एवं कनिष्क की भाँति सम्राट हर्षवर्धन ने भी बौद्ध धर्म के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुप्तोत्तर काल की सामाजिक, धार्मिक स्थिति, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विकास व साहित्यिक प्रगति की सांगोपांग विवेचना इस इकाई में की जाएगी।

3.3.3. गुप्तोत्तर कालीन साहित्य (Literature in post Gupta Period)

सांस्कृतिक दृष्टि से गुप्तोत्तर काल (500-1200 ई.) में क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों का आविर्भाव हुआ। आसाम, बंगाल, गुजरात, राजस्थान, उड़ीसा आदि सभी अपना पृथक् सांस्कृतिक अस्तित्व बना रहे थे। 8वीं शताब्दी के एक जैन ग्रंथ 'कुवलयमाला' में 18 प्रमुख राष्ट्रों तथा 16 प्रकार के लोगों की सांस्कृतिक विशिष्टताओं का वर्णन किया गया है। गुप्तोत्तर काल में बाणभट्ट का हर्षचरित, हर्षवर्धन के नागानंद, प्रियदर्शिका, रत्नावली, वाक्पति का गउड़वहो या गोडवहो, बल्लाल का भोजप्रबंध, राजशेखर की कर्पूरमंजरी एवं काव्यमीमांसा, राजा भोज के सरस्वतीकंठाभरण और शृंगार प्रकाश, आचार्य हेमचंद्र का शब्दानुशासन, भवभूति का मालतीमाधव, महावीरचरितम् और उत्तररामचरितम्, जयानक की पृथ्वीराजविजय महाकाव्य, कल्हण की राजतरंगिणी इत्यादि अनेकानेक साहित्यिक कृतियों का सृजन हुआ।

उपर्युक्त साहित्यिक कृतियाँ भाषा एवं शैली की दृष्टि से उत्कृष्ट थीं। अधिकांश कृतियों का सृजन संस्कृत में ही हुआ। भाषा एवं साहित्य में इस काल में क्षेत्रीयता के चिह्न देखे जा सकते हैं। संस्कृत के प्रयोग में क्लिष्टता एवं कृत्रिमता आती जा रही थी। अपभ्रंश का विकास आद्य हिंदी, आद्य बंगाली, आद्य राजस्थानी, गुजराती एवं आद्य मराठी में हो रहा था। क्षेत्रीय भाषाओंके साथ-साथ क्षेत्रीय लिपियाँ भी विकसित हो रही थीं। मौर्य से गुप्तकाल तक आते-आते ब्राह्मी लिपि ही प्रमुख लिपि थी एवं इसमें समय के साथ-साथ परिवर्तन होते रहे, किंतु इसके बावज़ूद भी यदि कोई गुप्त ब्राह्मी लिपि पढ़ना जानता हो तो वह भारत में तत्युगीन किसी भाग का अभिलेख पढ़ सकता था, लेकिन गुप्तोत्तर काल में यह संभव नहीं रहा क्योंकि कई क्षेत्रीय लिपियों का उदय हो चुका था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में क्षेत्रीयता के उदय ने भाषा एवं साहित्य की प्रगति ही की। विभिन्न भाषाओं एवं शैलियों का आविर्भाव हुआ। इसी काल में सर्वप्रथम कल्हण ने राजतरंगिणी के रूप में एक पूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की। अतः गुप्तकाल एवं उसके पश्चात् का काल साहित्य के सृजन का उत्कृष्ट काल था।

3.3.3.1. राजपूत काल में साहित्य के क्षेत्र में प्रगति (Progress in the Field of Literature in Rajputa Age)

राजपूत काल में साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुई। राजपूत शासकों ने विभिन्न कवियों एवं साहित्यकारों को प्रश्रय दिया। कुछ राजपूत नरेश स्वयं ही उच्चकोटि के विद्वान थे। इनमें परमार वंश के शासक मुंज तथा भोज का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। भोजराज मुंज एक उच्चकोटि का कवि था। उसकी राजसभा में 'नवसाहसांकचरित' के रचयिता पद्मगुप्त एवं दशरूपकम् के रचयिता धनंजय निवास करते थे।

राजाभोज- मालवा के परमार राजा भोज ने साहित्य के क्षेत्र में अमिट योगदान दिया। उसका शासन काल 1000 से 1055 ई. तक था। एक विजेता के साथ-साथ भारतीय इतिहास में राजा भोज की ख्याति उसकी विद्वता एवं कला तथा विद्या के उदार संरक्षक के रूप में अधिक है। उसने खड्क और लेखनी दोनों से

कीर्ति लिखी। रणक्षेत्र में यदि वह एक तलवार का धनी था तो शांति काल में वह कलम का सिपाही था। उदयपुर प्रशस्ति में उसे 'कविराज' कहा गया है। उसकी राजधानी धार नगर कला, साहित्य एवं विद्या का एक प्रमुख केंद्र बन गई थी। स्वयं राजा भोज समस्त शास्त्र, समस्त कला एवं विज्ञान के ज्ञाता थे। कल्हण के अनुसार,''कश्मीर राजा कलश एवं मालवा नरेश भोज दोनों मित्र थे।'' आइन-ए-अकबरी में अबुल फजल ने लिखा है, ''भोज ज्ञान का आदर करता था, विद्वानों का सम्मान करता था एवं ज्ञानपिपासुओं की सहायता कर उन्हें प्रोत्साहन देता था।''

राजा भोज ने स्वयं ही संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। इनमें शृंगार प्रकाश, प्राकृत व्याकरण, कूर्मशतक, शृंगार मंजरी, भोज चंपू, कृत्यकल्पतरु, तत्वप्रकाश, शब्दानुशासन एवं सरस्वती कंठाभरण व राजमृगांक का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। स्वयं विद्वान तो था ही उसने विद्वानों को भी संरक्षण दिया। राजा भोज के दरबार में भास्कर भट्ट, दामोदर मिश्र, धनपाल आदि को प्रश्रय प्राप्त था। पद्मगुप्त, धनिक, धनंजय, हलायुध एवं मेरुतंग आदि सभी विद्वानों ने राजा भोज के प्रभा मण्डल को प्रकाशित किया था।

राजा भोज विद्वानों को उनकी विद्वता से प्रभावित होकर पुरस्कार एवं उपाधियाँ देता था। वह इतना बड़ा दानी था कि उसके नाम से यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि 'राजा भोज हर श्लोक पर एक लाख मुद्राएँ प्रदान करता था।'

राजा भोज ने धार सरस्वती मंदिर में एक प्रसिद्ध संस्कृत विद्यालय की स्थापना कराई। राजपूत काल में साहित्य एवं विद्या के संरक्षक के रूप में राजा भोज की कीर्ति सदैव अमर रहेगी। एक प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार राजा भोज की मृत्यु पर विद्वानजन शोक मग्न हो गए थे। इस श्लोक में लिखा है-

अद्यधारा निराधारा, निरालंबा सरस्वती।
पण्डिता: मण्डिता: सर्वे भोजराजे दिवंगते।

अर्थात् राजा भोज की मृत्यु पर धार नगरी की धारा समाप्त हो गई, सरस्वती अर्थात् विद्या निराश्रित हो गई, समस्त विद्वान शोक मग्न हो गए।

अन्य साहित्य

राजा भोज की भाँति तो नहीं, परंतु उसके कुछ कम सही, कुछ अन्य राजपूत शासकों ने भी साहित्य सृजन एवं साहित्य के उन्नयन में पर्याप्त योगदान दिया। कुछ प्रमुख राजा एवं उनके द्वारा रचित ग्रंथ निम्नवत् है।

शासक	रचना
विग्रहपाल बीसलदेव चौहान	हरिकेलि नाटक
बल्लाल सेन	दानसागर एवं अदभुत्सागर
अमोघ वर्ष (राष्ट्रकूट)	कविराजमार्ग, प्रश्नोत्तरमालिका
सोमेश्वर तृतीय (चालुक्य)	मानसोल्लास

इन राजाओं के अलावा भी राजपूत काल में कई प्रमुख विद्वानों ने इतिहास प्रसिद्ध साहित्य का सृजन किया।

	विद्वान	कृति
काव्य -	कविराज	राघव पाण्डीय
	श्रीहर्ष	नैषधीयचरित्

	जयदेव	गीत गोविंद
	संध्याकर नंदी	रामपालचरित
	बिल्हण	विक्रमांकदेवचरित
	पद्मगुप्त	नवसाहसांकचरित
	सोमदेव	कीर्ति कौमुदी, कथासरित्सागर एवं नीति वाक्यामृत, ललित विग्रहराज
	जयानक	पृथ्वीराजविजय महाकाव्यम्
	चंदरवरदायी	पृथ्वीराज रासो
	राजशेखर	कर्पूरमन्जरी, बाल रामायण, प्रबंध कोष, काव्य मीमांसा विद्धशालभंजिका
	क्षेमेंद्र	बृहत्कथामंजरी
	कल्हण	राजतरंगिणी
	बल्लाल	भोज प्रबंध
	जयसिंह	कुमारपाल चरित
नाटक-	भवभूति	मालती माधव, महावीरचरितम्, उत्तररामचरितम्
विज्ञान-	भास्कराचार्य	सिद्धांत शिरोमणि, लीलावती, बीजगणिताध्याय
	आर्यभट्ट द्वितीय	महासिद्धांत
	महावीराचार्य	गणितसारसंग्रह
कानून-	मेधातिथि	मनुभाष्य (मनुस्मृति पर टीका)
	विज्ञानेश्वर	मिताक्षरा (याज्ञवलक्य स्मृति पर टीका)
चिकित्सा-	वाग्भट्ट	अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदयम्
	चक्रपाणिदत्त	चिकित्सासार संग्रह
संगीत-	शारंगदेव	संगीतरत्नाकार
	हेमचंद्र	हेम व्याकरण

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजपूत काल में संस्कृत, काव्य, नाटक, ज्ञान, विज्ञान, ज्योतिष, कानून, चिकित्सा एवं संगीत आदि सभी क्षेत्रों में अत्यधिक साहित्य का सृजन हुआ।

राजाभोज कालीन साहित्यकार एवं उनके ग्रंथ

धनिक	दशरूपावलोक
धनंजय	दशरूपकम्
धनपाल	तिलकमंजरी
हलायुध	अभिधानरत्नमाला, ब्राह्मण सर्वस्व
मेरुतुंग	प्रबंधचिंतामणि, थेरावली

अपनी प्रगति की जाँच करें-

प्रश्न क्र. 1. गुप्तोत्तर कालीन कोई पाँच साहित्यिक कृतियाँ बताइए।

प्रश्न क्र. 2. पृथ्वीराज विजय महाकाव्य किसकी कृति है?

प्रश्न क्र. 3. परमार राजा भोज की कृतियों के नाम बताइए।

प्रश्न क्र. 4. चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय ने किस कृति की रचना की?

3.3.4. गुप्तोत्तर काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी काफी उन्नति हुई। गुप्त काल विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास का ही युग था। ईपू. तीसरी सदी में गणित, खगोल विद्या एवं आयुर्विज्ञान तीनों का विकास आरंभ हो गया था। गणित के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों की समस्त विश्व को तीन प्रमुख देन हैं-

(1) अंकन पद्धति, (2) दशमलव पद्धति एवं (3) शून्य का प्रयोग

3.3.4.1. गणित एवं विज्ञान-दशमलव पद्धति (Decimal System)

इसके प्रयोग का सबसे प्राचीन उदाहरण ईसा की पाँचवीं सदी के आरंभ का है। गुप्तकाल के प्रख्यात गणितशास्त्री आर्यभट्ट (476-550 ई.) इससे परिचित थे। वराहमिहिर ने भी अपने ग्रंथों में दशमलव पद्धति का उल्लेख किया है। चीनियों ने दशमलव पद्धति बौद्ध धर्म प्रचारकों से सीखी और पश्चिमी जगत ने अरबों से सीखी जब वे भारत के संपर्क में आए। ज्योतिष और गणित क्षेत्र में आर्यभट्ट गुप्त युग में प्रख्यात थे। वह पटना के रहने वाले थे और 476 ई. के लगभग उनका जन्म हुआ था। आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम बताया कि पृथ्वी गोल है एवं सूर्य नहीं अपितु पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। उन्होंने यह भी बताया कि ग्रहणों का कारण चंद्र और सूर्य को राहु अथवा केतु द्वारा ग्रसना नहीं अपितु पृथ्वी और चंद्रमा की बदलती हुई स्थितियाँ हैं।

आर्यभट्ट ने बीजगणित **(Algebra),** ज्यामिति **(Geometry)** और त्रिकोणमिति **(Trigonometry)** में विभिन्न नवीन खोज की। इस प्रकार उन्होंने नक्षत्र विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि सभी क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान दिया। उन्होंने 'आर्यभट्टीयम्' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसका पुनः प्रकाशन बिहार रिसर्च सोसाइटी ने किया है। क्षेत्रमिति, ज्यामिति एवं त्रिकोणमिति का वास्तविक जन्मदाता आर्यभट्ट को ही माना जाता है। भौतिक विज्ञान के विकास में आर्यभट्ट के विभिन्न आविष्कार अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए।

भारतीय अंकन पद्धति को अरबों ने अपनाया और वहीं से यह पश्चिमी देशों में प्रचलित हुई। अंग्रेजी में भारतीय अंकमात्रा को अरबी अंक (अरेबिक न्यूमरल्स) कहते हैं, किंतु अरब लोग इसे भारत से अपनाए जाने के परिणास्वरूप हिंदुसा कहते हैं। पश्चिम में अंकमाला का प्रचार होने के बहुत समय पहले ही भारत में इसका प्रयोग हो चुका था। यहाँ तक कि अशोक के अभिलेखों में भी इसका प्रयोग किया गया था।

शून्य का आविष्कार भारतीयों ने ई.पू. दूसरी सदी में किया। अरब देशों ने शून्य का प्रयोग सर्वप्रथम 873 ई. में किया। संभवतः अरबों ने इसे भारत से ही सीखा था और तत्पश्चात् यूरोप में फैलाया। आर्यभट्ट (476-550 ई.) द्वारा किए गए गणित के अन्य आविष्कार भी अरब एवं यूरोप में भारत से ही पहुँचे।

खगोल शास्त्र में आर्यभट्ट और वराहमिहिर दो महान विद्वान हुए। आर्यभट्ट पाँचवीं सदी में एवं वराहमिहिर छठी सदी में। वराहमिहिर की सुविख्यात कृति 'बृहतसंहिता' छठी सदी की है। आर्यभट्ट के कार्य को निःशंकु, पांडुरंग, लाटदेव ने ज्योतिष के क्षेत्र में आगे बढ़ाया और वराहमिहिर ने उसे श्रेष्ठतम

बना दिया। वराहमिहिर अपने युग के महान ज्योतिषी हुए। वराहमिहिर ने बताया कि चंद्रमा पृथ्वी का चक्कर लगाता है और पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है। उन्होंने ग्रहों के संचार और अन्य खगोलीय समस्याओं के अध्ययन में यूनानियों की अनेक कृतियों का सहारा लिया। यद्यपि भारतीय खगोलशास्त्रियों ने यूनानियों के ज्ञान से लाभ उठाया तथापि उन्होंने इस ज्ञान को आगे बढ़ाया। इसी खगोलीय ज्ञान की सहायता से भारतीयों ने ग्रहों की गति का तथ्यपरक अवलोकन किया। वराहमिहिर के अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ 'बृहज्जातकम्', 'लघुजातक', 'पंचसिद्धांतिका' हैं। 'पंचसिद्धांतिका' नामक ग्रंथ में गुप्तोत्तर काल में प्रचलित ज्योतिष के सिद्धांतों का विवरण मिलता है। वराहमिहिर मगध का रहने वाला था तथा जीविका हेतु उज्जैन आ गया था। वराहमिहिर ने तीन शाखाओं पर ग्रंथों की रचना की (तंत्र, जातक एवं संहिता), बृहतसंहिता के 14वें अध्याय में भारतीय भूगोल का दिग्दर्शन मिलता है।

इस युग का एक अन्य प्रमुख विद्वान ब्रह्मगुप्त था। वे ज्योतिषी भी थे और गणितज्ञ भी। उनके दो ग्रंथ क्रमशः 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' एवं 'खंड खाद्यक' हैं। अरबों को भारतीय ज्योतिष का ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त के इन्हीं दो ग्रंथों से हुआ। ब्रह्मगुप्त का जन्म 598 ई. में उस समय हुआ, जब गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया था। उन्होंने 628 ई. में अपने ग्रंथों की रचना की। ब्रह्मगुप्त के पिता का नाम जिष्णुगुप्त था एवं यह भीनमाल (उत्तर गुजरात) के निवासी थे। इसीलिए उन्हें 'भिल्ल मालआचार्य' भी कहा जाता है। ब्रह्मगुप्त ने ग्रहण को चंद्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल बताया। वे पहले गणितज्ञ थे जिन्होंने बीजगणित को आगे बढ़ाया और ज्योतिष की गणनाओं में उसका उपयोग किया। उन्होंने बताया- ''जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश तारों की रोशनी को फीका बना देता है, उसी प्रकार कुट्टक अर्थात् बीजगणित जानने वाला और उसका प्रयोग करने वाला गणितज्ञ दूसरे ज्योतिषियों को पछाड़ देता है।'' बाद के महान गणितज्ञ एवं ज्योतिषी भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्त की प्रशंसा करते हुए उन्हें 'गणक चक्र-चूड़ामणि' की उपाधि दी।

बारहवीं शताब्दी के महान गणितज्ञ एवं ज्योतिषी भास्कराचार्य का जन्म 1114 ई. में हुआ। उन्होंने 1150 ई. में महान ग्रंथ 'सिद्धांत शिरोमणि' की रचना की, यह चार पुस्तकों में बँटा है- (1) पाटी गणित या लीलावती, (2) बीजगणित, (3) गोलाध्याय एवं (4) ग्रह गणित। प्रथम पुस्तक का विषय अंकगणित एवं तृतीय चतुर्थ का ज्योतिष है। भास्कराचार्य ने अपने जीवन के अंतिम समय में 'करण-कुतूहल' नामक पुस्तक लिखी, इसमें पंचांग बनाने की विधि लिखी है। इनकी रचना लीलावती (अंकगणित) इतना प्रसिद्ध हुआ कि 1587 ई. में अकबर की आज्ञा से फैजी ने इसका फारसी में अनुवाद किया। जे. टेलर महोदय ने 1816 ई. में इसका अंग्रेजी में अुनवाद किया। भास्कराचार्य प्राचीन भारत के अंतिम महान वैज्ञानिक थे।

3.3.4.2. चिकित्सा शास्त्र (Medical Science)

चिकित्सा के क्षेत्र में भी गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में अत्यधिक प्रगति हुई। अति प्राचीन भारत में आयुर्वेद पर चरक एवं सुश्रुत के ग्रंथ'चरक संहिता' एवं 'सुश्रुत संहिता प्रसिद्ध हैं। बिंबिसार के काल में जीवक वैद्य का उल्लेख मिलता है। इसी कड़ी में चंद्रगुप्त द्वितीय के काल में महान वैद्य धन्वंतरि हुए। गुप्तोत्तर काल में भी महान वैद्य एवं आयुर्वेदाचार्य हुए जिन्होंने चिकित्साशास्त्र पर कई ग्रंथ लिखे। इस कड़ी में वाग्भट के चिकित्साशास्त्र एवं ग्रंथों के बारे में कहा गया है-

अष्टांगसंग्रहे ज्ञाते वृथा प्राक्तन्त्रयोः श्रमः।
अष्टांगसंग्रहेऽज्ञाते वृथा प्राकतन्त्रयोः श्रमः ।।

अर्थात् ''वाग्भट के अष्टांग संग्रह का अच्छा ज्ञान हो तो पुराने ग्रंथ पढ़ना व्यर्थ हैं और अष्टांग संग्रह का ज्ञान न हो तो फिर पुराने ग्रंथ पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं।''

अष्टांग संग्रह में रोगों का कारण, भोजन की विधि एवं रोगों के उपचार की अच्छी जानकारी दी गई है। गुप्तोत्तर काल में ही कालकल्प नामक पशु चिकित्सक ने 'हस्त्यायुर्वेद' नामक पशुओं की चिकित्सा संबंधी पुस्तक लिखी।

3.3.4.3. रसायनशास्त्र (Chemistry)

रसायनशास्त्र का एक महान विद्वान नागार्जुन भी इसी युग की देन है। इस युग में पारे का आविष्कार हुआ। नागार्जुन ने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसरत्नागर' लिखा। बाद के रसायनज्ञों ने नागार्जुन को सदैव एक महान रसायनज्ञ के रूप में याद किया। ये संभवतः 9वीं या 10वीं शताब्दी में हुए थे क्योंकि अलबरूनी ने (भारत यात्रा 1017-30 ई.) में लिखा है कि महान रसायनज्ञ नागार्जुन उनसे 100 साल पहले हुए हैं और वे सोमनाथ के निकट दैहक स्थान के निवासी थे।

3.3.4.4. शिल्पशास्त्र एवं धातु विज्ञान (Metallurgy)

इसके अलावा धातु विज्ञान एवं शिल्पशास्त्र की भी पर्याप्त उन्नति हुई। 'मानसार' शिल्पशास्त्र का एक उपयोगी ग्रंथ है। इसमें नक्षत्र तथा वास्तुकला का विवरण मिलता है। चंद्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली लौह स्तंभ गुप्तकालीन धातु विज्ञान **(Metallurgy)** की उन्नति को दर्शाता है। यह लगभग डेढ़ हजार वर्षों से भी अधिक समय से सर्दी, गर्मी एवं बारिश को झेलते हुए ज्यों का त्यों खड़ा है। इस स्तंभ की चिकनाहट एवं इस पर जंग न लगना धातु वैज्ञानिकों के लिए आश्चर्य का विषय है।

अपनी प्रगति की जाँच करें -

प्रश्न क्र. 5. गणित के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों की विश्व को प्रमुख देन क्या है?

प्रश्न क्र. 6. आर्यभट्ट किसका जन्मदाता माना जाता है?

प्रश्न क्र. 7. वराहमिहिर के ग्रंथों का नाम बताइए।

प्रश्न क्र. 8. प्रख्यात चिकित्सा ग्रंथ अस्टांगहृदयम्किसने लिखा?

3.3.5. गुप्तोत्तर कालीन संस्कृति

गुप्तोत्तर काल में हर्षवर्धन, चोल शासकों एवं राजपूतकालीन संस्कृति महत्वपूर्ण थीं।

3.3.5.1. हर्षवर्धन कालीन संस्कृति (Culture of Harshvardhan's Age)

हर्षवर्धन यद्यपि निरंतर युद्धों में रत रहा परंतु इसके पश्चात् भी उसके शासनकाल की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ चिरस्मरणीय हैं-

3.3.5.1.1. धार्मिक स्थिति

हर्ष प्रारंभ में शैव मतावलंबी था, बाद में बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र से प्रभावित हुआ एवं प्रारंभ में हीनयान शाखा का अनुयायी हुआ। बाद में हुआन सांग के प्रभाव में आकर महायान संप्रदाय को राजाश्रय प्रदान किया। अब वह पूर्ण रूप से बौद्ध बन गया। अन्य धर्मों से महायान धर्म को उत्कृष्ट साबित करने के लिए कन्नौज में एक महासभा का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता हुआन सांग ने की। प्रयाग के संगम

क्षेत्र में हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष एक सभा का आयोजन करता था, जिसे महामोक्ष परिषद् कहा गया है। इसमें हर्ष बारी-बारी से बुद्ध, सूर्य व शिव की पूजा करता था। दीन-दुखियों एवं अनाथों को अत्यधिक दान देता था। बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन एवं ब्राह्मण धर्म भी प्रचलित थे। हर्ष बौद्ध होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था।

3.3.5.1.2. सामाजिक जीवन

समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था, परंपरागत चार जातियों के अलावा कई जातियाँ एवं उपजातियाँ हो गई थीं। ब्राह्मणों को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। हुआन सांग कसाई, चंडाल आदि अछूतों के बारे में बताता है कि वे नगर से बाहर निवास करते थे। अंतर्जातीय विवाह प्रचलित थे। पुनर्विवाह नहीं होते थे। सती प्रथा प्रचलित थी, स्वयं हर्ष की माँ यशोमती सती हो गई थी। बाल-विवाह प्रचलित थे। सामान्यतः लोगों का जीवन सुखी-संपन्न था।

3.3.5.1.3. आर्थिक स्थिति

कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय था। अधिकांश भूमि सामंतों के हाथ में थी। ब्राह्मणों को दान में दी गई 'भूमि' ब्रह्मदेय' कहलाती थी। मधुबन, बांसखेड़ा अभिलेखों से हर्ष द्वारा ग्राम दान में दिए जाने का विवरण मिलता है। कृषि हेतु सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। हर्षचरित में सिंचाई के साधन के रूप में 'तुलायंत्र (जल पंप) का उल्लेख मिलता है।

कृषि के अतिरिक्त व्यापार एवं उद्योग-धंधे भी विकसित थे। व्यवसायियों की पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ थीं। प्रमुख स्थानों पर बाजार लगता था। मथुरा सूती वस्त्र निर्माण का केंद्र था। उज्जैन व कन्नौज भी प्रसिद्ध व्यापारिक नगर थे। जल एवं स्थल मार्ग से आंतरिक एवं बाह्य व्यापार उन्नति पर था। पश्चिमी भारत में भड़ौंच प्रसिद्ध बंदरगाह था। चीन, पूर्वी द्वीप समूह एवं मध्य एशिया से घनिष्ठ व्यापारिक संबंध थे।

3.3.5.1.4. शिक्षा और साहित्य

हर्ष स्वयं एक कवि, लेखक एवं उच्चकोटि का विद्वान था। उसने संस्कृत में तीन नाटक-नागानंद, रत्नावली, प्रियदर्शिका लिखे थे, उसने शिक्षा तथा साहित्य की उन्नति को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। हर्ष के समय बाणभट्ट ने हर्षचरित व कादंबरी की रचना की। मयूर ने 'सूर्य-शतक' नामक सौ श्लोकों का संग्रह लिखा। मातंग दिवाकर भी हर्षकालीन था। ये तीनों (बाणभट्ट, मयूर, मातंग दिवाकर) उसके दरबार की शोभा थे।

नालंदा महाविहार महायान बौद्ध धर्म की शिक्षा का प्रमुख केंद्र था। इस महाविहार की स्थापना कुमार-गुप्त (415-445 ई.) के समय हुई थी। आचार्य शीलभद्र नालंदा विश्वविद्यालय के कुलपति थे। हर्ष ने 100 ग्रामों की आय नालंदा महाविहार को खर्च चलाने को दी थी। हर्ष ने यहाँ 100 फीट ऊँचा पीतल का एक विहार भी बनवाया था। इस प्रकार हर्षवर्धन के काल में शिक्षा एवं साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। हर्षवर्धन ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिए एवं देश के सांस्कृतिकस्तर को ऊपर उठाने हेतु हर संभव प्रयास किया।

3.3.5.2. राजपूत कालीन संस्कृति

गुप्तकाल के पश्चात् राजपूत काल में भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र में कई परिवर्तन हुए। इन सभी का अध्ययन हम राजपूत कालीन संस्कृति के अंतर्गत करेंगे।

3.3.5.2.1. शासन व्यवस्था (Administration System)

राजपूत काल में सामंतवाद का विकास स्पष्ट दिखाई देने लगा था। संपूर्ण राजपूत राज्य छोटी-छोटी जागीरों में विभक्त थे। जागीर का प्रशासन सामंत देखता था। सामंत प्रायः राजा के कुल से ही संबंधित रहता था। सामंत प्रायः महाराज, महासामंत, महासामंताधिपति, मंडलेश्वर, महामंडलेश्वर एवं मांडलिक आदि उपाधियाँ धारण करते थे। ये कई ग्रामों के स्वामी होते थे। कलचुरी शासक कर्ण के शासन में 136 सामंतों के अस्तित्व का पता चलता है। सामंतों के पास अपने न्यायालय एवं मंत्रीपरिषद होती थी। इस प्रकार राजपूत राजा अपनी प्रजा पर शासन न कर सामंतों पर शासन करते थे। समय-समय पर ये सामंत राजदरबार में उपस्थित होकर राजा को भेंट एवं उपहार प्रदान करते थे। किसी भी राजपूत राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर सामंतों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी। युद्ध के समय राजा को विभिन्न सामंत अपने अधीन सैन्य सहायता उपलब्ध कराते थे। सामंतों में स्वामीभक्ति की भावना प्रबलता से विद्यमान रहती थी।

राजपूत काल में राजा प्रायः निरंकुश रहते थे। मंत्रीपरिषद का महत्व घट गया था। 'प्रबंध चिंतामणि' ग्रंथ से पता चलता है कि परमार नरेश मुंज ने अपनेप्रधानमंत्री रुद्रादित्य की सलाह के विपरीत चालुक्य नरेश तैलप से युद्ध किया। राजा अपने मंत्रियों को दंडित भी करते थे। मेरुतुंग कृत प्रबंध चिंतामणि एवं दण्डी कृत दशकुमारचरित से पता चलता है कि राजा अपने मंत्रियों के नाक्कान काट लेते थे अथवा उन्हें अंधा बना देते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजपूत काल में राजा एवं मंत्रिपरिषद के बीच संबंधों में सामंजस्य का अभाव था।

3.3.5.2.2. आर्थिक जीवन (Economic Life)

कृषि कार्य राजपूत कालीन प्रजा की जीविका का प्रमुख आधार था। इस समय कई प्रकार के अन्नों का उत्पादन आरंभ हो चुका था। अरब लेखकों ने राजपूत कालीन उत्पादन का वर्णन किया है। चूँकि इस समय सामंतवादी व्यवस्था थी, इस कारण किसान का अतिरिक्त उत्पादन सामंत कर के रूप में प्राप्त कर लेते थे। इस काल में भाग, भोग, बलि, धान्य, हिरण्य, उद्रग्ङ, उपरिकर आदि करों का उल्लेख मिलता है।

भाग - कृषकों से उपज के अंश के रूप में लिया जाता था।
भोग - समय-समय पर प्रजा से राजा के उपभोग के लिए लिया जाता था।
बलि - राजा को उपहार स्वरूप प्राप्त होता था।
धान्य - कुछ विशेष प्रकार के अनाजों पर लगाया जाने वाला कर था।
हिरण्य- यह नकद वसूल किया जाता था।
उपरिकर- भूमि पर अस्थायी रूप से रहने वाले किसानों से लिया जाता था।
उद्रग्ङ- भूमि पर स्थायी रूप से रहने वालों से लिया जाता था।
उदक भाग - सिंचाई के लिए प्राप्त पानी के भाग पर लगने वाला कर था।

सिंचाई के लिए राजपूत राजाओं ने पर्याप्त व्यवस्था कराई थी। सिंचाई कृषि कार्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, राजपूत राजाओं ने कई कुएँ, तालाब, झीलें एवं नहरों आदि का निर्माण कराया। चौहान नरेश अर्णोराज ने 'आणासागर' झील एवं बीसलदेव ने 'बीसलसर' झील का निर्माण कराया। बुंदेलखंड के चंदेल एवं मालवा के परमारों ने भी सिंचाई व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। चंदेल शासकों ने महोबा में कई झीलों का निर्माण कराया। परमारों ने घाट में कई झीलों का निर्माण कराया। परमार शासक राजा भोज ने भोपाल के दक्षिण पूर्व में 250 वर्ग मील लंबा 'भोजसर' तालाब निर्मित कराया।

कृषि के अलावा व्यापार एवं व्यवसाय के क्षेत्र में भी राजपूत काल में प्रगति के चिह्न दिखाई देते हैं। यातायात की सुविधा आंतरिक व्यापार की आवश्यक शर्त है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न नगरों को सड़कों द्वारा जोड़ दिया गया। चूँकि बड़े-बड़े किलों के निर्माण में पाषाण का प्रयोग किया गया, अतः इस काल में पत्थर तराशने का उद्योग एक महत्वपूर्ण उद्योग बन चुका था। राजपूत काल में युद्धों की अधिकता के कारण अस्त्र-शस्त्र निर्माण उद्योग भी प्रगति पर था। पूर्व मध्यकाल में भारत आने वाला विदेशी यात्री अलबरूनी इस काल में जूते बनाने, टोकरी बनाने, ढाल बनाने, मत्स्य पालन, कताई-बुनाई आदि प्रमुख उद्योगों का वर्णन करता है। राजस्थान में नमक उद्योग प्रमुख था। यहाँ की सांभरझील से नमक तैयार किया जाता था।

व्यापारियों की पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ होती थीं। श्रेणी प्रमुख को श्रेष्ठी कहा जाता था। इनके सदस्य व्यापार संबंधी मसलों पर विचास्विमर्श करते थे। उनके बनाए गए व्यापार संबंधी नियमों का राज्य आदर करता था। परंतु सामंतवादी व्यवस्था के कारण पूर्व की तुलना में श्रेणियों की स्थिति अच्छी नहीं थी।

आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार का व्यापार उच्चतम शिखर पर था। स्थल मार्ग के अलावा जलमार्ग से भी व्यापार होता था। बाह्य व्यापार समुद्र द्वारा एवं आंतरिक व्यापार नदियों व सड़कों द्वारा होता था। बड़े-बड़े मालवाहक जहाज व्यापार के सिलसिले में अरब, फारस, मिस्र एवं पूर्वी द्वीप समूह जाते थे। विदेशी व्यापारी भी भारत आते थे।

ब्याज की दर 25 से 30 प्रतिशत तक होने के कारण सूदखोरों को फायदा हुआ। चोर-डाकू व्यापारियों को लूटते थे, मार्गों की सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया था। इस समय कई मंदिर बनवाए गए एवं अधिकांश संपत्ति मंदिरों मेंही जमा होती थी। यही कारण है कि विदेशी मुस्लिम आक्रांताओं ने मंदिरों को अपना निशाना बनाया और यहाँ एकत्रित संपत्ति को लूट कर ले गए।

3.3.5.2.3. धार्मिक जीवन (Religious Life)

राजपूत काल में ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध धर्म प्रचलन में थे। बौद्ध धर्म में वज्रयान शाखा का प्रभाव बढ़ रहा था। बौद्ध विहार पतन की ओर अग्रसर थे। बौद्ध धर्म की तुलना में ब्राह्मण धर्म एवं जैन धर्म अधिक लोकप्रिय थे। इस युग में अवतारवाद के सिद्धांत का विकास हुआ। क्षेमेंद्र की कृति 'दशावतार चरित' (1060 ई.) एवं जयदेव के 'गीत गोविंद' (1180 ई.) में अवतारों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अभिलेखों में भी अवतारों का उल्लेख मिलता है। इस काल में विष्णु, शिव, दुर्गा एवं सूर्य आदि देवी-देवताओं की उपासना होती थी। हिंदुओं में ब्राह्मण धर्म के अंतर्गत यज्ञों का पुनरुत्थान हुआ एवं उनको बढ़ावा मिला। इस युग में भक्ति मार्ग और पौराणिक मार्ग का उदय हुआ। कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्ड पर विशेष जोर दिया। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार किया। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया और भक्ति का मार्ग अपनाया। आधुनिक हिंदू धर्म ने राजपूत काल तक

आते-आते अपना स्वरूप ग्रहण कर लिया था। छोटे-छोटे स्थानीय देवी-देवता अस्तित्व में आ गए थे। विष्णु को वासुदेव, चक्रधर, गोविंद, नारायण, गदाधर, जनार्दन एवं माधव कहा जाने लगा एवं भगवान शिव को शंभु, हर-हर महादेव, पशुपति, शूलपाणि, महेश्वर आदि कहा जाने लगा।

हिंदू धर्म की उन्नति के साथ ही राजपूताना में जैन धर्म भी उन्नतिशील था। राजपूताना क्षेत्र के गुर्जर-प्रतिहार वंश के शासकों ने जैन धर्म की उन्नति में योगदान दिया। प्रतिहार नरेश भोज के समय एक जैन मंदिर का निर्माण कराया गया। उसी समय आबू पर्वत पर भी एक जैन मंदिर का निर्माण हुआ। बुंदेलखंड के चंदेल शासकों के समय में खजुराहो में जैन तीर्थंकरों के 5 मंदिरों का निर्माण कराया गया। गुजरात के चालुक्य (सोलंकी) शासकों ने तो जैन धर्म को राजधर्म बनाया। चालुक्य वंश के शासक कुमारपाल के समय जैन धर्म ने अत्यधिक उन्नति की। प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचंद्र को राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया था। हेमचंद्र के कारण ही कच्छ, काठियावाड़, गुजरात एवं राजस्थान में जैन धर्म का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ। गंग राजाओं ने भी जैन धर्म को संरक्षण दिया। सेनापति चामुंडराय ने 983 ई. में श्रवण बेलगोला में गोमतेश्वर की मूर्ति स्थापित की।

बौद्ध धर्म अवश्य इस काल में पतन की ओर अग्रसर था। महायान संप्रदाय की प्रधानता थी, परंतु उसका तांत्रिक स्वरूप विकसित हो रहा था। बौद्ध-मठ एवं विहारों में अधिक संपत्ति एकत्रित हो रही थी। ये मठ व विहार विलासिता एवं भ्रष्टाचार के केंद्र बन गए थे। बौद्ध धर्म में वज्रयान संप्रदाय का विकास इसी युग में हुआ। इस संप्रदाय में मैथुन एवं हठयोग को प्रधानता दी गई। बौद्ध धर्म में तारा को प्रधानता मिली। इतिहासविद ए.एस. अल्तेकर महोदय के अनुसार इस समय तक आते-आते बौद्ध धर्म अपना प्रभाव पूर्णतः खो चुका था एवं पतन के अंतिम सोपान पर पहुँच चुका था। प्रख्यात दार्शनिकों कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म में व्याप्त बुराइयों पर कठोर प्रहार कर इसको अलोकप्रिय बना दिया।

चंदेल शासक यशोवर्मन ने खजुराहों में बैकुंठ मंदिर का निर्माण कराया। परमार्दिदेव के मंत्री ने भी एक विष्णु मंदिर का निर्माण कराया। मदनवर्मन के मंत्री गदाधर ने देदू नामक स्थान पर एक विष्णु मंदिर का निर्माण कराया। खजुराहों के वराह तथा वामन मंदिरों का निर्माण भी 10वीं-11वीं शताब्दी में हुआ।

चंदेल शासक धंगदेव ने प्रथमदेव नामक शिव मंदिर का निर्माण कराया।गहपति वंशीय कोक्कल ने वैद्यनाथ मंदिर का निर्माण कराया। खजुराहो के कांदरीय महादेव, विश्वनाथ मृत्युंजय महादेव एवं नीलकंठ महादेव मंदिर का निर्माण भी इसी काल में हुआ।

प्रारंभिक चंदेल शासक विष्णु तथा शिव दोनों की आराधना करते थे। परवर्ती चंदेल नरेश शैव धर्म के उपासक थे। त्रैलोक्यवर्मन ने वामदेव की उपाधि धारण की थी।

अपनी प्रगति की जाँच करें–

प्रश्न क्र. 9. चौहान नरेश अर्णोराज द्वारा सिंचाई हेतु क्या किया गया?

प्रश्न क्र. 10. अलबरूनी ने राजपूतकालीन किन उद्योगों का वर्णन किया है?

प्रश्न क्र. 11. अवतारों का वर्णन किन राजपूतकालीन कृतियों में किया गया है?

प्रश्न क्र. 12. हर्षवर्धन द्वारा ग्राम दान दिए जाने का उल्लेख कहाँ मिलता है?

3.3.6. सारांश

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का सांस्कृतिक प्रगति के कारण स्वर्णयुग कहा जाता है। गुप्तकाल में पल्लविति सांस्कृतिक प्रगति का दौर गुप्तोत्तर काल में भी अनवरत जारी रहा। गुप्तोत्तर काल में वर्धन वंश

का शासक हर्षवर्धन था। हर्षवर्धन एक रचनात्मक प्रतिभा का धनी शासक था। उसने अपने दरबार में न केवल विद्वानों को प्रश्रय दिया, अपितु बौद्ध धर्म के प्रसार में भी अहम भूमिका निभाई। प्रख्यात चीनी यात्री हुआन सांग जिसे कि यात्रियों का राजकुमार भी कहा जाता है, हर्षवर्धन के काल में भारत आया। हुआन सांग के विवरणों से हमें हर्षवर्धन कालीन सांस्कृतिक विकास की जानकारी मिलती है। हर्षवर्धन के पश्चात् उत्तर भारत में कई राजपूत राज्यों का उदय हुआ। इन राजपूत शासकों ने भी अपने दरबार में न केवल साहित्यकारों को प्रश्रय दिया, अपितु साहित्य सृजन में विशेष रुचि ली। गुप्तोत्तर काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। उत्तर भारत की भाँति दक्षिण भारत में भी सांस्कृतिक विकास गतिमान रहा। दक्षिण भारत के सर्वप्रमुख राजवंश चोलवंश के शासकों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की। चोल शासकों ने शैव धर्म को प्रोत्साहन दिया।

3.3.7. अपनी प्रगति की जाँच करें प्रश्नों के उत्तर

01. वाणभट्ट का हर्षचरित, वल्लाल का भोजप्रबंध, राजशेखर की कर्पुर मंजरी, भोज का सरस्वती कंठाभरण, कल्हण की राजतंरिगिणी।
02. जयानक।
03. शृंगार प्रकाश, शृंगार मंजरी, कृत्य कल्पतरु, शब्दानुशासन एवं सरस्वती कंठाभरण आदि।
04. मानसोल्लास।
05. (i) अंकन पद्धति (ii) दशमलव पद्धति (iii) शून्य का प्रयोग
06. क्षेत्रमिति, ज्यामिति एवं त्रिकोणमिति का जन्मदाता आर्यभट्ट को माना जाता है।
07. ब्रह्मज्जातक, लघुजातक एवं पंचसिधांतिका।
08. वाग्भट्ट ने।
09. अर्णोराज ने 'आणासागर' का निर्माण कराया।
10. अलबरुनी ने जूते बनाने, टोकरी बनाने, ढाल बनाने, मत्स्यपालन, कताई एवं बुनाई उद्योगों का वर्णन किया है।
11. दण्डी की कृति दशकुमार चरित (1060 ई.) एवं जयदेव के गीतगोविंद (1180 ई.) में अवतारों का वर्णन किया गया है।
12. मधुवन एवं बांसखेड़ा अभिलेख में हर्षवर्धन द्वारा ग्रामों को दान में दिए जाने का उल्लेख मिलता है।

3.3.8. बोध प्रश्न

3.3.8.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर काल में जाति प्रथा पर प्रकाश डालिए?
2. कायस्थ जाति के उदय पर टिप्पणी लिखिए?
3. गुप्तोत्तर काल में दास प्रथा का उल्लेख कीजिए?
4. गुप्तोत्तर काल में चिकित्सा के क्षेत्र में प्रगति का विवरण दीजिए?
5. हर्षवर्धन कालीन समाज पर प्रकाश डालिए?

3.3.8.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर कालीन सांस्कृतिक विकास की विवेचना कीजिए?

2. राजपूत काल में साहित्य के क्षेत्र में प्रगति का वर्णन कीजिए?
3. गुप्तोत्तर कालीन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास का वर्णन कीजिए?
4. हर्षवर्धन कालीन संस्कृति का वर्णन कीजिए?
5. राजपूत कालीन आर्थिक व सामाजिक जीवन की व्याख्या कीजिए?

3.3.9. संदर्भ ग्रंथ

01. Agrawal V.S., Harshacharita, Patna, 1953.
02. Beal S., Life of Hiuen Taing by the Shaman Hwuili, London, 1911.
03. Chakradar H.C., Social Life in Ancient India, Culcutta, 1929.
04. Sharma, Dashratha, Lectures on Rajput History and Culture.
05. Sastri K.A.N., The Cholas.
06. Sastri K.A.N., Studies in the Chola History and Administration.
07. Venkateswara S.V., Indian Culture Through the Ages, 2 Vol., London, 1928.
08. Winternitz M., History of Indian Literature Vol. I and II, Calcutta 1933.
09. पाण्डेय विमल चन्द्र, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1997
10. मजूमदार आर.सी., हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ द इण्डियन पीपुल्स, भाग-4,5 बम्बई, 1974
11. पाण्डेय श्रीनेत्र, प्राचीन भारत का इतिहास, इलाहाबाद, 1979
12. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास, इलाहाबाद, 2000
13. मित्तल, ए. के., प्राचीन भारत का इतिहास, आगरा, 1987

खंड-3 : गुप्तोत्तर काल (उत्तर भारत)

इकाई-4 : राजपूतों का उत्पत्ति एवं उत्थान

इकाई की रूपरेखा

3.4.1. उद्देश्य

3.4.2. प्रस्तावना

3.4.3. राजपूत और उनका जीवन

3.4.3.1. राजपूत

3.4.3.2. राजपूत जीवन

3.4.3.3. भारतीय पराभव काल

3.4.4. राजपूतों की उत्पत्ति संबंधी मत एवं समीक्षा

3.4.4.1. अग्निकुल का मत

3.4.4.2. विदेशी मत

3.4.4.3. स्वदेशी मत

3.4.4.4. निष्कर्ष

3.4.5. राजपूतों का उत्थान

3.4.6. सारांश

3.4.7. बोध प्रश्न

3.4.7.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

3.4.7.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

3.4.7. संदर्भ ग्रंथसूची

3.4.1. उद्देश्य

उत्तर भारत के इतिहास में आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक का काल-खंड प्रायः 'राजपूत-काल' कहा जाता है। राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। एक मतानुसार राजूपत विदेशी हैं, दूसरा मत उन्हें स्वदेशी मानता है तथा तीसरा मत उनकी देशी-विदेशी मिश्रित उत्पत्ति की मान्यता रखता है। अतः राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न मतों का अध्ययन एवं उनका निष्कर्ष निकालना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

3.4.2. प्रस्तावना

'राजपूत' शब्द वैदिक 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है। ऋग्वेद में 'राजपुत्र' तथा 'राजन्य' समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। राजन्य 'क्षत्रिय' अर्थात् योद्धाओं के लिए प्रयुक्त होता था, जो राज्य के अधिपति थे। मनुस्मृति में भी क्षत्रिय का यही अर्थ लिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में राजपुत्र, राजन्य तथा क्षत्रियों का पृथक रूप में उल्लेख यह प्रकट करता है कि ब्राह्मण काल (1000 ई.पू.) से इनमें भेद किया जाना आरंभ हो गया। डॉ. वी.ए. स्मिथ की यह मान्यता है कि राजपूतों की आठवीं या नवीं शताब्दी में सहसा उत्पत्ति हुई, अनेक इतिहासकारों के शोध-निष्कर्षों के आधार पर निर्मल सिद्ध होती है। श्री जयनारायण आसोपा ने 'राजपूत' शब्द की व्युत्पत्ति की स्रोत-संदर्भों के आधार पर विवेचना करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वैदिककालीन 'राजपुत्र', 'राजन्य' या 'क्षत्रिय' वर्ग ही कालांतर में राजपूत जाति में परिणत हो गया। इस

इकाई में राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न मतों का अध्ययन एवं उनके उत्थान पर प्रकाश डाला जाएगा।

3.4.3. राजपूत और उनका जीवन

उत्तर भारत के इतिहास में आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक का काल-खंड प्रायः 'राजपूत-काल' कहा जाता है। बारहवीं शती तक उत्तर भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले 36 राजकुलों को सूचीबद्ध कर लिया गया था। चंदवरदाई के पृथ्वीराज रासो में 36 राजपूत कुलों का उल्लेख मिलता है, किंतु व्यावहारिक धरातल पर इन राजपूत कुलों की संख्या और अधिक थी। इन राजपूतों के साहस, बलिदान, स्वाभिमान आदि की चर्चा पूर्व मध्यकालीन साहित्य में भरी पड़ी है। यद्यपि वे अपने शौर्य के लिए विख्यात रहे तथापि उनके पारस्परिक बैर एवं द्वेष ने उनके पतन के मार्ग को तो प्रशस्त किया ही, साथ ही उनकी ये दुर्बलताएँ भारतीय समाज और संस्कृति की अस्मिता के लिए घातक सिद्ध हुईं।

राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। एक मतानुसार राजूपत विदेशी हैं, दूसरा मत उन्हें स्वदेशी मानता है तथा तीसरा मत उनकी देशी-विदेशी मिश्रित उत्पत्ति की मान्यता रखता है। डॉ. वी.ए. स्मिथ की यह मान्यता है कि राजपूतों की आठवीं या नवीं शताब्दी में सहसा उत्पत्ति हुई, अनेक इतिहासकारों के शोध-निष्कर्षों के आधार पर निर्मल सिद्ध होती है। श्री जयनारायण आसोपा ने 'राजपूत' शब्द की व्युत्पत्ति की स्रोत-संदर्भों के आधार पर विवेचना करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वैदिककालीन 'राजपुत्र', 'राजन्य' या 'क्षत्रिय' वर्ग ही कालंतर में राजपूत जाति में परिणत हो गया।

3.4.3.1. राजपूत

'राजपूत' शब्द वैदिक 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है। ऋग्वेद में 'राजपुत्र' तथा 'राजन्य' समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। राजन्य 'क्षत्रिय' अर्थात् योद्धाओं के लिए प्रयुक्त होता था, जो राज्य के अधिपति थे। मनुस्मृति में भी क्षत्रिय का यही अर्थ लिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में राजपुत्र, राजन्य तथा क्षत्रियों का पृथक रूप में उल्लेख यह प्रकट करता है कि ब्राह्मण काल (1000 ई.पू.) से इनमें भेद किया जाना आरंभ हो गया।

महाभारत, तैत्रेय ब्राह्मण तथा कालिदास के 'रघुवंश' में इन शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में हुआ है। डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने 'राजपुत्र' शब्द का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र, कालिदास के मालविकाग्निमित्रम्, अश्वघोष के सौंदरानंद तथा बाणभट्ट के हर्षचरित एवं कादंबरी ग्रंथों में विभिन्न अर्थों में किया जाना बतलाया है। कौटिल्य ने राजा के पुत्रों के लिए तथा कालिदास व अश्वघोष ने सामंतो के पुत्रों के अर्थ में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किया है। हुआन सांग ने अपने यात्रा-वर्णन में राजाओं को राजपुत्र के रूप में उल्लिखित न कर उन्हें क्षत्रिय माना है। कल्हण की राजतरंगिणी में राजपुत्र शब्द का प्रयोग भूस्वामियों के लिए किया है, किंतु उन्हें राजपूतों के 36 वंशों से संबंधित माना है। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि 12वीं शताब्दी के आरंभ में राजपुत्र या राजपूत वंश एक पृथक जाति के रूप में अस्तित्व में आ गया था। महाभारत काल तक राजपुत्र, राजन्य तथा क्षत्रिय समानार्थक थे, किंतु बाद में राजपुत्र तथा क्षत्रियों में विभेद किया जाने लगा। राजपुत्र एक शासक-वर्ग तथा क्षत्रिय एक जाति के रूप में स्वीकार किए गए।

सभी शासक राजन कहलाते थे और उनके संबंधी राजपुत्र। प्राचीन काल में कुछ शासक यूनानी, शक एवं हूण विदेशी थे तथा कुछ देश के ही क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा अन्य जातियों के थे। इन देशी तथा विदेशी शासकों में परस्पर वैवाहिक संबंधों द्वारा विलयन की प्रक्रिया चल रही थी। शासकों तथा सामंतों के वंशज राजपुत्र थे, जो अपने राज्य विनिष्ट होने के पश्चात् भी स्वयं को राजपूत (राजपुत्र) कहने लगे। पश्चिमोत्तर सीमा से प्रवेश करने वाले तुर्कों ने जब 13वीं शताब्दी में भारत में राज्य स्थापित किया तो वे पराजित शासकों को राजपूत (राजपुत्र) नाम से पुकारने लगे। पराजित शासक अधिकतर अपनी सुरक्षा हेतु वर्तमान राजस्थान प्रदेश में ही केंद्रित होने लगे, जिसके कारण अंग्रेजों ने भी इस प्रदेश को राजपूतों के अधिवासन के आधार पर राजपूताना कहा।

अतः श्री आसोपा का निष्कर्ष है कि राजपूतों की उत्पत्ति चयन तथा अपचयन के सिद्धांत के अनुसार हुई। ''नए राजा (शासक) और उनके पुत्र एवं सामंत इस वर्ग में सम्मिलित हो गए तथा जिन्होंने क्षत्रिय कार्य छोड़कर अन्य व्यवसाय अपना लिए, वे इस वर्ग से पृथक हो गए। यह राजन्य और क्षत्रिय की संकल्पना वैदिक काल की भाँति ही है।'' कालांतर में वह वर्ग जो राजपुत्र कहलाता था धीरे-धीरे अपना राज्य खोता गया किंतु उसने अपनी गौरवपूर्ण उपाधि राजपुत्र बनाए रखी।

यद्यपि श्री बी.एन. रेऊ ने उपरोक्त सिद्धांत को काल्पनिक माना है, किंतु श्री आसोपा की मान्यता है कि राजपूत अर्थात् राजपुत्र जाति की उत्पत्ति इसी सिद्धांत के आधार पर देशी तथा विदेशी शासकों के धर्म-परिवर्तन द्वारा भारतीयकरण की प्रक्रिया से हुई। इतिहासकार श्री कानूनगो तथा श्री अशोक कुमार मजूमदार भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि राजपूत शब्द की व्युत्पत्ति राजपुत्र शब्द से हुई तथा मुस्लिम विजेताओं ने इन्हीं पराजित राजपुत्रों को राजपूत की संज्ञा दी। राजपूत काल के अनेक साहित्य ग्रंथों तथा शिलालेखों में भी राजपूतों को राजपुत्र कहा गया है। हेमचंद्र के 'त्रिष्टिशलाका-पुरुषचरित', आबू पर्वत लेख, मेरुतुंग के 'प्रबंध चिंतामणि', कल्हण की 'राजतरंगिणी', चित्तौड़ लेख आदि स्रोतों में तत्कालीन राजपतों को राजपुत्र कहा गया है।

3.4.3.2. राजपूत जीवन

भारत के राष्ट्रीय जीवन में राजपूत शब्द एक परंपरा में परिणत हो गया है। जहाँ इस जाति ने बस कर उद्वस भूमि और बालुकार्णव में अपनी चेतना और चरित्र से तथा राग और रक्त से ही अपना इतिहास रचा उसे राजस्थान कहते हैं। मध्ययुग में जहाँ जौहर की चिताएँ जली और जिन रमणियों ने अग्नि की भयावह लपटों का प्रेम से आलिंगन किया वहीं पुरुष प्रवीरों ने सिद्ध वेष में शत्रु को यही सिखाया कि सिंह व्रत क्या है?

राजपूतों के उदय के विषय में अनेक अटकलें लगाई गई हैं और यह व्यर्थ प्रलाप ही आज इतिहास बन गया है। इस युग के इतिहास लेखकों और चिंतकों ने तत्कालीन सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय क्रांति के उठते तूफान का उद्घोष नहीं सुना। न तो इन इतिहास लेखकों ने मूल ग्रंथों का बुद्धि से मूल्यांकन ही किया और न ही राष्ट्रीय प्रतीकों जैसे– गज-शार्दूल, नाग-गरूड़, दैत्य-देव, सुर-असुर आदि का और साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही अनुशीलन किया।

3.4.3.3. भारतीय पराभव काल

सत्ता के अभिशापों ने यहाँ चिंतक मुनि को चौंका दिया। वह देश में उत्पन्न नई परिस्थितियों और शक्तियों का अध्ययन करने लगा। राष्ट्र चिंतकों ने देश के चारों ओर कलह का वातावरण पाया और देश के द्वार पर विध्वंसक अग्नि की उठती लपटों को भी देखा। देश द्वार के उस पार इन निस्पृह राष्ट्र-सेवकों व भक्तों ने दुनिया को आततायी के आघातों से गिरता, लड़खड़ाता और विकृत देखा। वही भावी भयावह

चित्र भारत के भविष्य के विषय में भी उनके निर्मल मन पर खिंच गया और स्वयं जब उनके भी आश्रमों तथा तीर्थों में यह म्लेच्छ आतंक होने लगा तो वे समाधि छोड़कर जनजीवन को वैद्यों की भाँति स्वस्थ करने निकल पड़े। रोग-मुक्त होकर ही कोई व्यक्ति स्वस्थ होता है। अतः उन्होंने राष्ट्र-शरीर के रोगों का निदान कर पथ्योपचार का विधान बनाया जिसे घर-घर चिल्ला-चिल्ला कर मधुर और सरस परंतु मर्म स्पर्श वाणी में सुनाते रहे। अंग्रेजी के ग्रंथों को ही पढ़कर बनने वाले इतिहासकार के कानों में यह राष्ट्रवाणी नहीं पहुँच सकी। यौधेय, स्वतंत्रता, सौहार्द्र और समता के आदर्शों पर चलकर भूमि और पशुओं तथा सामरिक शक्ति की पूजा करते थे। उनके आदर्श जीवन से ही प्रभावित होकर सभी क्षत्रियों ने उन्हें 'वीर' की उपाधि दी थी। यही राजपूती आन बन गई।

जब से लिखित इतिहास प्राप्त होता है तब से आज तक इस देश में संघर्ष का इतिहास मिलता है। ऋग्वेद में, जो कि मानव जाति का सबसे पुराना ग्रंथ है, में वृत आदि को आततायी राक्षसों के रूप में उल्लिखित पाते हैं। यही कालांतर में देवासुर संग्राम बन गया, जिसका वर्णन रामायण, महाभारत और पुराणों में मिलता है। स्कंद पुराण में अंतर्वेदी में होने वाले देवासुर-संग्राम में महेंद्र ने दैत्यवध किया था। ये मुक्तकच्छ शिखा वाले दैत्य तुरूष्क ही थे, जिन्हें गंगा की घाटी में मारा गया था, किंतु इन प्राचीन इतिहास के मूल ग्रंथों का सम्यक विवेचन आज का व्यवसायी विद्वान अंर्द्धमन से ही कर रहा है। अतः राजपूत राजसिद्धांत और उनकी सामाजिक व राष्ट्रीय चेतना पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि इसी प्रक्रिया पर ही राजपूतों का उदय, उत्कर्ष और पराभव भी आधारित है।

3.4.4. राजपूतों की उत्पत्ति संबंधी मत एवं समीक्षा

पुरुष सूक्त में क्षत्रिय की तुलना पुरुष की भुजाओं से की गई है। संपूर्ण विश्व का ही रक्षक राजन्य था। रामायण का 'समर्थ' राम राघव राक्षसों से गो, ब्राह्मण और धर्म तथा मर्यादा का रक्षक था। रामायण और महाभारत, स्मृतियों और पुराणों में इसी 'रक्षक' को क्षत्रिय कहा गया है। क्षत्रिय राजकुमार को ही 'राजपुत्र' (महात्मा राजपुत्रोऽयं) कहा गया है। युद्ध करना ही उसका स्वधर्म या स्वकर्म भी था। किसी भी कारण से– लोभ, काम अथवा द्रोह से उसे स्वधर्म का परित्याग करना उचित न था। उसको यह भी बताया गया था कि सदा न तो किसी की जय होती है और न किसी की पराजय ही होती है।

''नैव नित्य जयस्तात नैव नित्य पराजयः।''

गीता में भी कृष्ण ने अर्जुन को यही बताया है। क्षत्रिय का यह योगी स्वरूप उनके ब्रह्म तेज का ही परिचायक है, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण से ही उत्पन्न हुआ (ब्रह्मतः क्षत्रम) है। यह ब्रह्म तेजोमय क्षत्रिय ही ब्राह्म-क्षत्र कहलाया। सातवीं और आठवीं शती में भारतवर्ष में जीवन के दो मुख्य क्षेत्रों में क्रांति हुई। धार्मिक क्षेत्र में कुमारिल और शंकर ने जो आंदोलन चलाया उससे ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म वैदिक परंपरा में पूर्णतः आत्मसात कर लिया गया और प्राचीन धार्मिक संप्रदायों के स्थान में पुनरुत्थान मूलक किंतु नवसंस्कृत हिंदू धर्म का उदय हुआ। मध्ययुगीन धार्मिक जीवन की यह एक बहुत बड़ी संक्रांति थी। राजनीतिक क्षेत्र में हूणों और अरबों के आक्रमणों से भारत को बहुत बड़ा मानसिक धक्का लगा। कुमारिल और शंकर की धार्मिक प्रेरणा से राजनीतिक जीवन भी प्रभावित हुआ। राजवंशों मेंब्रह्म-क्षत्र की एक नई परंपरा चल पड़ी। प्राचीन भारतीय राजवंशों के अवशेषों में एक बार पुनः नया प्राण आ गया। उन्होंने राजस्थान, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, विंध्य प्रदेश आदि प्रांतों में अपने देश और धर्म की रक्षा के लिए शैव धर्म को अपनाया और सतत युद्ध द्वारा विदेशी सत्ता के विरोध का प्रण किया। कुषाण साम्राज्य को नष्ट करने और भारतीय राष्ट्र के पुनरुत्थान का व्रत, तीसरी सदी में नागभारशिवों ने लिया था। प्राचीन क्षत्रियों के नव जागरण का काव्यमय वर्णन चंदवरदाई के पृथ्वीराज रासो में मिलता है।

आठवीं शताब्दी से लेकर 12वीं शताब्दी तक के साहित्य में भी क्षत्रियों का परम कर्तव्य ''आत्र-परित्राण'' (दुखी जन की रक्षा) और पृथ्वीपालन करना ही बताया गया है। उसी क्षत्रिय को हम इस युग में वीर वेश में तलवार लिए हुए (वीरचर्योचिता वेषसंवृत्तिं आकृष्टखड्ग) पाते हैं। इन्हीं क्षत्रियों को राजपूत (राजपुत्र) कहा गया है। पृथ्वीराज रासो में सोमेश्वर-पुत्र पृथ्वीराज को क्षात्र धर्म का पालन करने वाला अद्वितीय पुरुष कहा गया है।

यहाँ युद्ध-भूमि से न भागने वाले राजपूत शूर को ही क्षत्रिय कहा गया है, जो सभी देश सेवा के लिए थे किंतु ऐसा विदित होता है कि सभी शुद्ध क्षत्रिय नहीं थे। इसलिए "कुल शुद्ध" की खोज की जाती थी।

शुद्ध क्षत्रिय वही था, जो खड्ग द्वारा युद्ध भूमि में कट जाने से मुक्ति पाता था (राजपूत मुक्ति खिति खग्ग-खिरि)। शत्रु के समक्ष युद्ध-भूमि से भयभीत होकर भागने वाला शुद्ध क्षत्रिय न था। वह क्षुद्र क्षत्रिय ही वृषलत्व (शूद्रत्व) को प्राप्त करता था। इस युग को ही ध्यान में रखकर असुरों के उत्पात से राष्ट्र को बचाने वाले शुद्ध क्षत्रिय की आवश्यकता थी। पृथ्वी चिल्ला कर कह रही थी कि "क्या संसार में कोई ऐसा साहसिक है, जिसका क्षत्रीपन शुद्ध शौर्य पर आधारित हो और जिसके पास आभरण कृपा और कृपाण हों तथा जो हमको मृत्यु के भय से बचाए।"

इसलिए देश असुरों-तुरूष्कों के आक्रमणों से त्राहि-त्राहि कर रहा था। उस समय ऐसे शुद्ध क्षत्रिय की आवश्यकता थी, जो पृथ्वी के करूण-क्रंदन को सुनकर उसकी रक्षा करता। इसकी परख ही यज्ञ थी और अग्नि ही साक्षी थी, किंतु चक्र भय से बचाने के लिए शुद्ध और खरे क्षत्रिय की आवश्यकता थी। प्रतिहार, परमार, चंदेल, चौहान, चालुक्य और गढदवाल ऐसे ही शुद्ध क्षत्रिय थे, जिन्होंने क्षत्रिय धर्म का अनुसरण कर यथाशक्ति राष्ट्र की रक्षा की।

भ्रम में कोई इन्हें हूण, शक, गुर्जर आदि विदेशी ही क्यों न माने, परंतु जिन्हें हम राजपूत कहते हैं वे क्षत्रिय ही थे। विदेशी भी आए और उन्होंने यहाँ राज्य स्थापित किया; परंतु वे हिंदू समाज में मिलकर विदेशीपन को भूल गए तथा भारतीय बनकर भारतीय समाज में विलीन हो गए।

राजपूत शब्द का अधिकांश प्रयोग इस देश में मुसलमानों के आने के बाद ही प्रारंभ हुआ। हुआन सांग ने यहाँ के राजाओं को क्षत्रिय ही उल्लिखित किया है। उसने राजपूत शब्द का प्रयोग नहीं किया। देश स्वातंत्रय हेतु शरीर की आहूति देने वाला राजपूत पूर्ण रूप से भारतीय था। उसके विदेशी होने की बात निर्मूल और निराधार है। विदेशी को गाय और ब्राह्मण, वेद और धर्म की रक्षा करने से क्या प्रयोजन था। इनका रक्षक ही क्षत्रिय राजपूत था।

3.4.4.1. अग्निकुल का मत

पृथ्वीराज रासो से ज्ञात होता है कि ''जब पृथ्वी राक्षसों और म्लेच्छों से त्रस्त थी तब वसिष्ठ ने अर्बुद पर्वत पर अपने यज्ञकुंड से चार योद्धाओं को उत्पन्न किया– परमार, चालुक्य, परिहार और चाहुमान। इन्हीं से चार राजवंशों की स्थापना हुई जो अग्निकुलीय कहलाए। यह कथा बहुत बाद में प्रचलित हुई। कई इतिहासकारों ने इस कथा की विचित्र व्याख्या की। कर्नल टॉड ने इस उत्पत्ति कथा को स्वीकार कर यह मत प्रतिपादित किया कि ये नव जागृत राजपूत विदेशी आक्रमणकारियों के वंशज थे, जो यज्ञ द्वारा शुद्ध होकर हिंदू समाज में सम्मिलित हुए। अतः वी. ए. स्मिथ तथा बहुत से भारतीय इतिहासकारों ने इसे पकड़ लिया। एक तो यह कथा बारहवीं शती की है और दूसरे उपर्युक्त सभी राजवंश अपने उत्कीर्ण लेखों में अपनी उत्पत्ति प्राचीन सूर्य अथवा चंद्रवंश से मानते हैं। यह संभव है कि विदेशी आक्रमणकारियों के वंशजों में से राजकुलीय या अभिजात वंश प्राचीन क्षत्रियों के साथ मिल गया हो,

परंतु अधिकांश और मुख्य राजपूत राजवंश प्राचीन क्षत्रियों के वंशज थे इसमें संदेह नहीं। विदेशी 'सीथियन' मूलोत्पत्ति पर विचार करने के बाद डॉ. आर. बी. सिंह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। डॉ. आर.बी. सिंह ने अपनी पुस्तक 'दि ओरिजिन ऑफ दि राजपूताज' में इस समस्या का विस्तार से विवेचन किया है। अतः उनके विचारों का सार देना आवश्यक है।

राजपूत शब्द संस्कृत राजपुत्र (राजकुमार) का ही बिगड़ा रूप है। प्राचीन 'क्षत्रिय' या 'राजन्य' को ही यहाँ रक्षक (राजा) समझा जाता था। महाभारत में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाने वाले को राजपूत कहा गया है (द्रोणपर्व 112/20-27) यहाँ राजपुत्रों की सैनिक दक्षता का उल्लेख है। महाभारत में साधारणतया राजपुत्र शब्द का प्रयोग क्षत्रियों के लिए हुआ है। अष्टाध्यायी (4-2-39) में भी 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है:-

"गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुजस्यजाद्ध ं"

यहाँ यह शब्द राजन्य का ही अर्थ रखता है। राजपुत्र शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र, मालविकाग्निमित्रम् एवं सौंदरानंद काव्य में क्षत्रिय के रूप में हुआ है।

प्रारंभिक साहित्य में अभिलेखों में इसका प्रयोग सूचित करता है कि प्राचीन समय से ही इसका प्रयोग प्रचलित हो गया था तथा एक निश्चित अर्थ प्राप्त हो चुका था। उत्तर मध्यकालीन साहित्य में 'राजपुत्र' का प्रयोग क्षत्रिय के अर्थ में हुआ है। गुजराती Ravat और मराठी (Raut) राउत शब्दों की उत्पत्ति भी संस्कृत शब्द 'राजपुत्र' से ही हुई है। इन शब्दों का प्रयोग अश्व सैनिक Troopers के लिए किया गया है। उड़ीसा के मध्यकालीन अभिलेख एवं साहित्य में इस शब्द (Rautta, Raivta Rauta Rahuta etc.) का प्रयोग आश्रित सरदारों (Subordinate Chiefs) के लिए हुआ है, लेकिन बिहार बंगाल के पालवंशी लेखों में 'राजपुत्र' को राजम् एवं राजन्यक के साथ राजा के आश्रितों (Subordinates) तथा अधिकारियों की श्रेणी में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार मध्यकालीन लेखों में 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग उस वर्ग के लोगों के लिए हुआ है, जो या तो सामंत सरदार अथवा राज्याधिकारी या सेना से संबंधितथे एवं प्राचीन काल से ही ऐसे पदाधिकारियों के लिए क्षत्रिय वर्ण को प्राथमिकता दी जाती थी। डॉ. डी.सी. सरकार का विचार यथार्थ प्रतीत होता है कि-

कल्हण ने 36 शाही परिवारों के उत्तराधिकारी के लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग किया है। राजतरंगिणी से पुनः सूचना मिलती है कि यद्यपि क्षत्रिय वर्ण से संबंधित शाही परिवारों की संतानों को 'राजपुत्र' की संज्ञा दी गई तथापि उनके संबंध में एक वर्ग के रूप में 'राजपूत' शब्द का प्रचलन 12 वीं शताब्दी तक न हो सका।

कालांतर में राजपूत पराभव के बाद उत्तर भारत में तुर्क प्रशासन स्थापित हो जाने से हिंदू राजपरिवारों की शक्ति और वैभव के ह्रास हो जाने के उपरांत भी उनके उत्तराधिकारी सामान्य जनों द्वारा 'राजपुत्र' अथवा 'महाराज' जैसी प्राचीन प्रचलित संज्ञाओं द्वारा सम्मानित होते रहे। कालांतर में कई पीढ़ियों के उपरांत राजकुमारों की संख्या में वृद्धि हो जाने से भीषण विपत्तियों का सामना करते हुए ये राजपुत्र आपस में संगठित हो गए तथा समाज में उनका एक वर्ग उठ खड़ा हुआ, जो अपने प्राचीन विरूद 'राजपुत्र' द्वारा प्रचलित हो गया। इस प्रकार हिंदू समाज में एक नए वर्ग (राजपुत्र वर्ग) की उत्पत्ति हुई, जिसे धीरे धीरे तुर्कों द्वारा 'राजपुत्र' के बिगड़े हुए रूप 'राजपूत' की संज्ञा प्रदान की गई, क्योंकि वैभव के क्षीण हो जाने के कारण अब वे राजपुत्र कहलाने के अधिकारी नहीं रहे थे। इसलिए तुर्कों/मुसलमानों ने उन्हें अपमान रूप में राजपूत कहना प्रारंभ कर दिया।

राजपूतों का यह नया वर्ग केवल उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में ही सीमित रहा, क्योंकि 12वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में तुर्क आक्रमण के समय आधुनिक राजस्थान् मालवा, गुजरात, बुंदेलखंड और उत्तरप्रदेश में उस समय क्रमशः चाहमान, परमार, चालुक्य, चंदेल और गाढवाल नामक क्षत्रिय राजवंश शासन कर रहे थे, जो तुर्कों के विरुद्ध लगातार संघर्ष करते रहे। लेकिन दक्षिण भारत के विस्तृत क्षेत्र में शासन करने वाली जातियों की संख्या अति अल्प होने के कारण 'राजपूत' शब्द उत्तर भारत की तरह दक्षिण भारत में लोकप्रिय न हो सका।

डॉ. वी.ए. स्मिथ की विचारधारा के अनुसार चार प्रमुख राजपूत राजवशों प्रतिहार, चाहमान, परमार एवं चालुक्य की उत्पत्ति आबू पर्वत पर वशिष्ठ द्वारा किए गए यज्ञ कुंड से हुई, जिसका काव्यात्मक विवरण पृथ्वीराज तृतीय के दरबारी एवं कवि चंदवरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' नामक ग्रंथ में मिलता है, किंतु पृथ्वीराजरासो की मूल प्रति की रचना 12 वीं शताब्दी में कुछ ही पदों द्वारा की गई थी, जबकि उसके नए संस्करणों ने इसके मूलस्वरूप में परिवर्तन कर दिया। आधुनिक प्रचलित रासो 16 वीं शती की रचना प्रतीत होती है, जिसमें इस अग्निकुल विचारधारा को बाद के संस्करणों में समाविष्ट कर दिया गया। बीकानेर राजपुस्तकालय से उपलब्ध उसकी सबसे प्राचीन हस्तलिपियों में ऐसी कोई कथा नहीं मिलती, जो अग्निकुल मत को स्पष्ट करें अतः ऐसा प्रतीत होता है कि रासो के बढते हुए कलेवर के चारणों ने बाद में (15 वीं शती में) अग्निकुलों की कथा पिरो दी। इसी अग्निकुल विचारधारा के आधार पर विद्वानों ने राजपूतों की उत्पत्ति के अनेक मत प्रतिपादित किए।

पृथ्वीराज रासो की कथा के समरूप कथाएँ हम्मीर रासो तथा वंश भास्कर से भी ज्ञात है, जो मूलतः पृथ्वीराज रासो की कथा पर आधारित हैं। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निकुल विचारधारा पृथ्वीराज रासो में नवीन संस्करणों के संलग्न हो जाने से प्रकाश में आई।

विलियम क्रुक की विचार धारा के अनुसार चारों अग्निकुलीय राजवंश चाहमान, परमार, प्रतिहार एवं चालुक्य की उत्पत्ति की यह कथा अग्नि द्वारा शुद्ध संस्कार का प्रतीक है, जिसमें विदेशी की अपवित्रता का अंतकर उन्हें हिंदू वर्ण व्यवस्था में उचित स्थान प्रदान किया गया।

डॉ. आर.बी. सिंह का विचार है कि पृथ्वीराज रासो के बढ़ते हुए कलेवरों में तथा अन्य ग्रंथों में अग्निकुल की कथा 16 वीं शताब्दी में अकबर और राणाप्रताप के संघर्ष के समय किसी अज्ञात राजकवि (भाट) द्वारा उन राजवशों को गौरवान्वित करने के लिए पिरो दी गई, जिन्होंने शताब्दियों तक मुस्लिम आक्रांताओं से संघर्ष किया था।

3.4.4.2. विदेशी मत

(1) टॉड का मत

राजपूतों के विदेशी मूल की विचारधारा का प्रतिपादन सर्वप्रथम कर्नल जेम्स टॉड ने किया था। राजपूताना का इतिहास लिखते समय प्रथमतः उनका ध्यान पृथ्वीराज रासो तथा अन्य चारण ग्रंथों के उन उल्लेखों ने आकर्षित किया जहाँ प्रतिहारों, चाहमानों, परमारों एवं चालुक्यों की उत्पत्ति वशिष्ठ द्वारा आबू पर्वत पर किए गए यज्ञ कुंड से बताई गई थी। इन श्रुतियों को कल्पना मात्र स्वीकार करते हुए उन्होंने राजपूतों की उत्पत्ति विदेशियों अर्थात् सीथियायी जातियों से मान ली। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रमुख आधार यह था कि सीथियायियों और राजपूतों के कुछ रीति-रिवाज तथा पूजा पद्धतियों एवं अन्य परंपराएँ समान थीं।

उपरोक्त विद्वान के तर्कों को मानने में अनेक आपत्तियाँ हैं। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि इनके द्वारा दिए गए तर्कों में परस्पर मतभेद है। आपने एक ओर यज्ञ विध्वंसक असुरों, दैत्यों तथा दानवों

की पहचान Indo–scythic Tribes से की है, जो उत्तर पश्चिम में निवास करती थी तथा उन्होंने ब्राह्मणों का अनादर किया था। लेकिन दूसरी तरफ प्रतिहारों, चाहमानों, परमारों एवं चालुक्यों की भी पहचान सीथियायियों का रक्षक जातियों से की है। इससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि आक्रमणकारी तथा रक्षक एक ही थे तथा ब्राह्मणों के षडयंत्र से आपस में ही संघर्ष कर बैठे। लेकिन यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इंडो-सीथियन जातियों ने जैसा कि उन के लेख एवं मुद्राएँ सूचित करती हैं, ब्राह्मणों और उनके धर्म के प्रति शत्रुता नहीं प्रदर्शित की।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि रीति-रिवाजों में समानता के आधार पर प्रस्तुत किए गए टॉड महोदय के तर्क सत्यता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उनमें कल्पना शक्ति का आधार अधिकांशतः दृष्टिगोचर होता है।

राजपूत यहाँ के मूल निवासियों की संतान थे अथवा विदेशियों की ? इस पर विचार करते हुए टॉड महोदय ने अग्निकुलीय राजवशों के बाह्य शरीर की रचना एवं बनावट तथा रंग-रूप की समानता सीथियायियों से करके उन्हें सीथियायी होने का तर्क प्रस्तुत किया, जबकि इनके अनुसार यहाँ के मूल निवासी अग्निकुलों के विपरीत कद के छोटे, काले तथा भद्दे थे। टॉड द्वारा दोनों की समानता में दिए गए अन्य प्रमाण इस प्रकार हैं -

1. रहन सहन एवं वेष-भूषा में समानता
2. अश्वमेध यज्ञ प्रचलन
3. मांसाहारी भोजन
4. युद्ध में रथों का प्रयोग
5. शस्त्रास्त्रों की पूजा परंपरा आदि।

अनेक मत राजपूतों एवं सीथियायियों की समानता में प्रस्तुत किए गए। परंतु इनकी समानता का सशक्त आधार नहीं है, क्योंकि ये वैदिक परंपराएँ थी, जो वैदिक काल से चली आ रहीं थीं।

जहाँ तक शरीर रचना का प्रश्न है आर्यों तथा सीथियायियों को स्वयं भारतीय ईरानियों से संबंधित माना गया है। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी परंपराएँ, रीति-रिवाज एवं धार्मिक विश्वास राजपूतों में देखने को मिलते हैं, जो सीथियनों मे नहीं पाए जाते थे।

क्षत्रियों को हम अश्वमेध के अतिरिक्त वाजापेय तथा राजसूय यज्ञ करते हुए पाते हैं, जबकि सीथियनों को इसका ज्ञान न था। सामाजिक रीति-रिवाज भी दोनों में विभिन्नता प्रदर्शित करते हैं तथा वस्त्राभूषण भी समान नहीं पाए जाते। राजपूतों का जीवन चार आश्रमों में बँटा था। वे कभी प्रातः काल की दिनचर्या (स्नान एवं प्रार्थना) नहीं भूलते थे। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा हम विभिन्न देवताओं की उपासना करते हुए पाते हैं। विभिन्न धर्मों के प्रति आस्था रखते हुए भी हम पति-पत्नियों के आपसी संबंधों में त्रुटि नहीं पाते। उनका प्राचीन परंपराओं के प्रति अगाध प्रेम था तथा वे कर्तव्य निष्ठ थे। तुर्कों की कड़ी चुनौती एवं क्रूर्यवहार के बावजूद भी वे अपनी आचरण संहिता को भंग करना पाप समझते थे। अनेक युद्धों के पश्चात् भी उन्होंने अपने सिद्धांतों को नहीं त्यागा।

युद्ध के अतिरिक्त प्रशासन में भी वे अपने को 'रक्षक' समझकर प्रजा की रक्षा एवं देश की मान मर्यादा का पालन अपना प्रमुख धर्म समझते थे। सीथियायियों के विचार इस संबंध में राजपूतों से भिन्न थे। अतः कल्पना शक्ति पर आधारित अनैतिहासिकता के दोष से परिपूर्ण कर्नल टॉड का मत कदापि स्वीकार करने योग्य नहीं है।

(2) क्रुक का मत

कर्नल टॉड के समान से ही अनेक भारतीय तथा यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा राजपूतों की उत्पत्ति पर विभिन्न मत व्यक्त किए। जैसे-जैसे नए ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आते गए नई-नई विचारधाराओं का जन्म होता गया परंतु लगभग सभी मतों का प्रमुख आधार मूलतः अग्निकुल विचारधारा ही था।

इसी समय विलियम कुक ने अपना नया मत प्रतिपादित किया कि ब्राह्मणों ने तत्कालीन समाज में फैले बौद्ध एवं अन्य नास्तिक धर्मों को दबाने के लिए यहाँ बसी हुई कुछ विदेशी जातियों को शुद्ध प्रक्रिया द्वारा पवित्र कर नए राजवंशों की नींव डाली।

स्पष्ट है कि इतिहास तत्कालीन समाज में घटित ऐसी किसी भी घटना पर प्रकाश नहीं डालता। अतः काल्पनिक मनगढ़ंत एवं अनैतिहासिकता के दोष से परिपूर्ण मत स्वीकार करना उचित नहीं होगा।

(3) स्मिथ का मत

राजपूतों के विदेशी मूल की विचारधारा के प्रति समर्थकों में स्मिथ का नाम प्रमुख है; लेकिन इनका मत भी सत्यता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, बल्कि इनके तर्क आपस में विरोधाभास उत्पन्न करते प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं -

"I have no doubt that the ruling families of both the Sakas and Kushanas, when they become Hinduised, were admitted rank as Kshatriyas in the Hindu caste system."

दूसरी तरफ वे आगे लिखते हैं -

'The earliest foreign immigration within the limits of historical period which can be verified, is that the Sakas in 2nd century B.C. and the next is that of the yue-chi or Kushanas in the first century after Christ. Probably none of the existing Rajput clans can carry back their genuine pedigrees nearly so far."

लेकिन वास्तव में ये प्रारंभिक अविकसित राज परिवार शकों एवं कुषाणों द्वारा आक्रांत हुए। शकों ने उत्तर पश्चिम तथा मथुरा में अस्थायी रूप से शासन किया जबकि उनका प्रमुख शासित क्षेत्र मालवा और सौराष्ट्र था। वहाँ उन्होंने लगभग 400 वर्षों तक शासन किया तथा गुप्तकाल में चंद्रगुप्त द्वितीय/विक्रमादित्य के समय उनकी प्रभुता समाप्त हो गई तथा अब तक वे अपने प्राचीन नाम 'शक' द्वारा ही जाने जाते रहे और यद्यपि आगे चलकर हिंदू धर्म एवं संस्कृति स्वीकार कर वे हिंदू वर्ण व्यवस्था में समा गए तथा राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें विदेशी ही माना जाता रहा।

शकों की तरह कुषाण भी यद्यपि कालांतर में हिंदू वर्ण व्यवस्था में शामिल हो गए, तथापि उन्होंने शायद अपने को क्षत्रिय वंशो से जोड़ना अच्छा न समझा और लगभग 8 शताब्दियों तक वे हिंदू समाज से पृथक् रहकर अपने को गर्व के साथ 9 वीं शताब्दी तक कुषाणों की यूची शाखा के सबसे महान शासक कनिष्क का वंशज मानते रहे। स्मिथ ने स्वयं लिखा है-

"The Turkey Sahiyas in the ninth century boasted their descent from the great Kushana king Kaniska."

उच्च सामाजिक स्थिति के प्रति सजग क्षत्रिय भी समाज में अपने पद पर प्रतिष्ठित रहे। इस प्रकार 9वीं शताब्दी तक दोनों का स्वाभिमान आपस में विलीनीकरण को बचाता रहा। ऐसी स्थिति में शक एवं कुषाणों से क्षत्रियों की उत्पत्ति का संबंध जोड़ना पूर्णतः असंगत है।

अग्निकुल विचारधारा पर टिप्पणी करते हुए स्मिथ ने क्रुक महोदय के मत का समर्थन कर अग्नि कुलीय मिथक को इस बात का द्योतक माना है कि विदेशी आक्रमणकारियों को अग्नि द्वारा शुद्ध संस्कार से पवित्र कर हिंदू समाज में दीक्षित कर लिया गया। इस संस्कार का स्थल दक्षिण राजपूताना था। लेकिन भौगोलिक स्थिति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिहारों के अतिरिक्त अन्य राजवशों का उदय स्थल दक्षिण राजस्थान नहीं था।

प्रतिहारों को निश्चित रूप से गुर्जरों की संतान मानते हुए अपने अन्य तीन राजवंशों की उत्पत्ति भी गुर्जरों अथवा उन्हीं के साथ भारत में प्रविष्ट होने वाले अन्य विदेशियों से मान ली। लेकिन चूँकि इन राजवशों से भिन्न-भिन्न स्थानों से भिन्न-भिन्न कालों में पृथक्-पृथक् अपनी राजनैतिक सत्ता की स्थापना की। इसीलिए इनमें आपस में घनिष्ट संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। इसी आधार पर स्मिथ का यह मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि "राजपूतों का 8 वीं. 9 वीं. शताब्दी में उत्तर भारत में उदय हुआ।"

प्रतिहारों के विषय में गुर्जरों अथवा गुज्जरों से उनकी उत्पत्ति की स्मिथ की निश्चित धारणा भी दोषपूर्ण है। अनेक भारतीय विद्वानों ने इस मत का खंडन कर सबल तर्कों द्वारा प्रतिहारों को क्षत्रिय स्वीकार किया है।

पुनः स्मिथ द्वारा 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ संदिग्ध मानते हुए इसका अर्थ–

'Simply denoting the Hindu ruling class which did not claim Brahmin descent." मानना भी असंगत प्रतीत होता है।

प्राचीन राजवंशों से मध्यकालीन राजवंशों का संबंध जोड़ने में स्मिथ महोदय को सबसे बडी आपत्ति प्राचीन परंपराओं का आधुनिक समाज में लुप्त हो जाने के कारण है जबकि मध्यकालीन परंपराएँ आज भी जीवित हैं।

दुर्भाग्यवश सामाजिक ढाँचे के विकास एवं परिवर्तन को समझे बिना आपने हूणों के भारत में आगमन को प्राचीन परंपराओं के लुप्त हो जाने का कारण मान लिया तथा इन्हीं विदेशियों से मध्यकालीन राजवंशों की उत्पत्ति स्वीकार कर ली। लेकिन मनुस्मृति के अनुसार अनार्य अथवा विदेशी जातियाँ पौण्ड्क, चोल, द्रविड़, कंबोज, यवन, शक, पारद, पहलव, चीनी, किरात, दरद आदि क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे हिंदू समाज में सम्मिलित होकर शूद्रत्व को प्राप्त हो गईं।

पाणिनि ने भी यवनों और शकों को शूद्र वर्ण में सम्मिलित किया है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य एवं धर्मशास्त्रों से विदेशी जातियों का शूद्र वर्ण में विलय हो जाने का प्रमाण प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त हूण केवल प्रमुख रूप से देश के पश्चिमी भाग (पंजाब, राजस्थान, मालवा आदि) तक ही सीमित रह सके तथा समाज पर उनका कोई विशेष सांस्कृतिक प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसी स्थिति में यह मान लेना कठिन है कि उनके द्वारा सामाजिक या राजनैतिक तंत्र में कोई परिवर्तन हुआ। विक्रम संवत 950 का ऊना अभिलेख, हूणों की बर्बरता का प्रमाण है। अतः अभी वे हिंदू समाज में उपयुक्त स्थान ग्रहण न कर सके थे।

अतः प्राचीन परंपराओं के लुप्त हो जाने का कारण हूण आक्रमण तथा इन्हीं से क्षत्रिय राजवंशों की उत्पत्ति मान लेना मनगढ़ंत मात्र प्रतीत होता है। वास्तव में इसका कारण सामाजिक ढाँचे का विकास ही था। फलतः कुछ प्राचीन रीति-रिवाज परंपराएँ या तो विस्मृत हो गईं अथवा त्याग दी गईं, जिनका स्थान नए रीति रिवाजों ने ले लिया, जो सदियों तक प्रचलित रहीं।

3.4.4.3. स्वदेशी मत

विदेशी मूल की विचारधाराओं की प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक भारतीय विद्वानों ने सबल तर्कों द्वारा राजपूतों को भारतीय क्षत्रिय वंशीय होने का तर्क प्रस्तुत किया है।

सामाजिक ढाँचे के विकास के समय देश को विदेशी आक्रमणों का शिकार होना पड़ा। फलतः यहाँ के प्राचीन शाही परिवार अपनी शक्ति एवं वैभव को खोकर भोजन एवं सुरक्षा की खोज में भ्रमण करती हुई यह जातियाँ नए-नए व्यवसायों को ग्रहण कर विभिन्न नामों से समाज में उभर आईं। इसी समय विदेशी भी धीरे-धीरे हिंदू समाज में अपना पैर जमाने लगे। परिणाम स्वरूप समाज में परिवर्तन होना स्वाभाविक था, परंतु नई सामाजिक संस्थाओं की स्थापना से अनेक जातियों एवं उपजातियों की उत्पत्ति के बावजूद भी चारों मूल वैदिक वर्ण - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, अपने विशेष रीति रिवाजों एंव परंपराओं के साथ सामाजिक संगठन के मूल स्तंभ बने रहे तथा समय समय पर राजनैतिक चढ़ाव उतार के बावजूद भी क्षत्रियों का एक वर्ग के रूप में अस्तित्व बना रहा, जिनके माध्यम से कुछ प्राचीन परंपराएँ समाज में प्रचलित रहीं।

प्राचीन क्षत्रिय राजवंशों की निरंतरता

भारतीय मान्यता के अनुसार मनु मानव जाति के जन्म दाता कहे जाते हैं और उनके 9 पुत्रों में से सूर्य वंश तथा एक पुत्री इला से चंद्रवंश की उत्पत्ति हुई। कालांतर में उनके उत्तराधिकारियों से संस्थापक के नाम पर अनेक वंशों का विकास हुआ, जो उत्तर भारत के विभिन्न भागों में फैलकर शासन करने लगे। छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जहाँ ये जातियाँ स्वतंत्र रूप से शासन करती रहीं। इस काल के बौद्ध एवं जैन ग्रंथ 16 महाजनपदों तथा 10 गणराज्यों का हवाला देते हैं। इनमें अनेक जनपद एवं गणराज्य पौराणिक जनपदों के नाम से समानता रखते हैं।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मगध साम्राज्य के उदय से अनेक जनपदों का इस साम्राज्य में विलय हो गया, लेकिन राजनैतिक शक्ति के क्षीण होने के बावजूद भी यह जातियाँ अपनी प्राचीन परंपराओं का अनुकरण करती हुई समाज में अपना जीवन-यापन करती रहीं तथा समय पर केंद्रीय सत्ता के ह्रास का लाभ उठाकर अपनी शक्ति का विकास करती रहीं।

नंदों के साथ इक्ष्वाकु, कुरू, पंचाल, काशी, शूरसेन, कलिंग, मिथिला, अश्मक, हैहय, वीतिहोत्र आदि कलियुग राजवंशों का उल्लेख चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में प्राचीन जातियों के अस्तित्व का बोध कराता है। मौर्यों के बाद शुंग-सातवहन काल में भी इन जातियों के उल्लेख मिलते हैं, जो गौतमीपुत्र सातकर्णी तथा रूद्रदामन द्वारा पराजित हुई थी। तत्पश्चात् विशाल गुप्त साम्राज्य के समय एक बार पुनः देश राजनैतिक एकता से आबद्ध हुआ। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त द्वारा विजित जातियों के नामों, प्राचीन जातियों के नामों में समानता किसी न किसी रूप में समाज उनके अस्तित्व का द्योतक है। सामाजिक ढाँचे के विकास एवं परिवर्तन के फलस्वरूप नई-नई जातियाँ नए-नए नामों से प्रकाश में आती रहीं तथा अवसर पाकर समय-समय पर अपनी स्वतंत्रता घोषित करती रहीं। 8वीं शताब्दी ईसवी के खालिमपुर ताम्रपत्र में भोज, मत्स्य, मद्र, कुरू, यदु, अवंति और गांधार का उल्लेख प्राप्त होता है।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद प्रांतीय शासक एवं सामंत जातियाँ पुनः अपनी स्वतंत्रता घोषित करने लगीं तथा नए संस्थापकों के नाम से अभिहित होकर प्रकाश में आने लगीं। शताब्दियों के इस लंबे समय में इन प्राचीन पौराणिक जातियों को यद्यपि अनेक बार साम्राज्यवादी राजनैतिक शक्तियों का सामना करना पड़ा तथा अपनी सुरक्षा एंव भोजन हेतु अनेक व्यवसायों को ग्रहण करने के साथसाथ

समय-समय पर नामों में भी परिवर्तन करना पड़ा लेकिन वे अपनी प्राचीन परंपराओं एवं रीति-रिवाजों के साथ-साथ अपने मूल वंशों जैसे सूर्य वंश, चंद्रवंश अथवा यादव वंश से अपना संबंध जोड़ना विस्मृत न कर सके।

यही कारण है कि हर्ष के पश्चात् ये जातियाँ उत्तर भारत में पुनः अपनी शक्ति का संगठन कर राजनैतिक मंच पर उपस्थित हुई तथा साम्राज्य का विस्तार करने लगी, साथ ही अपने को प्राचीन क्षत्रिय वंशो से जोड़ना न भूलीं, जो उनका वास्तविक मूल था।

3.4.4.4. निष्कर्ष

राजपूतों के विदेशीमूल के विभिन्न अंगों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह तर्क किसी सबल आधार पर आधारित नहीं है।

वास्तव में आर्यों के विस्तार के समय सूर्य, चंद्र एवं यादव वंशी क्षत्रिय जातियाँ उत्तर भारत के विभिन्न भागों में फैल गईं तथा संस्थापक के नाम से प्रसिद्ध हुईं। उत्तर भारत के छोटे-छोटे राज्यों का यह जाल अनेक सदियों तक बना रहा। बुद्धकाल के पश्चात् मगध साम्राज्य के उदय से दक्षिण की सुदूर सीमाओं को छोड़कर लगभग सारा देश एक केंद्रीय सत्ता के रूप में उभरने लगा तथा छोटे-छोटे सभी राज्यों का इस साम्राज्य में विलीनीकरण होने लगा।

राजनैतिक शक्ति समाप्त हो जाने के बावजूद भी ये देश के विभिन्न भागों में फैली रहीं तथा समय पर उन्नति कर नए-नए विरूदों द्वारा जानी जाती रहीं। इस प्रकार कालांतर में कई पीढ़ियों के बीत जाने पर इनके परिमाण में इतना विकास हुआ कि उन्होंने अपनी वैदिक वंशावली भी विस्मृत कर दी। कुछ को अपना 'मूल' याद रहा और कुछ ने इसे भी भुला दिया। लेकिन उनके रीति-रिवाज एवं वैदिक परंपराएँ यथावत प्रचलित रहीं तथा राजपूत युग में भी क्षत्रिय अपने पूर्वजों की उच्च विचारधाराओं का पालन करते रहे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना युक्तिसंगत लगता है कि पूर्व मध्यकाल में राजपूत शब्द का प्रयोग शासक वर्ग के लिए प्रचलित हुआ। इस युग में शासक वर्ग के अंतर्गत क्षत्रियेत्तर वर्ग के लोग सम्मिलित हो गए थे। जिनमें कुछ मूलतः ब्राह्मण थे और कुछ हीनजातीय जो राजशक्ति से जुड़कर प्रभुता संपन्न हो गए थे। इन शासक कुलों में निश्चय ही कुछ ऐसे विदेशी भी थे, जो भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं को अंगीकार कर भारतीय समाज में घुलमिल गए थे। इन्होंने क्षत्रिय राजवंशों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर सामाजिक मान्यता भी प्राप्त कर ली थी। चूँकि हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार क्षत्रिय ही राजपद का अधिकारी है, अतः आदर्श और यथार्थ की विसंगति को दूर करने के लिए क्षत्रियेत्तर राजवंशों के क्षत्रियत्व को क्रमशः समाज ने स्वीकृति प्रदान की और इस प्रक्रिया में राजपूत शब्द क्षत्रिय शब्द का पर्यायवाची बन गया।

4.4 राजपूतों का उत्थान

क्र.	राजवंश	प्रमुख शासक	शासन-काल	साम्राज्य सीमा
1.	गुर्जर-प्रतिहार वंश	नागभट्ट प्रथम (राज्य संस्थापक)	733-756 ई.	भीनमाल राजधानी, राज्य-सीमा उत्तर में मारवाड़ से दक्षिण में भड़ौंच तक।
		वत्सराज	778-794 ई.	कन्नौज को अधिकृत करने का असफल प्रयास।

		नागभट्ट द्वितीय	795-833 ई.	साम्राज्य-विस्तार मालवा तथा कन्नौज विजय-कन्नौज राजधानी-सीमा के अंतर्गत राजपूताना, उत्तर प्रदेश, मध्यभारत, काठियावाड़ तथा कौशांबी थे।
		मिहिर भोज प्रथम	836-889 ई.	साम्राज्य-विस्तार सीमा पूर्व में पाल राज्य व कौशांबी से पश्चिम में राजपूताने व पंजाब तक उत्तर में सतलज नदी, उत्तर प्रदेश व पश्चिमी बिहार से दक्षिण में नर्मदा तक।
		राज्यपाल	989-1019 ई.	महमूद गजनवी द्वारा कन्नौज विजय सीमा संकुचित।
		त्रिलोचनपाल	1027 ई.	प्रतिहार राज्य का पतन।
2.	पाल-वंश	गोपाल (राज्य संस्थापक)	750-770 ई.	राज्य-स्थापना– सीमा में समस्त बंगाल।
		धर्मपाल	770-810 ई.	साम्राज्य-विस्तार– सीमा के अंतर्गत बंगाल व बिहार तथा प्रभाव क्षेत्र में कन्नौज व पंजाब।
		देवपाल	810-850 ई.	साम्राज्य-विस्तार– हिमालय से विंध्याचल तक तथा पूर्वी से पश्चिमी सागर तक।
		नारायणपाल	854-908 ई.	राज्य का विघटन– कामरूप व उड़ीसा स्वाधीन हुए– राष्ट्रकूट व गुर्जर-प्रतिहारों के आक्रमण से उत्तरी बंगाल पर प्रतिहारों का अधिकार।
		महीपाल प्रथम	988-1035 ई.	पैतृक राज्य बंगाल की पुनः प्राप्ति।
		मदनपाल	1144-1161 ई.	राज्य का पराभव– सेनवंश का अधिकार।
3.	चंदेल	नन्नुक (संस्थापक)	831-844 ई.	गुर्जर प्रतिहारों का सामंत– राजधानी खजुराहो– राज्य सीमा– जैजाकभुक्ति प्रदेश।

		यशोवर्मन	925-950 ई.	राज्य-विस्तार– कालिंजर व चित्रकूट विजय– प्रतिहार सामंत।
		धंग	950-1008 ई.	प्रतिहारों से स्वाधीनता साम्राज्य विस्तार यमुना नदी से विन्ध्याचल पर्वत तक तथा बेतवा नदी व ग्वालियर से सोन नदी तक। महोबा व कालिंजर राजधानी।
		विद्याधर	1017-1029 ई.	पूर्वतः महमूद गजनवी से संघर्ष व संधि
		परमर्दिदेव	1165-1202 ई.	चाहमानों और कुतुबुद्दीन से पराजय– मुसलमानों का अधिकार।
4.	चाहमान	वासुदेव (संस्थापक)	551 ई.	राज्य सीमा सपादलक्ष– राजधानी शाकम्भरी– गुर्जर-प्रतिहारों के सामंत।
		अजयराज	1105-1130 ई.	राज्य-विस्तार– मालवा व तुर्कों पर विजय।
		अर्णोराज	1130-1150 ई.	मालवा, हरितानक, सिंधु तथा तुर्कों पर विजय।
		विग्रहराज चतुर्थ	1150-1164 ई.	साम्राज्य-विस्तार– दिल्ली, झाँसी, चित्तौड़, नाडोल, जालौर, पाली व पूर्वी पंजाब पर अधिकार।
		पृथ्वीराज चतुर्थ	1177-1192 ई.	साम्राज्य-सीमा पूर्वतः किंतु मुहम्मद गोरी द्वारा पराजय व चौहान राज्य का विघटन।
5.	गढ़वाल वंश	यशोविग्रह (संस्थापक)	1050 ई.	कलचुरि नरेशों का सामंत - कान्यकुब्ज राज्य।
		चंद्रदेव	1089-1104 ई.	स्वाधीन शासक– राज्य-सीमा गंगा व घाघरा नदियों के मध्य काशी व अयोध्या सहित राजधानी कन्नौज।
		गोविंद चंद्र	1114-1154 ई.	मुसलमानों (तुर्कों) से कन्नौज पुनः हस्तगत किया-साम्राज्य-विस्तार पूर्व में मुंगेर व उत्तर में हिमालय तराई से पश्चिम में दिल्ली तथा यमुना नदी तक था।
		विजयचंद्र	1155-1169 ई.	दिल्ली पर चाहमानों का अधिकार।

		जयचंद	1170-1191 ई.	चाहमानों से संघर्ष तथा मुहम्मद गोरी द्वारा पराजय-राज्य का विघटन।
6.	गुजरात का चालुक्य वंश	मूलराज (संस्थापक)	941-996 ई.	अन्हिलवाड़ राजधानी-सारस्वत क्षेत्र तथा लाट प्रदेश विजित कर राज्य सीमा उत्तर में साँचैर, सूरक्षेत्र व कच्छ से दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत की।
		भीम प्रथम	1024-1064 ई.	महमूद गजनवी का सोमनाथ आक्रमण (1025 ई.)– राज्य विस्तार सिंध व आबू विजय द्वारा।
		जयसिंह सिद्धराज	1094-1142 ई.	साम्राज्य-विस्तार– सौराष्ट्र, नाडौल, मालवा, सिंध तथा बर्बरक पर विजय।
		कुमारपाल	1143-1172 ई.	साम्राज्य-विस्तार पश्चिम में सौराष्ट्र व कच्छ, उत्तर में चित्तौड़ व जैसलमेर, पूर्व में भिलसा तथा दक्षिण में नर्मदा नदी तक था।
		भीम द्वितीय	1178-1241 ई.	पड़ोसी राज्यों तथा मुसलमानों के आक्रमणों से चालुक्य-साम्राज्य का विघटन।
7.	परमार-वंश	उपेन्द्र (संस्थापक)	808-817 ई.	मालवा या अवंति प्रदेश– प्रतिहारों का सामंत।
		वाक्पति प्रथम	894-920 ई.	प्रतिहारों से स्वाधीनता।
		हर्ष या सायक द्वितीय	945-972 ई.	राज्य-विस्तार उत्तर में बाँसवाड़ा से दक्षिण में गोदावरी नदी तक तथा पूर्व में भिलसा से पश्चिम में माही नदी तक।
		वाक्पति द्वितीय (मुंज)	973-996 ई.	साम्राज्य-विस्तार पूर्व में कलचुरि राज्य, पश्चिम में गुजरात, उत्तर में मेवाड़ तथा दक्षिण में मारवाड़ व लाट तक।
		भोज	1010-1055 ई.	साम्राज्य-विस्तार तथा प्रभाव क्षेत्र पूर्व में कलिंग व चेदि, उत्तर में ग्वालियर, उत्तर प्रदेश व बिहार का कुछ प्रदेश, पश्चिम में लाट, समुद्र-तट व कौंकण व मेवाड़ व मारवाड़ का काफी भाग था।

		यशोवर्मन	1134-1142 ई.	चालुक्य नरेश सिद्धराज का मालवा पर अधिकार।
		बल्लाल	1172 ई.	चालुक्य नरेश कुमारपाल द्वारा मालवा पर पुनः अधिकार-मालवा नरेश चालुक्यों के सामंत बने।
		सुभटवर्मन	1194-1209 ई.	कुतुबुद्दीन द्वारा गुजरात की पराजय-परमार राज्य का पतन।

3.4.6. सारांश

राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। एक मतानुसार राजूपत विदेशी हैं, दूसरा मत उन्हें स्वदेशी मानता है तथा तीसरा मत उनकी देशी-विदेशी मिश्रित उत्पत्ति की मान्यता रखता है। डॉ. वी.ए. स्मिथ की यह मान्यता है कि राजपूतों की आठवीं या नवीं शताब्दी में सहसा उत्पत्ति हुई, अनेक इतिहासकारों के शोध-निष्कर्षों के आधार पर निर्मल सिद्ध होती है। श्री जयनारायण आसोपा ने 'राजपूत' शब्द की व्युत्पत्ति की स्रोत-संदर्भों के आधार पर विवेचना करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वैदिककालीन 'राजपुत्र', 'राजन्य' या 'क्षत्रिय' वर्ग ही कालंतर में राजपूत जाति में परिणत हो गया।

'राजपूत' शब्द वैदिक 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है। ऋग्वेद में 'राजपुत्र' तथा 'राजन्य' समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। राजन्य 'क्षत्रिय' अर्थात् योद्धाओं के लिए प्रयुक्त होता था जो राज्य के अधिपति थे। मनुस्मृति में भी क्षत्रिय का यही अर्थ लिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में राजपुत्र, राजन्य तथा क्षत्रियों का पृथक रूप में उल्लेख यह प्रकट करता है कि ब्राह्मण काल (1000 ई.पू.) से इनमें भेद किया जाना आरंभ हो गया।

राजपूतों की उत्पत्ति संबंधी मत एवं समीक्षा

(1)	अग्निकुल का मत	पृथ्वीराज रासो
(2)	विदेशी मत	कर्नल टॉड, क्रुक एवं स्मिथ
(3)	स्वदेशी मत	ओझा, असोपा एवं सिंह
(4)	निष्कर्ष	निम्नानुसार

राजपूतों के विदेशी मूल के विभिन्न अंगों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह तर्क किसी सशक्त माध्यम पर आधारित नहीं है। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना युक्तिसंगत लगता है कि पूर्व मध्यकाल में राजपूत शब्द का प्रयोग शासक वर्ग के लिए प्रचलित हुआ। इस युग में शासक वर्ग के अंतर्गत क्षत्रियेत्तर वर्ग के लोग सम्मिलित हो गए थे, जिनमें कुछ मूलतः ब्राह्मण थे और कुछ हीनजातीय, जो राजशक्ति से जुड़कर प्रभुता संपन्न हो गए थे। इन शासक कुलों में निश्चय ही कुछ ऐसे विदेशी भी थे, जो भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं को अंगीकार कर भारतीय समाज में घुलमिल गए थे। इन्होंने क्षत्रिय राजवंशों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर सामाजिक मान्यता भी प्राप्त कर ली थी। चूँकि हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार क्षत्रिय ही राजपद का अधिकारी है, अतः आदर्श और यथार्थ की विसंगति को दूर करने के लिए क्षत्रियेत्तर राजवंशों के क्षत्रियत्व को क्रमशः समाज ने स्वीकृति प्रदान की और इस प्रक्रिया में राजपूत शब्द क्षत्रिय शब्द का पर्यायवाची बन गया।

प्रमुख राजपूत राजवंश

(1) गुर्जर-प्रतिहार वंश (2) पाल-वंश (3) चंदेल
(4) चाहमान (5) गढ़वाल वंश (6) गुजरात का चालुक्य वंश
(7) परमार-वंश

3.4.7. बोध प्रश्न

3.4.7.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'राजपूत' से क्या अभिप्राय है?
2. राजपूत जीवन पर प्रकाश डालिए।
3. अग्निकुल का सिद्धांत समझाइए।
4. राजपूतों की उत्पत्ति पर कर्नल टॉड का विचार लिखिए।
5. राजपूतों की उत्पत्ति पर क्रुक का क्या विचार है।
6. राजपूतों की उत्पत्ति पर डॉ. स्मिथ के विचार पर प्रकाश डालिए।
7. राजपूतों की उत्पत्ति पर श्री जे.एन. असोपा के क्या विचार हैं।
8. राजपूतों की उत्पत्ति पर श्री डॉ. आर. बी. सिंह के क्विचार लिखिए।

3.4.7.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजपूत शब्द को समझाते हुए राजपूत जीवन का वर्णन कीजिए।
2. राजपूतों की उत्पत्ति के अग्निकुल मत की समीक्षा कीजिए।
3. राजपूतों की उत्पत्ति संबंधी विदेशी विचारधारा की समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. राजपूतों की उत्पत्ति संबंधीभारतीय विचारधारा की व्याख्या कीजिए।
5. राजपूतों के उत्थान पर प्रकाश डालिए।

3.4.7. संदर्भ ग्रंथ

01. रमशेचंद्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
02. राजबली पाण्डेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एंड संस वाराणसी, 1962।
03. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962।
04. बारनेट, एल.डी.: एण्टीक्विटीज ऑफ इंडिया, लंदन 1913।
05. मेस्सोन, ओरसैल तथा अन्य: एंशेण्ट इंडिया, लंदन 1934।
06. रैप्सन, ई.जे.: कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1।
07. रैप्सन, ई.जे.: एंशेण्ट इंडिया, कैम्ब्रिज 1922।
08. राय चौधरी, एच.सी.: पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938।
09. नीलकंठ शास्त्री, के.ए.: हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1, एंशेंट इंडिया, मद्रास, 1950।
10. स्मिथ, वी.ए.: अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण 1924।
11. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।
12. नीलकंठ शास्त्री: ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957।
13. एलन, हेग, डाडवेल: दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934।
14. मजूमदार तथा पुसलकर: दी इम्पीरियल एज ऑफ कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।
15. मजूमदार तथा पुसलकर: दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।

खंड-4 : गुप्तोत्तर काल (दक्षिण भारत)

इकाई-1 : चालुक्य, पल्लव

इकाई की रूपरेखा

4.1.1. उद्देश्य
4.1.2. प्रस्तावना
4.1.3. चालुक्यों का उद्भव एवं प्रारंभिक इतिहास
4.1.4. पल्लवों का उद्भव एवं प्रारंभिक इतिहास
4.1.5. पुलकेशिन-प्रथम
4.1.6. पुलकेशिन-द्वितीय : विजय एवं उपलब्धियाँ
4.1.7. पुलकेशिन-द्वितीय के उत्तराधिकारी एवं चालुक्य राजवंश का अंत
4.1.8. सिंहविष्णु द्वारा स्थापित राजवंश के पल्लव
4.1.9. पल्लवों की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ
4.1.9.1. स्थापत्य एवं मूर्तिकला
4.1.9.2. संगीत एवं नाटक
4.1.9.3. शिक्षा एवं साहित्य
4.1.10. सारांश
4.1.11. बोध प्रश्न
4.1.12. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.1.1. उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को बादामी के चालुक्य राजवंश के राजनीतिक इतिहास से परिचित कराना है। इसके अंतर्गत सर्वप्रथम चालुक्यों के उद्भव से संबंधित विभिन्न दंतकथाओं और विद्वानों के विचारों का विश्लेषण किया गया है। तत्पश्चात्, चालुक्यों के प्रारंभिक इतिहास पर प्रकाश डाला गया है और यह बताया गया है कि चूँकि चालुक्य अभिलेखों में चालुक्यों की वंशावली पुलकेशिन-प्रथम से प्रारंभ होती है, इसलिए सही अर्थों में उसे ही चालुक्य राजवंश का संस्थापक माना जाना चाहिए। अंत में, पुलकेशिन-द्वितीय की उपलब्धियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इसी पाठ में विद्यार्थियों को प्रायद्वीपीय भारत के एक अन्य राजवंश, पल्लवों के इतिहास से भी परिचित कराया गया है। पल्लवों का उद्भव आजतक एक रहस्य बना हुआ है। इसलिए इस विषय में विभिन्न इतिहासकारों के मतों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हुए एक ठोस नतीजे पर पहुँचने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही, पल्लवों के राजनैतिक उत्कर्ष सहित पूर्व मध्य युग में दक्षिण भारतीय राजनीति में उनकी भूमिका पर भी विचार किया गया है। अंत में, साहित्य, धर्म, कला और वास्तुकला के क्षेत्र में पल्लवों की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला गया है।

4.1.2. प्रस्तावना

प्राचीन काल में दक्कन में स्थापित राजवंशों में चालुक्य राजवंश का प्रमुख स्थान है। चालुक्य राजवंश की स्थापना 550 ई. में पुलकेशिन-प्रथम के द्वारा हुई। इस राजवंश का सबसे महान शासक

पुलकेशिन-द्वितीय था, जिसकी गणना प्राचीन भारत के महानतम शासकों में की जाती है। उसके राज्यारोहण से एक नए युग का प्रारंभ माना जाता है। रविकीर्ति, जिसे नीलकंठ शास्त्री, बाण एवं कालिदास के समकक्ष रखते हैं, ने ऐहोल अभिलेख में पुलकेशिन-द्वितीय की उपलब्धियों का विस्तृत विवरण दिया है। ऐहोल अभिलेख में पुलकेशिन-द्वितीय का हर्ष के साथ युद्ध का अत्यंत आलंकारिक विवरण है। पुलकेशिन-द्वितीय के शासनकाल में चीनी यात्री हुआन सांग ने दक्कन की यात्रा की थी। फारसी इतिहासकार तबारी के अनुसार, "पुलकेशिन-द्वितीय एवं फारस के राजा खुसरो-द्वितीय के मध्य मैत्रीपूर्ण संबंध थे।"

लगभग दो सदी के अपने शासन काल में बादामी के चालुक्य राजाओं ने न सिर्फ दक्कन में राजनैतिक एकता की स्थापना की, बल्कि एक लंबी अवधि तक पल्लवों को कड़ा संघर्ष दिया। यद्यपि पुलकेशिन-द्वितीय की मृत्यु पल्लवों के साथ संघर्ष में ही हुई, पर शीघ्र ही पुलकेशिन-द्वितीय के उत्तराधिकारियों ने स्वयं को पुनः एक महाशक्ति के रूप में स्थापित कर लिया। पुलकेशिन-द्वितीय के शासन काल में वेंगी में एक स्वतंत्र चालुक्य राजवंश की स्थापना की गई जिसने लगभग चार सौ वर्षों से अधिक अवधि तक शासन किया। राष्ट्रकूटों के उत्थान के फलस्वरूप आठवीं सदी के मध्य में जब चालुक्यों का पतन हो गया, तब भी वेंगी के चालुक्यों ने चोलों की मदद से अपनी स्वतंत्रता बरकरार रखी। कालांतर में चोलों के साथ उनके संबंध घनिष्टतर हुए और ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वेंगी का राजा, राजेन्द्र-द्वितीय चालुक्य ही तंजोर में कुलोत्तुंग-प्रथम चोल के रूप में सिंहासनारूढ़ हुआ और इस प्रकार वेंगी का चालुक्य राज्य चोल राज्य में विलीन हो गया।

पूर्व मध्ययुगीन भारतीय राजवंशों में पल्लवों का प्रमुख स्थान है। यद्यपि 19वीं सदी के मध्य में पल्लवों का क्षेत्रीय लेखन में परोक्ष रूप से कुछ उल्लेख हुआ है, फिर भी भारतीय एवं यूरोपीय इतिहासकारों के लिए पल्लवों का इतिहास एक लंबे समय तक सर्वथा अज्ञात था। 1840-50 ई. के आसपास से पल्लवों के अभिलेख प्रकाश में आने लगे। तब से आजतक के अन्वेषणों के फलस्वरूप पल्लव इतिहास के अनेक पक्ष स्पष्ट हुए हैं। छठी सदी के अंत से आठवीं सदी तक, लगभग 200 वर्षों तक पल्लव सुदूर दक्षिण में सबसे प्रबल शक्ति के रूप में विद्यमान रहे। यद्यपि सातवीं सदी में पल्लवों को कृष्णा और गोदावरी के मध्य स्थित वेंगी का प्रांत चालुक्यों को दे देना पड़ा था। यह वह समय था जब वे अपनी ख्याति के चरमोत्कर्ष पर थे। दसवीं सदी के प्रारंभ में राजसत्ता पल्लवों के हाथ से निकलकर चोलों के हाथ में चली गई।

4.1.3. चालुक्यों का उद्भव एवं प्रारंभिक इतिहास

बादामी के चालुक्यों का उद्भव आजतक एक रहस्य बना हुआ है। इस संबंध में चालुक्य अभिलेखों में कई दंतकथाओं का उल्लेख है। इन अभिलेखों में सबसे प्राचीन बादामी से प्राप्त एक अभिलेख है, जिसकी तिथि 578 ई. है। इस अभिलेख में चालुक्यों को स्वामी कार्तिकेय का भक्त एवं दास बताया गया है। इसमें उनका उल्लेख हारीति के पुत्र के रूप में हुआ है तथा उन्हें मानव्य गोत्र का बताया गया है। इस अभिलेख से विदित होता है कि चालुक्यों ने अग्निष्टोम, वाजपेय, पौंडरीक, बहुसुवर्ण तथा अश्वमेध यज्ञों में गहरी रुचि ली।

कालांतर में इस दंतकथा में कुछ और विस्तार हुआ। उदारहणार्थ, पुलकेशिन-द्वितीय के हैदराबाद अभिलेख में भी चालुक्यों को मानव्य गोत्र के हारीति का पुत्र बताया गया है और कहा गया है कि उन्होंने कार्तिकेय के संरक्षण में यश और समृद्धि प्राप्त की, पर साथ ही यह भी उल्लिखित है कि चालुक्यों का पोषण सप्तमातृकों ने किया तथा नारायण अथवा विष्णु के अनुग्रह से वाराह अंकित एक

पताका प्राप्त कर उन्होंने समस्त राज्यों को पराजित किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कदंब वंश के राजा भी स्वयं को मानव्य गोत्र का हारीति-पुत्र कहते थे। इसी प्रकार वे भी कार्तिकेय एवं सप्तमातृकों की आराधना करते थे। संभवत: चालुक्यों ने इन बातों को कदंबों से ग्रहण किया।

बिल्हण अपनी रचना विक्रमांकदेवचरित में चालुक्यों की उत्पत्ति से संबंधित एक दंतकथा का उल्लेख करता है। बिल्हण विक्रमादित्य-षष्ठ के दरबार में प्रधान कवि थे। इस कथा के अनुसार, ''चालुक्यों की उत्पत्ति ब्रह्मा की हथेली से हुई।'' अन्हिलवाड़ के चालुक्य भी यही मानते थे कि ब्रह्मा को राक्षसों द्वारा पृथ्वी पर किसी अशांति की आशंका थी, इसीलिए उन्होंने अपने चुलुक (हथेली) से चौलुक्य नामक एक राजा को जन्म दिया। कुछ समय पश्चात् चालुक्य परिवार में हारित और मानव्य नामक दो वीरों ने जन्म लिया। इन वीरों ने परिवार को विशिष्ट ऊँचाई प्रदान की। इस वंश का मूल स्थान अयोध्या था, किंतु कालांतर में इसकी एक शाखा दक्षिण में जाबसी।

श्रीनिवासाचार्य एवं आयंगर ने अभिलेखों के आधार पर यह मंतव्य दिया है कि दक्षिणापथ में अपना राज्य स्थापित करने के पूर्व चालुक्य दीर्घकाल तक अयोध्या में रह चुके थे। इतिहासकारों द्वारा चालुक्यों को उत्तरापथ के चूलिक लोगों के साथ संबद्ध किए जाने का भी प्रयास किया गया है, जिनके नाम पर प्राकृत की एक बोली का नामकरण चूलिका पैशाची हुआ, किंतु इन अनुमानों की पुष्टि किसी प्रामाणिक साक्ष्य से नहीं होती है। नीलकंठ शास्त्री इन दंतकथाओं को मूर्खतापूर्ण मानते हैं और कहते हैं कि इनका तथ्यात्मक इतिहास में कोई मूल्य नहीं है।

चंदबरदाई रचित पृथ्वीराजरासो के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने चालुक्यों को अग्निकुल से संबद्ध माना है। इनके अनुसार चालुक्यों की उत्पत्ति प्रतिहारों, परमारों और चौहानों की भाँति आबू पर्वत पर निर्मित एक यज्ञ कुंड से हुई। यज्ञकुंड से संबंधित होने के कारण इत्हिासकार इन्हें विदेशी मानते हैं। उनका मत है कि अग्नि पवित्रता की द्योतक है और इसीलिए विदेशियों को सर्वप्रथम अग्नि से पवित्र किया गया और तत्पश्चात् उन्हें हिंदू समाज में स्वीकार किया गया।

जैक्सन चालुक्यों को गुर्जर अथवा उनकी एक शाखा मानते हैं। विन्सेंट आर्थर स्मिथ भी चालुक्यों को गुर्जर की चप शाखा में संबद्ध करते हैं। स्मिथ के शब्दों में, ''ऐसा विश्वास करने के कुछ कारण हैं कि चालुक्य चप से संबंधित थे और इस प्रकार विदेशी गुर्जर जाति से, जिसकी चप एक शाखा थी और ऐसी संभावना है कि वे राजपुताना से दक्कन की ओर आए।''

नीलकंठ शास्त्री के अनुसार, ''चालुक्य मूलतः दक्षिण भारतीय थे, जो पुलेकिशन-प्रथम द्वारा चालुक्य राजवंश की स्थापना किए जाने से पूर्व सातवाहनों और उसके बाद उनके उत्तराधिकारियों की सेवा में थे।'' उनका मत है कि वे मूलतः कुन्तल अथवा कर्नाटक के निवासी थे। उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। शास्त्री उन इतिहासकारों से सहमत नहीं हैं, जो चालुक्यों को मूलतः विदेशी मानते हैं। कुछ इतिहासकारों ने चालुक्यों को कर्नाटक का क्षत्रिय माना है। इस मत को हुआन सांग के विवरण से बल मिला है, जिसके अनुसार चालुक्य जन्मजात क्षत्रिय थे।

कुछ अभिलेखों में चालुक्यों का उल्लेख 'चल्क्य', 'चलिक्य' एवं 'चलुक्य' के रूप में भी हुआ है। पुलकेशिन-द्वितीय के अनुदान-पत्र में चालुक्यों का उल्लेख 'चलुकिक' के रूप में हुआ है। इतिहासकारों का मत है कि चालुक्य शब्द का उद्भव चालुक्यों के एक पूर्वज से हुआ, जिन्हें चल्क, चलिक अथवा चलुक के नाम से जाना जाता था। प्राचीन काल में दक्कन में इस प्रकार का नाम अज्ञात नहीं था। इसकी पुष्टि नागार्जुनिकोंडा में प्राप्त एक अभिलेख से होती है, जिनमें 'चलिकि' शब्द 'स्कंदचलिकिरेम्मनक' नामक एक व्यक्ति के नाम में एक अंश के रूप में प्रयुक्तहुआ है।

4.1.4. पल्लवों का उद्भव एवं प्रारंभिक इतिहास

पल्लवों का उद्भव इतिहासकारों के बीच विवाद का विषय रहा है। राइस एवं वेंकय्या 'पल्लव' तथा 'पहलव' अथवा पार्थियाई' को समानार्थी मानते हैं। उनके अनुसार पल्लव पार्थिया से आए तथा कुछ समय तक सिंधु घाटी और पश्चिमी भारत में निवास करने के पश्चात् तोंडमंडलम पर अपना अधिकार स्थापित किया। पल्लवों के विदेशी उद्भव संबंधी सिद्धांत को इस आधार पर बल मिला है कि कांची में अवस्थित वैकुंठ पेरूमल मंदिर की एक मूर्ति का मुकुट हाथी के सिर के समान है। बैक्ट्रियाई यूनानी राजा डिमेट्रियस के सिक्कों पर उसे भी इसी प्रकार का मुकुट धारण किए हुए अंकित किया गया है। इतिहासकारों की दृष्टि में हाथी के सिर के आकार का यह मुकुट नंदिवर्मन-द्वितीय को उसके राज्यारोहरण के समय प्रदान किया गया था।

इसी प्रकार, जेब्यु ड्युबरेल ने रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में उल्लिखित सुविशाख पह्लव को पल्लवों का पूर्वज माना है। कुछ विद्वानों का मत है कि पल्लव शब्द का प्रचलन बाद में हुआ। आरंभ में पल्लव वंश तिरैयर के नाम से जाना जाता था। स्वामीनाथ अय्यर के अनुसार, तिरैयर का अर्थ नाविक है, जिसकी उत्पत्ति 'द्रय', 'दरय' अथवा 'दरिया' से हुई है, जो एक फारसी शब्द है। इस आधार पर वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि चूँकि तिरैयर फारसी मूल पर आधारित है, इसलिए पल्लव को फारसी मूल का पह्लव मानना ही उचित है।

पल्लवों को पह्लव या पार्थियाई मानने में कई कठिनाई है। सबसे पहली बात तो यह है कि भारत के पश्चिमोत्तर भाग से कांची में आकर विदेशी शासकों ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन नहीं किया। इसी प्रकार, कांची स्थित वैकुंठ पेरूमल मंदिर में चित्रित हाथी के सिर जैसे मुकुट को पल्लवों के विदेशी उद्भव का आधार मान लिया जाए तो नागार्जुनकोंडा के इक्ष्वाकुओं को भी कुषाण मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, क्योंकि नार्गाजुनकोंडा में एक ''कुषाण योद्धा'' की मूर्ति मिली है, किंतु ऐसा मानना त्रुटिरहित नहीं है।

शक शासक रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में उल्लिखित सुविशाख पह्लव को भी पल्लवों का पूर्वज मानना उचित नहीं है। सुविशाख रूद्रदामन का मंत्री था, जिसका पल्लवों की वंशावली में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। दसवीं सदी के प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पल्लव और पह्लव का दो भिन्न प्रजातियों के रूप में उल्लेख किया है। राजशेखर के अनुसार, पल्लव दक्षिण भारत तथा पह्लव सिंधु प्रदेश के पश्चिमोत्तर भाग में निवास करने वाली जातियाँ थीं।

तोंडमंडलम् (दक्षिण भारत का वह भूभाग, जहाँ पल्लवों ने अपना राज्य स्थापित किया) में पल्लवों को विदेशी माननेवाले अन्य इतिहासकारों की मान्यता है कि पल्लव मूलतः श्रीलंका के निवासी थे। सी. रसनयगम मुदालियार के अनुसार,''पल्लव चोल-नाग वंश के थे और उनका मूल निवास-स्थान दक्षिण प्रायद्वीप का नितांत दक्षिणी भाग तथा श्रीलंका था।' उनका मत है कि चोल वंश के किल्ली वलवन अथवा नेडुमुडी किल्ली का विवाह लंका के मणिपल्लवम् नामक जनपद की नागवंशीय कन्या के साथ हुआ था। इनसे तैंडैमान् इलंतियैरन् नामक पुत्र हुआ। यही दूसरी सदी ई. के उत्तरार्द्ध में किल्ली वलवन का उत्तराधिकारी चुना गया। इलंतियैरन् से जिस वंश-परंपरा का प्रारंभ हुआ, वह उसकी माता के जन्मस्थल मणिपल्लवम् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद में यही राजवंश पल्लवम नाम से जाना जाने लगा, जिसमें पिता की ओर से उरैयूर के चोल वंश का और माता की ओर से लंका स्थित मणिपल्लवम् जनपद के नागवंश का रक्त सम्मिश्रित था।

उपर्युक्त मत को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि पल्लवों की अभिलिखित वंश-परंपरा में संस्थापक के रूप में न तो तैंडैमान इलंतियैरन् का नाम आता है और न ही किसी अन्य चोल नागवंशीय राजा का। रसनयगम की मान्यता के आधार मणिमेकलै तथा सिलप्पदिकरम नामक तमिल महाकाव्य हैं, किंतु मणिमेकलै में तैंडैमान इलंतिरैयन को तमिल साहित्य एवं संस्कृति के पोषक के रूप में चित्रित किया गया है। वह स्वयं भी तमिल भाषा में कविता करता था, किंतु इसके विपरीत पल्लवों के अभिलेख ऐसा कोई संकेत नहीं देते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि आरंभिक पल्लवों का तमिल साहित्य एवं संस्कृति से संबंध था। वस्तुतः इन अभिलेखों में पल्लवों के पूर्वजों को भारद्वाज गोत्रीय और अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों का कर्ता बताकर वैदिक संस्कृति का पोषक सिद्ध किया गया है। इनके अभिलेखों की भाषा प्राकृत और संस्कृत है। संस्कृत के साथ तमिल भाषा का व्यवहार परवर्ती पल्लवों ने ही किया।

के.पी. जायसवाल एवं के.ए. नीलकंठ शास्त्री पल्लवों को उत्तर भारतीय मूल का राजवंश मानते हैं। शास्त्री के अनुसार पल्लव भी कदंबों की भाँति उत्तर से दक्षिण भारत की ओर आए, जहाँ उन्होंने स्थानीय परंपराओं को अपने अनुसार ढाल लिया। उदाहरणार्थ, कदंबों ने कदंब वृक्ष की उपासना प्रारंभ कर दी तथा वे सुब्रह्मण्यम की पूजा करने लगे, जो तमिल परंपरा के अनुसार कदंब वृक्ष में निवास करते थे। नीलकंठ शास्त्री कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार पल्लव शब्द को तोंडई का एक रूप माना जा सकता है, जो एक प्रदेश विशेष तथा उसके शासकों के साथ एक लता की ओर भी संकेत करता है।

एस. कृष्णा स्वामी आयंगर का निष्कर्ष है कि पल्लवों का मूल स्थान तोंडमंडलम् था। उनके अनुसार पल्लव सातवाहन राज्य के दक्षिण-पूर्व भाग में सामंत एवं अन्य अधिकारियों के रूप में नियुक्त थे। आयंगर पल्लव तथा संगम साहित्य में वर्णित तोंडैयार अथवा तोंडमंडलम के निवासी को समानार्थी मानते हैं और कहते हैं कि 225 ई. के आसपास सातवाहनों के पतन के पश्चात् पल्लवों ने एक नए राजवंश की आधारशिला रखी। शिवस्कंदवर्मन पल्लव के प्राकृत भाषा में लिखित ताम्रपत्र-अनुदानों से पल्लवों के कांची से कृष्णा तक के प्रसार का संकेत मिलता है। चूँकि शिवस्कंदवर्मन का सातवाहनों से घनिष्ठ संबंध था, इसलिए उसने अपने अभिलेख प्राकृत में जारी किए और धर्ममहाराज की उपाधि धारण की।

पल्लवों का मूल स्थान तोंडमंडलम ही था। तोंडमंडलम अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था और उसके साम्राज्य में निवास करनेवाले व्यक्तियों की सूची में सम्मिलित पुलिंद तोंडमंडलम के कुरूंब थे। आर. साथिन थैर की मान्यता है कि पल्लवों का उद्भव मौर्य काल में हो चुका था और अशोक के अभिलेख में इनका उल्लेख 'पलद' के रूप में हुआ हैं। राजसिंह के वायलूर स्तंभ अभिलेख में पल्लव नाम का उल्लेख ब्रह्मा से अश्वत्थामा तक प्रथम सात पौराणिक पूर्वजों के बाद तथा अशोक के नाम के पहले हुआ है। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि अशोक के पहले तोंडमंडलम में कोई पल्लव शासक था। प्रारंभिक पल्लवों का सातवाहनों से घनिष्ठ संबंध था तथा इनका शासनप्रबंध सातवाहनों की शासन-व्यवस्था से प्रभावित था। सातवाहनों के समय भी तोंडमंडलम एक प्रांत था। सातवाहनों के बाद नागों का प्रभुत्व स्थापित हुआ, जिनका उन्मूलन कर पल्लवों ने कांची में एक स्वतंत्र राज्य की नींव रखी।

पल्लवों के प्रारंभिक अभिलेख प्राकृत भाषा में हैं। भाषा एवं लेखन शैली के आधार पर इन्हें तीसरी-चौथी सदी का माना गया है। इन अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि सिंहवर्मन पल्लव राजवंश का संस्थापक था तथा उसने एवं उसके उत्तराधिकारियों ने आंध्रप्रदेश एवं कांची में अपना आधिपत्य स्थापित किया था। यद्यपि इनसे पल्लव राजाओं के उत्तराधिकार का क्रम स्पष्ट नहीं हो पाता है, फिर भी

शिवस्कंदवर्मन को सिंहवर्मन का उत्तराधिकारी माना जा सकता है। अपने अभिलेख में शिवस्कंदवर्मन अपने पिता का उल्लेख 'बप्प' के रूप में करता है। दिनेशचंद्र सरकार की दृष्टि में 'बप्प' शब्द केवल पिता का द्योतक है, शिवस्कंदवर्मन के पिता के नाम का नहीं। संभवतः शिवस्कंदवर्मन के पिता का नाम सिंहवर्मन था, जिसके मंचिकल्लू अभिलेख की लेखन-शैली इक्ष्वाकु अभिलेखों की लेखन-शैली से मिलती है और जो निश्चित रूप में शिवस्कंदवर्मन के अभिलेखों की लेखन-शैली से पूर्व की है। कुछ इतिहासकार मैडवोलु एवं हीरहडगली अभिलेखों में उल्लिखित शिवस्कंदवर्मन और चारूदेवी के ब्रिटिश म्यूजियम ताम्रपत्र में उल्लिखित विजयस्कंदवर्मन को एक ही मानते हैं, किंतु दिनेशचंद्र सरकार के अनुसार दोनों भिन्न व्यक्ति थे। उनका मत है कि ब्रिटिश म्यूजियम ताम्रपत्र की भाषा संस्कृत बहुल है; इसलिए इसे मैडवोलु एवं हीरहडगली अभिलेखों, जिनमें प्राकृत का बाहुल्य है, का परवर्ती माना जा सकता है।

पल्लवों का प्रारंभिक इतिहास विष्णुगोप का उल्लेख किए बिना पूरा नहीं हो सकता है। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ अभिलेख में विष्णुगोप का कांची के राजा के रूप में उल्लेख है, जिसे समुद्रगुप्त ने दक्षिणी सैन्य अभियान के क्रम में पराजित किया था। विष्णुगोप का पल्लवों के प्राकृत अभिलेखों में कोई उल्लेख नहीं है, पर चूँकि समुद्रगुप्त का शासनकाल (330-76) तथा उसके दक्षिण भारतीय सैन्य अभियान की तिथि (350-60 ई.) विश्वस्त रूप से ज्ञात है, इसलिए इतिहासकारों ने विष्णुगोप को समुद्रगुप्त का समकालीन मानकर उसकी तिथि 350 ई. निर्धारित की है। दुर्भाग्यवश पल्लवों की वंशावली में उसका स्थान अथवा प्राकृत अभिलेखों में उल्लिखित पल्लव राजाओं के साथ उसका संबंध स्पष्ट नहीं है, किंतु यदि मान लिया जाए कि प्राकृत अभिलेखों में उल्लिखित पल्लव विष्णुगोप के तात्कालिक पूर्वज थे, तो यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि पल्लवों के उत्थान का प्रारंभ तीसरी सदी के मध्य हुआ। यही वह समय था, जब सातवाहनों के राज्य का विघटन भी हुआ।

प्राकृत अभिलेखों में उल्लिखित पल्लवों के पश्चात् कांची पर जिन पल्लवों का आधिपत्य स्थापित हुआ, उनकी जानकारी संस्कृत भाषा में लिखित ताम्रपत्रों से होती है, जिन्हें स्वयं पल्लव राजाओं ने ही जारी किया था। ऐसे ताम्रपत्रों की संख्या लगभग 12 है और उनमें 16 से भी अधिक राजाओं एवं युवमहाराजाओं का उल्लेख है। इनमें पल्लवों की वंशावली निर्धारित करने की दृष्टि से कुमारविष्णु-द्वितीय का चेंदलूर ताम्रपत्र तथा नंदिवर्मन-प्रथम का उदयेंदिरम ताम्रपत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन ताम्रपत्रों में उन्हें जारी करने वाले पल्लवों के नाम के साथ ही उनके पूर्वजों के नाम भी उल्लिखित हैं। उदाहरणार्थ, कुमारविष्णु-द्वितीय द्वारा जारी किए गए चेंदलूर ताम्रपत्र में कुमारविष्णु-द्वितीय का उल्लेख बुद्धवर्मन के पुत्र, कुमारविष्णु-प्रथम के पौत्र, और स्कंदवर्मन के प्रपौत्र के रूप में हुआ है।

संस्कृत अभिलेखों में उल्लिखित पल्लव राजाओं की अवधि 350 ई. से 575 ई. के मध्य की है, किंतु यह बता पाना सरल नहीं है कि प्राकृत अभिलेखों के पल्लव और संस्कृत अभिलेखों के पल्लव एक-दूसरे से किस प्रकार संबद्ध थे। इतना अवश्य है कि चूँकि प्राकृत और संस्कृत दोनों ही प्रकार के अभिलेखों में उल्लिखित पल्लवों के नामों में समानता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि सभी एक ही परिवार के सदस्य थे।

पल्लवों के संस्कृत अभिलेख में उल्लेख है कि वीरकूर्च अथवा वीरकूर्चवर्मन नाग राजकुमारी के साथ विवाह करने के पश्चात् राजा बना। कुछ इतिहासकारों ने इस तथ्य के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि वीरकूर्च ही पल्लव वंश का संस्थापक था, किंतु अन्य इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार संस्कृत अभिलेख में उल्लिखित तथ्य की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है कि वीरकूर्च ने नाग परिवार के साथ वैवाहिक संधि करके समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ अभियान के पश्चात् पल्लवों की शक्ति

को पुनर्जीवित किया। इसके साथ यह भी संभव है कि वीरकूर्चवर्मन पल्लवों की संपार्श्विक शाखा, जिसने नेल्लोर-गुंटूर क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित किया था, का प्रथम शासक रहा हो। वस्तुतः संस्कृत अभिलेखों में मुख्य शाखा के पल्लव राजाओं के साथ-साथ संपार्श्विक शाखा के पल्लव राजाओं तथा युवमहाराजाओं को एक ही वंश परंपरा में इस प्रकार गुंफित कर लिया गया है कि पल्लवों का इस काल का इतिहास अत्यंत जटिल हो गया है।

4.1.5. पुलकेशिन-प्रथम

पुलकेशिन-प्रथम (550-66 ई.) चालुक्य राजवंश का पहला महान शासक था। उनका पोलिकेशिन तथा पुलिकेशन के नाम से भी उल्लेख हुआ है। फ्लीट ने पुलकेशिन शब्द के दो भाग किए हैं। उसने प्रथम भाग 'पुल' को कन्नड़ तथा दूसरे भाग 'केशिन' को संस्कृत मानकर इसका अर्थ 'व्याघ्र के बालों वाला' बताया है, किंतु नीलकंठ शास्त्री दोनों भागों को संस्कृत का शब्द मानकर पुलकेशिन का अर्थ 'महान शेर' मानते हैं। पुलकेशिन-प्रथम का पूरा नाम सत्याश्रय श्री पुलकेशी वल्लभ महाराज था। इनमें वल्लभ एक विरुद था, जिसे इस राजवंश के सभी शासकों ने धारण किया। कुछ राजाओं ने पृथ्वीवल्लभ नामक उपाधि धारण की, जिसका अर्थ पृथ्वी का पति होता है। कुछ परवर्ती शासकों ने सत्याश्रय नामक उपाधि भी धारण की।

बादामी में एक चट्टान पर उत्कीर्ण एक अभिलेख से विदित होता है कि 543-44 ई. तक चालुक्य वल्लभेश्वर ने वातापी के दुर्ग की किलेबंदी पूरी कर ली थी। चालुक्य वल्लभेश्वर के विषय में इस अभिलेख में उल्लिखित है कि उसने अश्वमेध सहित कई यज्ञ संपन्न किए। नीलकंठ शास्त्री का मत है कि चालुक्य वल्लभेश्वर नामक यह व्यक्ति पुलकेशिन-प्रथम था, जिसने राजधानी के रूप में वातापी अथवा बादामी का चुनाव उसके सामरिक महत्व के कारण किया।

पुलकेशिन-द्वितीय का ऐहोल अभिलेख पुलकेशिन-प्रथम के द्वारा वातापी पर अधिकार किए जाने का उल्लेख करता है। इस अभिलेख में पुलकेशिन-प्रथम द्वारा अश्वमेध यज्ञ संपन्न किए जाने का भी उल्लेख है। नीलकंठ शास्त्री का मत है कि पुलकेशिन-प्रथम ने कदंबों के आधिपत्य से स्वयं को मुक्त कर अपनी स्वतंत्रता घोषित की और वातापी तथा उसके पड़ोस में अवस्थित प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित किया।

पुलकेशिन-प्रथम द्वारा संपन्न अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख बारहवीं सदी तक के अभिलेखों में हुआ है। बादामी अभिलेख में पुलकेशिन-प्रथम का उल्लेख हिरण्यगर्भप्रसूत के रूप में भी हुआ है। इसका यह अर्थ है कि उसने हिरण्यगर्भ महादान का आयोजन किया। मंगलेश के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन-प्रथम ने अग्निष्टोम, अग्निचयन, वाजपेय, बहुसुवर्ण तथा पौंडरीक आदि यज्ञ भी संपन्न किए। उसकी तुलना ययाति एवं दिलीप जैसे पौराणिक व्यक्तियों के साथ की गई है। साथ ही, उसे मनु की विधि संहिता, रामायण एवं महाभारत का ज्ञाता माना गया है।

पुलकेशिन-प्रथम का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कीर्तिवर्मन (556-97 ई.) था। उसे वातापी का पहला निर्माता कहा गया है। इतिहासकारों के अनुसार, इससे मात्र यह सूचित होता है कि कीर्तिवर्मन-प्रथम ने वातापी को मंदिरों एवं भवनों से सुसज्जित किया। उसे मौर्यों, नलों एवं कदंबों के लिए 'कालरात्रि' अथवा 'मृत्यु की रात' कहा गया है। मौर्यों, नलों एवं कदंबों के विरुद्ध कीर्तिवर्मन की सफलता बहुत महत्वपूर्ण थी। इससे पुलकेशिन प्रथम द्वारा स्थापित राज्य के भूभाग में वृद्धि हुई।

कोंकण में मौर्यों का शासन था। उनकी राजधानी पुरी थी, जिसे 'पश्चिमी सागर की लक्ष्मी' कहा जाता था। कोंकण की विजय से रेवती द्वीप अथवा गोवा जैसा बंदरगाह चालुक्यों के अधिकार में आ

गया। नल नलवाड़ी के शासक थे, जो बेलारी एवं करनूल की दिशा में अवस्थित था। कदंब राजधानी, वनवासी पर विजय का बादामी के चालुक्य अभिलेखों में विशेष उल्लेख है। इनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कीर्तिवर्मन ने वनवासी पर अपना अधिकार स्थापित किया।

कीर्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसका पुत्र पुलकेशिन-द्वितीय अल्पवयस्क था। इसलिए उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका अनुज मंगलेश (597-611 ई.) राज्य का उत्तराधिकारी घोषित हुआ। मंगलेश ने कीर्तिवर्मन द्वारा प्रारंभ की गई राज्य-विस्तार की नीति जारी रखी। उसने अपने शासनकाल के प्रारंभ में ही कलचुरियों पर विजय प्राप्त की। कलचुरियों के साथ उसके युद्ध का उल्लेख महाकूट स्तंभ अभिलेख में है। इसलिए अनुमान किया जाता है कि यह घटना 602 ई. के पहले की होगी। नेरूर अभिलेख से विदित होता है कि मंगलेश ने कलचुरि शासक बुद्धराज को पराजित किया। समकालीन कलचुरि अभिलेखों से संकेत मिलता है कि उस समय कलचुरियों ने गुजरात, खानदेश एवं मालवा में अपना शासन स्थापित किया था। इतिहासकारों का मत है कि मंगलेश के नेतृत्व में कलचुरियों के विरुद्ध चालुक्यों का आक्रमण एक सफल धावा से अधिक कुछ नहीं था क्योंकि बुद्धराज के अभिलेखों से पता चलता है कि 609 ई. के आसपास वह एक स्वतंत्र राजा के रूप में संपूर्ण राजसी वैभव के साथ शासन कर रहा था।

4.1.6. पुलकेशिन-द्वितीय : विजय एवं उपलब्धियाँ

पुलकेशिन-द्वितीय (611-642 ई.) चालुक्य राजवंश का सबसे महान शासक था। उसकी गणना भारतीय इतिहास के महानतम शासकों में की जाती है। मंगलेश की समाप्ति के बाद जिस समय वह वातापी में सिंहासनारूढ़ हुआ, उस समय चालुक्यों का राज्य गृह युद्ध की चपेट में था और सर्वत्र अराजकता व्याप्त थी। पुलकेशिन-द्वितीय ने संकट की इस घड़ी में साहस और दृढ़संकल्प से काम लिया। धीरे-धीरे उसने न सिर्फ अपने विरोधियों पर विजय पाई, बल्कि अपने राज्य को अपनी दिग्विजय से दक्कन की एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफलता पाई। पुलकेशिन-द्वितीय अपनी उपाधि सत्याश्रय के नाम से ख्यात था। उसने वल्लभ, पृथ्वीवल्लभ एवं श्रीपृथ्वीवल्लभ नामक उपाधियाँ भी धारण की। हर्षवर्धन के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् उसने परमेश्वर नामक उपाधि धारण की।

ऐहोल अभिलेख से पुलकेशिन-द्वितीय के सैन्य अभियानों की विस्तृत जानकारी मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि मंगलेश की हत्या के कुछ पूर्व गृह युद्ध का लाभ उठाकर कुछ सामंतों एवं नायकों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। पुलकेशिन-द्वितीय ने एक-एक कर उन सबों को उसकी अधीनता स्वीकार करने हेतु विवश किया। गोविंद एवं अप्पायिक नाम के उसके दो विरोधी मंगलेश की हत्या से उत्पन्न असमंजस की स्थिति में अपनी सेना सहित भीमा नदी तक आ पहुँचे थे। पुलकेशिन ने ऐसी स्थिति में कूटनीति का सहारा लिया। उसने गोविंद को अपना मित्र बनाकर उसके सहयोग से अप्पायिक को पराजित करने में सफलता पाई। नीलकंठ शास्त्री का मत है कि गोविंद एवं अप्पायिक का ऐहोल अभिलेख में जिस रूप में उल्लेख हुआ है, उससे वे कोई सामंत अथवा सैन्य नायक प्रतीत होते हैं तथा उनका किसी राजवंश से कोई संबंध नहीं था। उल्लेखनीय है कि फ्लीटगोविंद एवं अप्पायिक को एक ही व्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार अभिलेख में उल्लिखित गोविंद एवं अप्पायिक एक ही व्यक्ति के नाम हैं। किंतु अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। इसके अतिरिक्त आर.जी. भंडारकर गोविंद को राष्ट्रकूटों से संबंधित मानते हैं। उनका तर्क है कि राष्ट्रकूटों की वंशावली में गोविंद नाम का बार-बार प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार, अपने गृह प्रांत में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के बाद पुलकेशिन-द्वितीय ने अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध सैन्य अभियानों का प्रारंभ किया। सर्वप्रथम उसने दक्षिण में स्थित कदंब वंश की राजधानी, वनवासी पर आक्रमण कर उसपर विजय पाई। दक्षिणी कर्नाटक के आलुप एवं मैसूर के गंग

कदंब राजवंश के मित्र थे। इसलिए वनवासी पर विजय के बाद पुलकेशिन-द्वितीय ने इनपर भी आक्रमण कर इन्हें पराजित किया। आलुप दक्षिणी कर्नाटक के सरदारों का एक परिवार था, जिन्होंने सदियों से इस क्षेत्र में शासन किया था।

इसके बाद पुलकेशिन ने अपनी नौसेना द्वारा आक्रमण कर उत्तरी कोंकण के मौर्यों को पराजित किया और एलिफैंटा के द्वीप पर अवस्थित उनकी राजधानी पुरी पर अपना अधिकार स्थापित किया। पुरी, जिसे पश्चिमी सागर की लक्ष्मी कहते थे, एक समृद्ध पत्तन नगर था। इसके पश्चात् लाट, मालव और गुर्जरों ने पुलकेशिन-द्वितीय की अधीनता स्वीकार की और इस प्रकार चालुक्य राज्य की सीमा मही नदी तक बढ़ गई। नीलकंठ शास्त्री का मत है कि दक्षिणी गुजरात के लाट, मालव एवं गुर्जरों ने पुलकेशिन-द्वितीय की अधीनता उत्तर भारत में हर्षवर्धन की तेजी से बढ़ती हुई शक्ति के कारण स्वीकार की।

लाट, मालव और गुर्जरों के बाद ऐहोल अभिलेख में पुलकेशिन-द्वितीय द्वारा हर्ष पर विजय का वर्णन है। हुआन सांग ने भी इस युद्ध का वर्णन किया है। हर्षवर्धन कन्नौज का राजा था किंतु शीघ्र ही उसने स्वयं को उत्तर भारत की सर्वोच्च शक्ति के रूप में स्थापित कर लिया था। इसके बाद उसने नर्मदा नदी के दक्षिण में अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहा, जिसका पुलकेशिन-द्वितीय ने विरोध किया। पुलकेशिन के विरुद्ध युद्ध में हर्ष को भारी नुकसान का सामना करना पड़ा। उसने बड़ी संख्या में अपने हाथी गँवाए। पुलकेशिन ने हर्ष की सेना को नर्मदा नदी से दक्षिण की ओर बढ़ने का कोई अवसर नहीं दिया। उसने विंध्य के पर्वतीय प्रदेश में अपने हाथी नहीं भेजे, बल्कि दर्रों एवं घाटियों की सुरक्षा के लिए उसने पैदल सैनिकों की कई शक्तिशाली टुकड़ियाँ तैनात की। हुआन सांग भी इन तथ्यों की पुष्टि करता है। वह कहता है कि हर्षवर्धन ने पश्चिम एवं पूर्व में कई आक्रमण किए और दूर अथवा निकट स्थित सभी प्रदेशों ने उसकी अधीनता स्वीकार की, किंतु पुलकेशिन-द्वितीय ने उससे कभी हार नहीं मानी। रविकीर्ति भी स्पष्ट रूप से कहता है कि हर्ष पुलकेशिन-द्वितीय को पराजित कर पाने में असमर्थ रहा, यद्यपि उसके नेतृत्व में एक विशाल सेना ने पुलकेशिन-द्वितीय पर आक्रमण किया। संभवत: पुलकेशिन-द्वितीय के विरुद्ध हर्षवर्धन का यह अभियान उसके विजयी जीवन का एकमात्र अपवाद था।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन और हर्ष के बीच नर्मदा नदी के तट पर यह युद्ध 612 ई. के पूर्व हुआ। हुआन सांग भी इस बात की पुष्टि करता है। वह कहता है कि हर्षवर्धन के प्रथम छह वर्ष (606-12 ई.) युद्धों एवं अभियानों से भरे रहे किंतु उसके शासनकाल के बाकी वर्ष अपेक्षाकृत अधिक शांतिपूर्ण रहे। हुआन सांग ने दक्कन की यात्रा 642 ई. में की। इस प्रकार हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि 612 ई. के पूर्व स्थापित शक्ति-संतुलन अगले तीस वर्षों तक निर्विघ्न बना रहा, किंतु इसके बावजूद, जैसा आर. मुखर्जी कहते हैं, दक्षिण का परमेश्वर उत्तर के परमेश्वर द्वारा पुनः किसी शक्ति-प्रदर्शन के प्रयासों की संभावना के प्रति हमेशा सजग बना रहा।

इस युद्ध का कोई निश्चित कारण सामने नहीं आ सका है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार इस युद्ध के मूल में पुलकेशिन-द्वितीय एवं हर्षवर्धन, दोनों ही राजाओं द्वारा गुजरात में अपने-अपने साम्राज्य के विस्तार का प्रयास था। इसके अतिरिक्त, यह मत भी व्यक्त किया गया है कि हर्षवर्धन की बढ़ती हुई शक्ति के कारण लाट, मालव और गुर्जरों के साथ-साथ वलभी के मैत्रकों ने भी पुलकेशिन-द्वितीय की अधीनता स्वीकार कर ली, ताकि हर्ष के विरुद्ध उन्हें उसकी मदद मिल सके और इस प्रकार जिस तरह से इस संघ का गठन हुआ उससे हर्ष ने पुलकेशिन-द्वितीय के विरुद्ध आक्रमण करने का निर्णय लिया।

हर्ष की पराजय पश्चिमी दक्कन में पुलकेशिन-द्वितीय के अभियानों का चरमोत्कर्ष था। रविकीर्ति के शब्दों में,‘‘पश्चिमी दक्कन में अपनी विजयों के परिणामस्वरूप पुलकेशिन-द्वितीय का तीन महाराष्ट्रों

पर अधिकार हो गया।'' इतिहासकारों का अनुमान है कि गुजरात से दक्षिणी मैसूर तक विस्तीर्ण पुलकेशिन-द्वितीय के साम्राज्य में सम्मिलित तीन महाराष्ट्र से महाराष्ट्र, कोंकण एवं कर्नाटक का द्योतन होता है।

हर्ष पर अपनी विजय के पश्चात् पुलकेशिन ने अपने अनुज विष्णुवर्धन को अपने गृह प्रदेश का उत्तरदायित्व सौंपा और पूर्वी दक्कन में अपने अभियानों की शुरुआत की। रविकीर्ति ने उत्तर से दक्षिण की ओर जिस क्रम में पुलकेशिन-द्वितीय के अभियानों का उल्लेख किया है, उससे उसकी दिग्विजय दक्कन की प्रदक्षिणा जैसी प्रतीत होती है। संभव है कि पुलकेशिन-द्वितीय ने इस क्रम में विजय प्राप्त नहीं की हो, किंतु इस विषय में अन्य स्रोतों के अभाव में रविकीर्ति द्वारा निर्दिष्ट क्रम को मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है।

सर्वप्रथम उसने दक्षिण कोसल एवं कलिंग पर विजय प्राप्त की। इसके बाद चालुक्यों की सेना समुद्रतटीय मार्ग का अनुसरण करती हुई दक्षिण की ओर गई जहाँ सर्वप्रथम पिष्टपुर के दुर्ग पर आक्रमण कर उसकी विजय की गई। इसके बाद पुलकेशिन-द्वितीय ने वेंगी पर आक्रमण किया। वेंगी उस समय विष्णुकुंडिनों के अधीन था। उन्होंने पुलकेशिन का विरोध किया, लेकिन उन्हें पराजित होना पड़ा। पुलकेशिन के आक्रमण के समय आंध्रप्रदेश में विष्णुकुंडिन ही सबसे बड़ी शक्ति के रूप में विराजमान थे और कलिंग एवं पिष्टपुर उनके प्रभाव क्षेत्र में थे।

विष्णुकुंडिनों के दक्षिण में कांची के पल्लवों का राज्य था। उस समय कांची में महेंद्रवर्मन प्रथम का शासन था। ऐहोल एवं काशक्कुदी अभिलेखों से पता चलता है कि पुलकेशिन-द्वितीय पल्लवों पर आक्रमण करता हुआ पल्लवों की राजधानी, कांचीपुरम से पंद्रह मील उत्तर पुल्ललूर तक चला आया था। वह कांची पर विजय प्राप्त नहीं कर सका, पर इतना निश्चित था कि उसने पल्लवों के राज्य के उत्तरी प्रांतों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। नीलकंठ शास्त्री का मत है, "पुल्ललूर का यह युद्ध पल्लवों और चालुक्यों के मध्य दीर्घकालिक संघर्ष का प्रारंभ था, जिसकी नींव पुलकेशिन-द्वितीय एवं महेंद्र वर्मन प्रथम के काल में रखी गई।"

पुल्ललूर युद्ध के पश्चात् पुलकेशिन-द्वितीय अपनी राजधानी बादामी लौट गया। तत्पश्चात् उसने अपने अनुज विष्णुवर्धन को पूर्वी दक्कन भेजा, ताकि चालुक्यों की शक्ति नवविजित प्रदेश में दृढ़तापूर्वक स्थापित हो सके। तिम्मापुरम अभिलेख से ज्ञात होता है कि कालांतर में पुलकेशिन-द्वितीय एवं विष्णुवर्धन के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अंतर्गत विष्णुवर्धन की सेवाओं को ध्यान में रखकर, पुलकेशिन ने विष्णुवर्धन एवं उसके उत्तराधिकारियों को चालुक्य राज्य के पूर्वी प्रदेशों का एकमात्र शासक नियुक्त किया। विष्णुवर्धन के पुत्र जयसिंह-प्रथम ने वातापी से संबंध विच्छेद कर लिया और इस तरह वेंगी के पूर्वी चालुक्यों की स्वतंत्र शाखा की स्थापना हुई। बाद में कुलोत्तुंग प्रथम के शासनकाल में 1070 ई. में पूर्वी चालुक्यों का चोल साम्राज्य में विलय हो गया।

अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए पुलकेशिन-द्वितीय ने कूटनीति का भी सहारा लिया। पूर्वी दक्कन की अपनी दिग्विजय के बाद लगभग 625-26 ई. में उसने अपना एक दूतमंडल फारस के दरबार में भेजा। फारसी इतिहासकार तबारी के अनुसार, "पुलकेशिन-द्वितीय ने फारस के राजा खुसरो द्वितीय के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध रखे।' तबारी कहता है कि पुलकेशिन-द्वितीय ने पत्रों एवं उपहारों सहित अपने दूतमंडल फारस के दरबार में भेजे। फारस के राजा ने भी अपना दूतमंडल पुलकेशिन-द्वितीय के दरबार में भेजा होगा, किंतु इस विषय में कोई जानकारी नहीं है। इतिहासकारों की मान्यता है कि अजंता के एक चित्र में फारस के दूतमंडल का चालुक्य दरबार में स्वागत होते हुए दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त

अजंता में ही एक अन्य चित्र को खुसरो एवं उसकी पत्नी शिरीन का निरूपण माना गया है। स्टेन कोनों अजंता के इन चित्रों को फारस के साथ किसी भी रूप में संबद्ध करना उचित नहीं मानते हैं। फिर भी, यह निर्विवाद है कि तबारी के साक्ष्य में किसी भी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं है।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन-द्वितीय 631 ई. में पुनः पूर्वी दक्कन आया। इस बीच कांची में महेंद्रवर्मन के स्थान पर नरसिंह्वर्मन प्रथम (630-668 ई.) सिंहासनारूढ़ हो चुका था। पल्लव अभिलेखों में स्पष्ट उल्लेख है कि पुलकेशिन-द्वितीय ने एक बार फिर पल्लवों पर आक्रमण किया, किंतु नरसिंहवर्मन ने पुलकेशिन-द्वितीय को परियल, मणिमंगल और शूरमार सहित कई युद्धों में पराजित किया। इनमें सिर्फ मणिमंगल की पहचान की जा सकी है, जो कांची से लगभग 20 मील दूर पूर्व दिशा की ओर अवस्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलकेशिन-द्वितीय के आक्रमण से एक बार फिर पल्लवों की राजधानी कांची पर संकट के बादल मँडराने लगे थे। किंतु नरसिंहवर्मन ने कई युद्धों के पश्चात् पुलकेशिन-द्वितीय को अपने राज्य से खदेड़ भगाया। इन युद्धों में नरसिंहवर्मन को सिंहली राजकुमार मानवर्मा का साथ मिला था। सिंहली स्रोतों के अनुसार इस मदद के पुरस्कार स्वरूप नरसिंहवर्मन ने मानवर्मा को श्रीलंका में राजा बनने में मदद की।

पुलकेशिन-द्वितीय के शासन काल के अंतिम वर्षों में चीनी तीर्थयात्री हुआन सांग ने दक्कन एवं दक्षिण भारत की यात्रा की। हुआन सांग की मुख्य रुचि बौद्ध धर्म में थी, भारतीय राजनीति में नहीं। फिर भी, उसने जो कुछ लिखा है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वह कहता है कि पुलकेशिन-द्वितीय क्षत्रिय था। वह अत्यंत परोपकारी था तथा प्रजा सहर्ष उसकी आज्ञा का पालन करती थी। उसके सामंत भी उसके प्रति स्वामिभक्ति रखते थे। वह हर्ष एवं पुलकेशिन के बीच हुए संघर्ष से परिचित था। वह चालुक्य राज्य के निवासियों के विषय में कहता है कि वे ईमानदार तथा विद्याप्रेमी थे।

नरसिंहवर्मन-प्रथम के शासनकाल में पल्लवों पर पुलकेशिन-द्वितीय का आक्रमण चालुक्यों के लिए पहले आक्रमण की अपेक्षा अधिक विनाशकारी सिद्ध हुआ। मणिमंगलम के युद्ध के पश्चात् नरसिंहवर्मन ने अच्छी तरह समझ लिया कि उसे अपने राज्य की सुरक्षा के लिए कुछ ठोस कदम उठाने की आवश्यकता थी। उसने पुलकेशिन-द्वितीय के विरुद्ध एक आक्रामक योजना बनाई और उसके कार्यान्वयन के लिए 642 ई. में अपने सेनापति शिरूतोंड के नेतृत्व में पल्लवों की एक विशाल सेना वातापी भेजी, जो चालुक्यों के राज्य में अत्यंत फुर्ती से बढ़ती हुई चालुक्यों की राजधानी वातापी पहुँच गई और उसे अपने अधिकार में ले लिया।

चालुक्यों के लिए यह एक गहरा आघात था। बादामी में मल्लिकार्जुन के मंदिर के पीछे एक चट्टान पर पल्लव लिपि में उत्कीर्ण एक अभिलेख आज भी इस बात का प्रमाण है कि पल्लवों ने अपने विरोधी चालुक्यों की राजधानी वातापी पर अपना अधिकार स्थापित करके पुलकेशिन-द्वितीय द्वारा कांची को दो बार जोखिम में डालने का अंततः भयंकर प्रतिशोध लिया। इसके पश्चात् पुलकेशिन-द्वितीय का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

4.1.7. पुलकेशिन-द्वितीय के उत्तराधिकारी एवं चालुक्य राजवंश का अंत

642 से 654 ई. तक चालुक्य साम्राज्य में अराजकता की स्थिति बनी रही। इस बीच वहाँ शासन की बागडोर किसके हाथ में थी, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस अवधि में वहाँ पल्लवों का ही शासन था। अन्य इतिहासकारों ने भी येबूर अभिलेख के आधार पर यह कहा है कि पुलकेशिन की मृत्यु के पश्चात् बादामी में अमर और आदित्यवर्मन चालुक्य राजवंश के शासक नहीं थे। संभवतः वे पल्लवों के प्रतिनिधि अथवा सामंत थे।

654 ई. के आसपास विक्रमादित्य-प्रथम (654-680 ई.) ने अपने नाना गंग नरेश दुर्विनीत की मदद से अपने पैतृक साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने में सफलता पाई। विक्रमादित्य-प्रथम पुलकेशिन-द्वितीय का द्वितीय, किंतु प्रिय पुत्र था; इसलिए उसे राज्य का उत्तराधिकार मिला। पुलकेशिन-द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र चंद्रादित्य-प्रथम किसी दूरस्थ प्रांत का प्रशासक बनाया गया, जबकि पुलकेशिन-द्वितीय के एक अन्य पुत्र जयसिंह को विक्रमादित्य-प्रथम के द्वारा पल्लवों के विरुद्ध युद्ध में उसकी सहायता देने के पुरस्कारस्वरूप लाट या दक्षिणी गुजरात का प्रशासक बनाया गया।

विक्रमादित्य-प्रथम के शासन-काल में पल्लव-चालुक्य संघर्ष जारी रहा। अभिलेखों के अनुसार, विक्रमादित्य-प्रथम ने महेंद्रवर्मन द्वितीय एवं परमेश्वरवर्मन को युद्ध में परजित किया, जबकि पल्लवों के साक्ष्य यह घोषित करते हैं कि परमेश्वरवर्मन ने विक्रमादित्य-प्रथम पर विजय पाई। संभवत: ऐसा इसलिए है क्योंकि पल्लवों और चालुक्यों के मध्य युद्ध दीर्घकाल तक चला और विजय कभी चालुक्यों को मिली तो कभी पल्लवों को।

विक्रमादित्य-प्रथम का उत्तराधिकारी विनयादित्य सत्याश्रय (680-696 ई.) था। अभिलेखों में उसका 'सकलोत्तरापथनाथ' अथवा समस्त उत्तर भारत के सम्राट के रूप में उल्लेख है। यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है, क्योंकि अन्य किसी स्रोत से इसकी पुष्टि नहीं होती है। संभवत: उसने परवर्ती गुप्तवंश के शासक आदित्यसेन के किसी उत्तराधिकारी के विरुद्ध सैन्य विजय हासिल की। विनयादित्य सत्याश्रय का उत्तराधिकारी विजयादित्य (696-733 ई.) था। बादामी के चालुक्य राजाओं में उसने सबसे लंबी अवधि तक शासन किया। उसका शासनकाल सर्वाधिक शांतिपूर्ण तथा धन एवं समृद्धि से परिपूर्ण था। विजयादित्य के उत्तराधिकारी विक्रमादित्य द्वितीय के शासनकाल (733-747 ई.) में चालुक्यों का पल्लवों के साथ संघर्ष एक बार फिर प्रारंभ हो गया। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लव राजा नंदीवर्मन को पराजित कर कांची पर अधिकार कर लिया। विक्रमादित्य के शासनकाल में अरबों का आक्रमण हुआ। अरबों ने सिंध और उसके आसपास के क्षेत्रों पर अधिकार कर दक्कन की ओर बढ़ना प्रारंभ कर दिया। किंतु विक्रमादित्य द्वितीय ने उन्हें रोकने में सफलता पाई।

बादामी के चालुक्य राजवंश का अंतिम राजा कीर्तिवर्मन-द्वितीय (747-753 ई.) था। कीर्तिवर्मन-द्वितीय पांड्य शासक मारवर्मन राजसिंह। द्वारा वेणवयी के युद्ध में पराजित हुआ था। लगभग उसी समय दंतिदुर्ग , जो बादामी के चालुक्यों का सामंत था, ने कीर्तिवर्मन-द्वितीय को पराजित किया और 753 ई. में स्वयं को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। इस तरह बादामी के चालुक्य राजवंश का अंत हो गया और राष्ट्रकूट वंश की स्थापना हुई।

4.1.8. सिंहविष्णु द्वारा स्थापित वंश के पल्लव

छठी सदी का अंतिम चतुर्थांश पल्लवों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण है। इस अवधि के प्रमुख ऐतिहासिक साक्ष्य पाषाण अभिलेख एवं साहित्य हैं, जिनसे तत्कालीन राजनैतिक अभिरचनाओं का स्पष्ट ज्ञान होता है। साहित्यिक स्रोतों में 'तेवाराम', 'नालाभिर प्रबंधम', मत्तविलास प्रहसन', 'नंदिक्कलंबगम' तथा 'अवंतिसुंदरी कथा' प्रमुख हैं, जो अभिलेखीय स्रोतों से प्राप्त जानकारी की पुष्टि करते हैं। चीनी यात्री हुआन सांग का वृत्तांत भी पल्लव इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पल्लव राजवंश का वास्तविक संस्थापक सिंहविष्णु था, जो अवनिसिंह के नाम से ख्यात था। 'मत्तविलास प्रहसन' से उसके विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। काशाक्कुड़ी अभिलेख में उसकी सैन्य शक्ति का गुणगान है। इसमें इस बात का उल्लेख है कि उसने कावेरी नदी से आगे तक अपने राज्य का विस्तार किया था। इसके साथ ही, उसने कलभ्रों सहित कई द्रविड़ राजाओं पर भी विजय प्राप्त की थी।

वातापी के चालुक्य राजा मंगलेश के शासनकाल में जारी महाकूट स्तंभ अभिलेख में शासकों की एक लंबी सूची है, जिन्हें कीर्तिवर्मन-प्रथम चालुक्य ने पराजित किया था। महालिंगम इस अभिलेख में उल्लिखित 'द्रमिल' का अर्थ 'पल्लव' मानते हैं और कहते हैं कि कीर्तिवर्मन एवं सिंहविष्णु के बीच एक संघर्ष हुआ था। उनके अनुसार दोनों शासक महत्त्वाकांक्षी थे और वे अपने-अपने राज्यों की सीमा का विस्तार करना चाहते थे। किंतु महालिंगम के इस मत को स्वीकार कर लेने में एक कठिनाई यह है कि यह पूर्णतः 'द्रमिल' शब्द की पहचान पर आधारित है, जिसका अर्थ पल्लव न होकर सामान्य रूप से 'तमिल' भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त सिंहविष्णु के शासनकाल में पल्लव-चालुक्य संघर्ष का कोई और साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। उल्लेखनीय है कि पल्लव-चालुक्य संघर्ष का स्पष्ट उल्लेख पहली बार पुलकेशिन-द्वितीय के ऐहोल अभिलेख में मिलता है। सिंहविष्णु की वैष्णव धर्म में आस्था थी। इसके साथ ही, वह संस्कृत कवि भारवि का संरक्षक था जिन्होंने 'किरातार्जुनीयम्' की रचना की।

महेंद्रवर्मन सिंहविष्णु का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। यद्यपि उसके राज्यारोहण की तिथि विवादास्पद है, नरसिंहवर्मन-प्रथम के वातापी अभिलेख के आधार पर उसके शासनकाल की परवर्ती सीमा 630 ई. नियत की जा सकती है। महेंद्रवर्मन-प्रथम के शासनकाल में पल्लवों और चालुक्यों के बीच दीर्घकालिक संघर्ष शुरू हुआ। इसका कारण राजनीतिक था। ऐहोल अभिलेख में उल्लिखित है कि पुलकेशिन-द्वितीय के उत्कर्ष का पल्लवों ने प्रारंभ से ही विरोध किया था। इसका कारण यह था कि पुलकेशिन-द्वितीय ने अपनी दिग्विजय के क्रम में कदंबों को पराजित करके वेंगी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उल्लेखनीय है कि कदंबवंशीय राजाओं का पल्लव नरेशों के साथ घनिष्ठ संबंध था। वस्तुतः पल्लवों की संरक्षकता में ही कदंबवंश एक स्वतंत्र राज्य के रूप में विकास कर रहा था। ऐसी स्थिति में वेंगी पर चालुक्यों का अधिकार होना पल्लवों के लिए एक खतरनाक बात थी, क्योंकि कदंबों के माध्यम से पल्लवों द्वारा अपने शत्रु गंगवंशीय राजाओं पर नियंत्रण रखना संभव हो पाता था। कदंबों की पराजय से चालुक्य और गंग के रूप में दो प्रबल विपक्षी खड़े हो गए थे। इसी कारण महेंद्रवर्मन-प्रथम ने पुलकेशिन-द्वितीय का विरोध किया। किंतु संघर्ष के प्रथम चरण में महेंद्रवर्मन को सफलता नहीं मिली। ऐहोल अभिलेख के अनुसार पुलकेशिन-द्वितीय ने महेंद्रवर्मन-प्रथम को पराजित किया। यद्यपि इस पराजय से पल्लवों को अपने राज्य का उत्तरी भाग गँवा देना पड़ा, महेंद्रवर्मन-प्रथम ने शीघ्र ही अपनी इस पराजय का बदला लिया। पल्लवों के काशाक्कुडी अभिलेख से पता चलता है कि महेंद्रवर्मन-प्रथम ने अपने 'प्रमुख शत्रु' को कांची के निकट पुल्ललूर में एक युद्ध में पराजित किया। चूँकि इस अभिलेख में महेंद्रवर्मन-प्रथम के प्रतिद्वंद्वी के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, इसलिए कुछ विद्वान इस 'प्रमुख शत्रु' को गंगवंशीय राजा मानते हैं किंतु अन्य इतिहासकारों का मत है कि पुल्ललूर में चालुक्यों एवं पल्लवों के बीच ही युद्ध हुआ और इसमें महेंद्रवर्मन ने पुलकेशिन-द्वितीय को पराजित किया।

पल्लवों और चालुक्यों के बीच अंतहीन शत्रुता का एक परिणाम यह हुआ कि पल्लवों ने वेंगी सहित अपने राज्य के उत्तरी भाग पर अपना अधिकार खो दिया, जहाँ पुलकेशिन-द्वितीय के अनुज ने एक राजवंश की स्थापना की। इसे पूर्वी चालुक्य वंश कहा जाता है।

एक शैव संकलन, 'पेरिय पुराणम्' के अनुसार, महेंद्रवर्मन-प्रथम प्रारंभ में जैन था। बाद में उसकी इस धर्म के प्रति अनास्था हो गई और संत अप्पार के प्रभाव से वह शैव हो गया था, किंतु वैष्णव धर्म के प्रति भी उसके मन में समान आदर का भाव था। मंडगपट्टू मंदिर स्थित अभिलेख में उल्लिखित है कि उसने इस मंदिर का निर्माण ब्रह्मा, ईश्वर और विष्णु के सम्मान में किया। कांची स्थित एकंबरनाथ मंदिर पर महेंद्रवर्मन की एक उपाधि, 'नृपचूड़ामणि' का उल्लेख है। इसी मंदिर की एक भित्ति पर निर्वाण और ध्यान

की मुद्रा में बुद्ध का चित्र अंकित है। इससे संकेत मिलता है कि महेंद्रवर्मन-प्रथम के शासनकाल में बौद्ध धर्म को भी राजकीय संरक्षण प्राप्त था।

महेंद्रवर्मन-प्रथम की एक उपाधि थी- चेत्तकारी या चैत्यकारी, अर्थात् चैत्य या मंदिरों का निर्माता। ऐसा उसे इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसने दक्षिण भारत में चट्टानों और पहाड़ों को तराश कर मंदिर बनाने की प्रथा प्रारंभ की। अपने धर्म परिवर्तन के पश्चात् उसने पहाड़ों को काटकर वल्लम् महेंद्रवाड़ी एवं दलवनूर में एकाश्म मंदिरों का निर्माण करवाया। महालिंगम के अनुसार, महेंद्रवर्मन ने मंडगपट्टु, पल्लावरम, सिंयमंगलम् कुरंगनिलमुतमप् विलाप्पाक्कम एवं अरकंडनल्लूर आदि स्थानों में भी पहाड़ों को काटकर कई संरचनाएँ बनवाई। उसने महेंद्रवाड़ी में एक बड़े तालाब का भी निर्माण करवाया था।

महेंद्रवर्मन बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। उसने स्वयं 'मत्तविलास प्रहसन' नामक एक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें उसने शैव और बौद्ध तपस्वियों की कमजोरियों और मूर्खता को उपहास का विषय बनाया है। उसकी एक उपाधि 'चित्रकारप्पुलि' थी, जिससे संकेत मिलता है कि उसके समय में चित्रकला को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। उसने चित्रकला पर भी 'दक्षिण चित्र' नामक एक ग्रंथ की रचना की थी। बहुमुखी प्रतिभा के कारण ही वह 'विचित्रचित्त' के नाम से भी जाना जाता था।

नरसिंहवर्मन-प्रथम अपने पिता महेंद्रवर्मन-प्रथम का उत्तराधिकारी था। वह उच्च कोटि का योद्धा था और इस दृष्टि से उसका उपनाम महामल्ल सर्वथा उचित था। उसने अपने शासनकाल में पल्लव राज्य को प्रायद्वीपीय भारत की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। परमेश्वरवर्मन-प्रथम के कूरम अभिलेख में उल्लिखित है कि नरसिंहवर्मन-प्रथम ने पुलकेशिन-द्वितीय को मणिमंगलम सहित तीन युद्धों में पराजित किया। मणिमंगलम कांची से20 मील पूर्व अवस्थित था। इसलिए ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि महेंद्रवर्मन-प्रथम की मृत्यु के पश्चात् पुल्ललूर में अपनी पराजय की प्रतिक्रिया स्वरूप पुलकेशिन-द्वितीय ने कांची पर आक्रमण किया, किंतु नरसिंहवर्म्म के द्वारा वह स्वयं ही पराजित हो गया।

पुलकेशिन-द्वितीय को पराजित करने के पश्चात् नरसिंहवर्मन-प्रथम ने चालुक्यों के विरुद्ध एक आक्रामक योजना बनाई और इसके कार्यान्वयन के लिए उसने अपने सेनापति शिरू तोंड, जिसका उपनाम 'परन जोति' था, के नेतृत्व में एक सेना चालुक्यों की राजधानी वातापी भेजी। पल्लवों ने 642 ई. में वातापी पर विजय प्राप्त की और पुलकेशिन-द्वितीय मारा गया। पेरियपुराणम् और वेलूरपाल्यम अभिलेख के अनुसार इस विजय की स्मृति में वातापी में एक कीर्ति-स्तंभ स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त नरसिंहवर्मन ने स्वयं वातापीकोंड (वातापी का विजेता) की उपाधि धारण की। इस ऐतिहासिक विजय का चालुक्यों पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। इससे चालुक्यों के राज्य में अराजकता व्याप्त हो गई और लगभग 13 वर्षों तक चालुक्यों का शासन समाप्त हो गया।

नरसिंहवर्मन-प्रथम का सिंहल अभियान उसकी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। उसने सिंहली राजकुमार को श्रीलंका का राजसिंहासन प्राप्त करने में मदद की। महावंश के अनुसार मानवर्मा राजच्युत हो गया था और कांची चला आया था। उसने चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध में नरसिंहवर्मन को सहयोग प्रदान किया था। इसी से प्रसन्न होकर नरसिंहवर्मन ने उसे अनुराधापुर में पुनः राजा बनने में मदद की। नरसिंहवर्मन-प्रथम ने मामल्लई से दो नौसैनिक अभियान श्रीलंका भेजे। इन नौसैनिक अभियानों का काशाक्कुदी अभिलेख में उल्लेख है, जहाँ लंका की विजय के संदर्भ में नरसिंहवर्मन-प्रथम की तुलना राम से की गई है।

कुछ विद्वानों के अनुसार नरसिंहवर्मन ने महाबलिपुरम की स्थापना की। महालिंगम इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि पल्लव राजा और नगर के नामों में समानता के आधार पर यह कहना उचित नहीं है कि महाबलिपुरम की स्थापना नरसिंहवर्मन मामल्ल ने की थी। वे कहते हैं कि मल्ल की उपाधि अन्य पल्लव राजाओं ने भी धारण की। उसके अनुसार, महाबलिपुरम दूसरी-तीसरी सदी के वैष्णव संतों को इसी नाम से ज्ञात था। श्रीनिवासन के अनुसार,''महालिंगम के तर्क अंशतः सत्य हैं। उनके अनुसार यद्यपि महाबलिपुरम पल्लवों के पूर्व अस्तित्व में आ चुका था, यह नरसिंहवर्मन-प्रथम के शासनकाल में ही एक पत्तन नगर एवं सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकसित हुआ।'

नरसिंहवर्मन के शासनकाल में चीनी तीर्थयात्री हुआन सांग ने कांची की यात्रा की। उसने अपने यात्रा वृत्तांत में तोंडमंडमल एवं कांची का विवरण दिया है। यद्यपि कांची के संबंध में उसके विवरण में कई विसंगतियाँ और परस्पर विरोधी तथ्य सम्मिलित हैं, फिर भी कांची में निवास करने वालों की जीवन-शैली, परंपराओं आदि के संबंध में वह महत्वपूर्ण जानकारी देता है।

परमेश्वरवर्मन-प्रथम का राज्यारोहण पल्लवों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि उसके शासनकाल में ही चालुक्यों के साथ पल्लवों का संघर्ष अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। गड़वाल अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमेश्वरवर्मन-प्रथम का समकालीन चालुक्य शासक विक्रमादित्य-प्रथम था, जिसने परमेश्वरवर्मन-प्रथम (ईश्वर पोतराज) को पराजित कर पल्लव परिवार को नष्ट किया और कांची पर अपना अधिकार स्थापित किया। विक्रमादित्य-प्रथम का युद्ध शिविर कावेरी के दक्षिणी तट पर उरगपुर नामक स्थान में अवस्थित था और यह अभिलेख इसी शिविर से 674 ई. में जारी किया गया था।

दूसरी ओर, पल्लवों के साक्ष्य परमेश्वरवर्मन-प्रथम की विजय का संकेत देते हैं। संभवतः परमेश्वरवर्मन-प्रथम विक्रमादित्य-प्रथम द्वारा अपनी पराजय का प्रतिशोध लेने में समर्थ रहा। परमेश्वरवर्मन-प्रथम के कूरम अभिलेख में कहा गया है कि परमेश्वरमर्वन द्वारा विक्रमादित्य के लाखों सैनिक पराजित हुए और स्वयं विक्रमादित्य समर भूमि से भाग गया। वेलूरपाल्यम अभिलेख में भी परमेश्वरवर्मन-प्रथम की सफलता का संकेत है। इसमें कहा गया है कि जैसे ''सूर्य कोहरों का विनाश करता है, उसी प्रकार परमेश्वरवर्मन-प्रथम ने अपने शत्रुओं का विनाश किया।'' उदयेदिरम अभिलेख के अनुसार, परमेश्वरवर्मन-प्रथम और विक्रमादित्य-प्रथम का यह निर्णायक युद्ध पेरूवडवल्लूर में हुआ जो संभवतः उरगपुर के आसपास ही अवस्थित था। परमेश्वरवर्मन-प्रथम शैव था और शिव के सम्मान में उसने कई मंदिर बनवाए। उसने पत्थरों को तराश कर मंदिर बनाने की परंपरा कायम रखी। इसके साथ ही उसने ग्रेनाइट के पाषाण-खंडों की मदद से संरचनात्मक मंदिरों का भी निर्माण करवाया।

परमेश्वरवर्मन का उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन-द्वितीय राजसिंह था। उसका शासनकाल शांति और समृद्धि का काल था। उसने मंदिरों के निर्माण में विशेष रुचि दिखाई। वह विद्वानों का संरक्षक था। प्रसिद्ध कवि और नाटककार भास ने उसके दरबार को सुशोभित किया। कांची स्थित कैलाशनाथ एवं ऐरावतेश्वर मंदिर, महाबलिपुरम स्थित समुद्रतट मंदिर तथा पनमलै स्थित तालपुरीश्वर मंदिरजैसी श्रेष्ठ वास्तुकलात्मक कृतियों का निर्माण नरसिंहवर्मन-द्वितीय ने ही करवाया था। कैलाशनाथ मंदिर स्थित अभिलेखों के अनुसार उसकी मुख्य रानी, रंगपताका ने भी इस मंदिर के निर्माण में गहरी रुचि ली थी।

राजसिंह के अभिलेख तथा काशाक्कुदी एवं उदयेंदिरम अनुदान पत्रों से ज्ञात होता है कि उसके शासनकाल में शैव धर्म अपने चरमोत्कर्ष पर था। इसे राजकीय संरक्षण प्राप्त था। उल्लेखनीय है कि नरसिंहवर्मन ने 'श्रीशंकर भक्त' एवं 'शिव चूड़ामणि' जैसी उपाधियाँ धारण की थीं। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि शंकराचार्य उसके समकालीन थे, यद्यपि यह संदिग्ध है।

नरसिंहवर्मन-द्वितीय ने चीनी व्यापारियों के लिए नागपट्टनम में बौद्ध विहार का निर्माण करवाया था। चीनी स्रोतों के अनुसार, नरसिंहवर्मन-द्वितीय ने 720 ई. में चीन के सम्राट के पास अपने दूत भेजे। पल्लव एवं चीनी अरबों एवं तिब्बतियों को समान रूप से अपना शत्रु समझते थे, क्योंकि वे दक्षिण पूर्व एशिया के राज्यों के साथ उनके राजनीतिक एवं व्यापारिक संबंधों में व्यवधान उपस्थित करते थे। इसलिए जब नरसिंहवर्मन-द्वितीय ने अरबों एवं तिब्बतियों को दमन करने का निश्चय किया तो उसे चीन के सम्राट का भी सहयोग प्राप्त हुआ।

नरसिंहवर्मन-द्वितीय का उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मन-द्वितीय था। वह सिंह विष्णु की परंपरा का अंतिम शासक था। चालुक्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि युवराज विक्रमादित्य ने 730 ई. में कांची पर आक्रमण किया था। इस आक्रमण में गंग वंश ने चालुक्यों का साथ दिया था। इसमें गंग सेना का नेतृत्व श्रीपुरुष के पुत्र ऐरेयप्प ने किया था। संभवतः ऐरेयप्प के साथ ही एक युद्धमें परमेश्वरवर्मन-द्वितीय मारा गया।

परमेश्वरवर्मन-द्वितीय की मृत्यु से पल्लव राज्य में राजनैतिक असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो गई। ऐसी परिस्थिति में पल्लवों की संपार्श्विक शाखा प्रबल हो गई और राज्य के प्रमुख व्यक्तियों का शिष्टमंडल नंदिवर्मन-द्वितीय, जो सिंहविष्णु के भाई का वंशज था, से मिला और उससे अनुरोध किया कि वह पल्लवों का राजत्व स्वीकार कर लें। कांची स्थित वैकुंठ पेरूमल मंदिर की मूर्तियाँ और अभिलेख स्पष्ट संकेत देते हैं कि नंदिवर्मन ने जो परमेश्वरवर्मन-द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् पल्लवों का राजा बना, पल्लवों का राज्य अनधिकार ग्रहण नहीं किया। काशक्कुडी अभिलेख में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि नंदिवर्मन-द्वितीय को राजा के पद के लिए प्रजा द्वारा वरण किया गया था।

राज्यारोहण के पश्चात् नंदिवर्मन को पांड्य राजा मारवर्मन राजसिंह के नेतृत्व में तमिल राजाओं के एक संघ के विरोध का सामना करना पड़ा। वस्तुतः पांड्य राजवंश का पल्लवों के साथ बहुत पहले से ही तनावपूर्ण संबंध था, किंतु इनके बीच वास्तविक संघर्ष की परिस्थिति नंदिवर्मन-द्वितीय के राज्यारोहण से प्रस्तुत हुई। पल्लवों के प्रतिद्वंद्वियों की दृष्टि में यह एक ऐसाअवसर था, जब वे अपनी परंपरागत शत्रुता और विद्वेष को व्यक्त कर सकते थे। उनका अनुमान था कि नंदिवर्मन-द्वितीय द्वारा सिंहविष्णु की आनुवंशिक परंपरा का उल्लंघन राज्य की जनता के बीच लोकप्रिय नहीं होगा और नंदिवर्मन-द्वितीय को अपदस्थ करके तथा पल्लव वंश के परंपरागत प्रतिनिधि, परमेश्वरवर्मन-द्वितीय के पुत्र चित्रमाय को पल्लवों का राजा बनाकर वे पल्लव राज्य की राजनीति पर स्थायी रूप से अपना प्रभाव जमा सकेंगे। उसी उद्देश्य से समकालीन पांड्य राजा राजसिंहप्रथम ने चित्रमाय को शरण दी। पांड्य अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजसिंह ने पल्लवों को तंजोर के आसपास कई स्थानों पर पराजित किया। वेल्वीकुडी अभिलेख के अनुसार, राजसिंह ने नंदिवर्मन-द्वितीय को नंदिपुर दुर्ग में कैद कर लिया था, किंतु शीघ्र ही नंदिवर्मन के सेनापति उदयचंद्र ने उसे मुक्ति दिलाई। उदयचंद्र ने अपनी विजय-शृंखला द्वारा तमिल राजाओं के संघ को विच्छिन्न कर दिया। इस संघर्ष में चित्रमाय भी मारा गया। इस प्रकार नंदिवर्मन-द्वितीय को पल्लव राजसिंहासन के एक प्रबल दावेदार से मुक्ति मिली।

अपने शासन के अंतिम वर्ष में दंतिदुर्ग, जो राष्ट्रकूट राजवंश का संस्थापक तथा नंदिवर्मन-द्वितीय का समकालीन था, ने कांची पर आक्रमण कर इस पर अपना अधिकार स्थापित किया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार बाद में यह शत्रुता मैत्री में परिणत हो गई। दंतिदुर्ग और नंदिवर्मन-द्वितीय के बीच एक वैवाहिक संधि हुई, जिसके अंतर्गत राष्ट्रकूट राजकुमारी रेवा का विवाह नंदिवर्मन-द्वितीय से हुआ।

फिर भी, पल्लव-राष्ट्रकूट मैत्री स्थायी सिद्ध नहीं हो सकी। बाद में भी पल्लवों एवं राष्ट्रकूटों के बीच युद्ध होते रहे।

प्रख्यात समकालीन संत तिरूमंगइ आलवार की रचनाओं से ज्ञात होता है कि नंदिवर्मन-द्वितीय उच्च कोटि का विद्वान और विष्णु का परम भक्त था। उसके द्वारा निर्मित मंदिरों में कांची स्थित वैकुंठ पेरूमल मंदिर और मुक्तेश्वर मंदिर महत्वपूर्ण हैं। उल्लेखनीय है कि मुक्तेश्वर मंदिर में पूजा तिरूक्कुरिप्पुत्तोंडर द्वारा की जाती थी, जो धोबी समुदाय का सदस्य था।

दंतिवर्मन नंदिवर्मन-द्वितीय का उत्तराधिकारी था। वह नंदिवर्मन-द्वितीय एवं रेवा का पुत्र था। उसके शासनकाल में दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप में राष्ट्रकूट, पांड्य एवं चोल राजवंश का प्रमुख शक्तियों के रूप में उत्थान हुआ। इसके साथ ही, कांची ने अपना राजनैतिक महत्व खो दिया।

दंतिवर्मन का उत्तराधिकारी नंदिवर्मन-तृतीय था। तमिल प्रशस्ति नंदिक्कलंबगम में नंदिवर्मन-तृतीय को तेल्लारू संग्राम का विजेता बताया गया है। इसकी पुष्टि नंदिवर्मन-तृतीय के 'तेल्लाररिण्ड' उपाधि से होती है, जो उसके अनेक अभिलेखों पर अंकित है। दंतिवर्मन के शासनकाल में पांड्य राजा वर्गुण-द्वितीय ने पल्लव राज्य के दक्षिण प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पांड्य राजा पल्लव राज्य के अन्य प्रदेशों को भी अधिकृत करने का प्रयास कर रहा था। अभिलेखों और नंदिक्लम्बगम से स्पष्ट है कि नंदिवर्मन-तृतीय ने पांड्य आक्रमणों का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया। उसने कांची के पास तेल्लारू नामक स्थान में न सिर्फ पांड्यों की बढ़ती सेना को रोका, बल्कि उसे बुरी तरह पराजित भी किया।

अपराजितवर्मन अंतिम महत्वपूर्ण पल्लव शासक था। उसने 880 ई. में गंग वंश के राजा पृथ्वीपति-। की सहायता से कुम्भकोणम के निकट श्रीपुरंवियम के युद्ध में पांड्य राजा वर्गुण-द्वितीय को पराजित किया। अंततः चोल राजा आदित्य-प्रथम ने 903 ई. के आसपास अपराजितवर्मन को पराजित कर तोंडमंडलम को अपने राज्य में मिला लिया। अभिलेखों से अपराजितवर्मन के पश्चात् कुछ अन्य पल्लव राजाओं की जानकारी मिलती है, किंतु उनकी कोई उपलब्धियाँ ज्ञात नहीं हैं और न ही पल्लव वंशावली में उनका स्थान निश्चित है।

4.1.9. पल्लवों की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

4.1.9.1. स्थापत्य एवं मूर्तिकला

वास्तुकला की द्रविड़ शैली की स्थापना पल्लवों के शासन काल में हुई। पल्लवों के शासनकाल में वास्तुकला कंदरा कला के प्रभाव से मुक्त हुई और प्रस्तर खंडों से बने स्वतंत्र अथवा संरचनात्मक मंदिरों का निर्माण प्रारंभ हुआ। दूसरे शब्दों में, पल्लव कलाकारों ने वास्तुकला के इतिहास में शैलकृत वास्तुकला एवं संरचनात्मक मंदिरों के मध्य सेतु का कार्य किया। पल्लवों केशासनकाल में वास्तुकला की जिस शैली का विकास हुआ, उसे चार श्रेणियों में विभाजित किया जाता है–

(i) महेंद्रवर्मन शैली (600-640 ई.)

महेंद्रवर्मन शैली में निर्मित मंदिरों को मंडप कहा जाता है। प्रत्येक मंडप एक स्तंभयुक्त विशाल कक्ष है, जिसे पर्वतीय चट्टानों को छील-तराश कर 'शैलकृत विधि' से बनाया गया है। इन मंडपों के उदाहरण पल्लावरम एवं दलवनूर नामक स्थानों में उपलब्ध हैं।

महेंद्रवर्मन के शासनकाल के अंतिम वर्षों में सादे मंडपों से हटकर कुछ भिन्न रचनाएँ हुई जैसे– इंडवल्ली का अनंतशायिन मंदिर तथा भैरवकोंडा मंदिर समूह। अनंतशायिन मंदिर की रचना बौद्ध विहारों

पर आधारित है। इसमें एक के ऊपर एक चार स्तंभयुक्त कक्ष हैं और इसे देखने पर पिरामिड का भ्रम होता है। भैरवकोंडा स्थित मंदिर महेंद्रवर्मन शैली की अंतिम और अपेक्षाकृत अधिक विकसित रचनाएँ हैं।

महेंद्रवर्मन शैली पर्वतीय चट्टानों को काटकर गुफा अथवा कंदरा आदि का रूप देने की पारंपरिक शैली से भिन्न थी। तोंडमंडलम में अपेक्षाकृत अधिक घनत्व वाली शिलाओं को उत्कीर्ण करना कठिन था। स्वाभाविक रूप से इस कठिनाई का प्रभाव शैली पर भी पड़ा। इसी कारण महेंद्रवर्मन शैली के गुफा मंडप चालुक्यों के गुफा मंदिरों की अपेक्षा अधिक संकीर्ण एवं कम अलंकृत हैं।

(ii) मामल्ल शैली (640-700 ई.)

मामल्ल शैली का प्रमुख केंद्र मामल्लपुरम अथवा महाबलिपुरम नामक नगर था, जिसकी स्थापना नरसिंहवर्मन-प्रथम ने की थी। यहाँ समुद्री तट पर कठोर पत्थर की चट्टाने हैं, जिन्हें तराश कर एकाश्म गुफाओं, मंदिरों और मूर्तियों का रूप दिया गया है। मामल्ल शैली के अंतर्गत दो प्रकार के मंदिरों का निर्माण किया गया- (क) मंडप एवं (ख) रथ।

मामल्ल शैली के मंडप पूरी तरह पहाड़ों एवं चट्टानों को काटकर बनाए गए हैं किंतु वे मंडप महेंद्रवर्मन शैली के मंडपों की अपेक्षा अधिक अलंकृत हैं। इन मंडपों की विशेषता इनके स्तंभ हैं, जो सिंहों के सिर पर अवस्थित हैं और जिनके शीर्ष भाग मंगल घट के आकार के हैं। मामल्ल शैली के उल्लेखनीय मंडप हैं– वाराह मंडप, महिषासुर मंडप तथा पंच-पांडव मंडप, आदि।

मामल्ल शैली के दूसरे प्रकार के मंदिरों को रथ कहा जाता है। ये एकाश्म मंदिर हैं। इनमें से प्रत्येक शिलाखंड को ग्रेनाइट से काट-तराश कर बनाया गया है। इनमें कहीं कोई जोड़ नहीं हैं और ये रथों की अनुकृति प्रतीत होते हैं। वे रथ मध्यम आकार के हैं और उनमें से कोई भी 42' लंबा, 35' चौड़ा और 40' ऊँचा से अधिक नहीं है। पश्चिमी कला समीक्षकों ने मामल्ल शैली के इन रथों को 'सप्त पैगोडा' या 'सप्त रथ' नाम दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन रथों के भीतरी भाग का निर्माण कार्य अपूर्ण रह गया और उनमें कभी किसी ने पूजा नहीं की। पर्सी ब्राउन इन रथों के विषय में कहते हैं,''शिल्पी अपने औजार छोड़कर सदा के लिए यहाँ से चले गए और ये मंदिर अपूर्ण रहकर पूजा के अयोग्य रह गए।' संभव है कि ये रथ बड़े आकार में बनाए जाने वाले मंदिरों की लघु प्रतिकृति या मॉडल के रूप में बनाए गए होंगे।

मामल्ल शैली के रथों में द्रौपदी रथ महज एक कोष्ठ है। अन्य सभी रथ बौद्ध विहार अथवा चैत्य की अनुकृति हैं। विहार की तरह दिखने वाले रथों में धर्मराज रथ महत्वपूर्ण है। यह अपने समूह का विशालतम रथ है, जिसका आधार वर्गाकार है और शिखर पिरामिड के आकार का है। इसमें तीन मंजिल हैं और आधार तल में दो गर्भगृह हैं। चैत्य की तरह दिखने वाले रथों में भीम रथ एवं गणेश रथ प्रमुख हैं। ये आयताकार हैं और इनके शिखर ढोलाकार हैं।

(iii) राजसिंह शैली (700-800 ई.)

नरसिंहवर्मन-प्रथम के साथ पहाड़ों को काटकर मंदिर बनाने की शैली का अंत हो गया और उसके स्थान पर प्रस्तर अथवा पाषाण खंडों की मदद से चिनाई विधि द्वारा स्वतंत्र रूप से निर्मित अथवा संरचनात्मक मंदिरों का निर्माण प्रारंभ हुआ। इसके फलस्वरूप इच्छित स्थान पर इच्छित आकार के भवनों एवं मंदिरों का निर्माण संभव हो सका। राजसिंह शैली में निर्मित मंदिरों के उदाहरण निम्नलिखित हैं– (क) समुद्रतट मंदिर (मामल्लपुरम), (ख) ईश्वर मंदिर (मामल्लपुरम), (ग) मुकुंद मंदिर (मामल्लपुरम), (घ) पन्नमलाई मंदिर (अरकाट), (ड़) कैलाशनाथ मंदिर (कांचीपुरम), (च) वैकुंठ पेरूमल मंदिर (कांचीपुरम)। इनमें समुद्रतट मंदिर, कैलाशनाथ मंदिर एवं वैकुंठ पेरूमल मंदिर अधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये निर्माण के विकासक्रम को निरूपित करते हैं।

मामल्लपुरम स्थित समुद्रतट मंदिर राजसिंह शैली का प्रथम मंदिर है। यह मंदिर धर्मराज रथ का विकसित रूप प्रतीत होता है। दक्षिण भारतीय मंदिरों में 'गोपुरम' तथा चारों ओर 'प्राकारम' बनाने का उदाहरण सर्वप्रथम यहीं मिलता है। पूर्वाभिमुखी इस मंदिर को समुद्र तट के ठीक किनारे इसलिए बनाया गया होगा ताकि सूर्य की प्रथम किरणें मंदिर के गर्भगृह में पड़े। समुद्रतट मंदिर का गर्भगृह वर्गाकार है तथा शिखर पिरामिड के आकार का हैं, जिसमें ऊपर के खंड नींचे के खंडों से क्रमशः छोटे होते जाते हैं। इस मंदिर में भी पल्लवों की विशिष्ट पहचान सिंहभूम स्तंभों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

समुद्रतट मंदिर के कुछ समय बाद कांची में कैलाशनाथ मंदिर का निर्माण हुआ। इस मंदिर का अधिकांश भाग राजसिंह के शासनकाल में बना और इसके निर्माण में राजसिंह की रानी रंगपताका ने गहरी रुचि ली थी। विष्णु को समर्पित तथा तीन मंजिलों वाला यह मंदिर पल्लव वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। पर्सी ब्राउन इसे एक शिव मंदिर मानते हैं। कैलाशनाथ मंदिर का आधार आयताकार है और इसका शिखर पिरामिड के आकार का है। पल्लव वास्तुकला की सभी विशिष्टताएँ, जैसे– मंडपों के सिंह स्तंभ, पिरामिड के आकार का शिखर और गोपुरम इस मंदिर में विद्यमान हैं। मंदिर परिसर में प्रवेश एक छोटे गोपुरम से होकर है, जिसके ऊपर वेसर शैली की गजपृष्ठाकार छत है।

पल्लव वास्तुकला का सर्वाधिक परिपक्व उदाहरण कांची स्थित वैकुंठपेरूमल मंदिर है। यह एक विष्णु मंदिर है। क्रिस्टोफर टैडगेल के अनुसार, पल्लवों की यह प्रायः अंतिम रचना है और आकार में कैलाशनाथ मंदिर से बड़ी है। वर्गाकार भू-विन्यास वाले इस मंदिर की विशेषता यह है कि इसके गर्भगृह, गर्भगृह और मंदिर के बीच का अंतराल, मंडप तथा गोपुरम सभी एक दूसरे से संबद्ध हैं और वे एक ही भवन के अभिन्न अंग जैसे प्रतीत होते हैं।

(iv) नंदिवर्मन मंदिर शैली (800-900 ई.)

प्रस्तर खंडों से निर्मित स्वतंत्र अथवा संरचनात्मक मंदिर शैली के अंतिम चरण में वे मंदिर आते हैं जो नंदिवर्मन और उसके उत्तराधिकारियों के काल में बने। ये मंदिर आकार में छोटे और पूर्व के मंदिरों की नकल मात्र प्रतीत होते हैं। इस शैली के मंदिरों के वास्तु विन्यास में कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं किया गया, केवल पूर्व परंपराओं का निर्वाह किया गया है। इस शैली में कोई नवीनता नहीं है, किंतु स्तंभ शीर्षों का अधिक विकास हुआ है। नंदिवर्मन शैली के प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं– कांची स्थित मुक्तेश्वर एवं मांगतेश्वर मंदिर।

पल्लवों के शासनकाल में वास्तुकला के अतिरिक्त मूर्तिकला एवं संगीत कला का भी विकास हुआ। मंडपों, रथों एवं समुद्रतट मंदिर के अतिरिक्त महाबलिपुरम में शैल फलकों पर बहुत बड़ी संख्या में रिलीफ चित्रों को उत्कीर्ण किया गया हैं। मूर्तिकला की दृष्टि से इनका विशेष महत्व है। यहाँ का एक चित्र समूह 'अर्जुन की तपस्या' शीर्षक से प्रसिद्ध है। इसमें एक संन्यासी को तपस्या की मुद्रा में लीन दिखाया गया है, जिसके सामने चतुर्मुखी शिव खड़े हैं। चंद्रमा, सूर्य, अप्सराओं, गायकों आदि को इनकी ओर बढ़ते हुए दिखाया गया है। कुछ इतिहासकार इस दृश्य को भगीरथ एवं गंगावतरण की कथा से संबद्ध करते हैं।

एक अन्य रिलीफ चित्र दो विशाल हाथियों के हैं, जिसे 'अर्जुन की तपस्या' नामक चित्रसमूह के निकट ही एक चट्टान पर उत्कीर्ण किया गया है। इसी प्रकार समुद्रतट मंदिर के निकट एक अन्य विशाल चट्टान पर दुर्गा की अष्टभुजी प्रतिमा, द्वारपाल तथा नारी की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। पर्सी ब्राउन के अनुसार,''महाबलिपुरम की मूर्तिकला में एक मर्मस्पर्शी संवेगात्मक गुण विद्यमान है। यहाँ के रिलीफ

चित्रों में उल्लेखनीय संयम तथा सादगी के दर्शन होते हैं।'' महाबलिपुरम से यह मूर्ति-शिल्प अपने समस्त गुणों के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया के कई प्रदेशों में पहुँचा।

4.1.9.2. संगीत एवं नाटक

पल्लव राजाओं ने संगीत और नाटक के प्रति अपनी रुचि दिखाई। इतिहासकारों की मान्यता है कि पल्लवों की राजसभा में भास और शूद्रक के नाटकों का नियमित रूप से मंचन होता था। संगीत के प्रति उनकी अभिरुचि का ज्ञान नरसिंहवर्मन-द्वितीय की उपाधियों से होता है, जिसने वाद्यविहार एवं वीणानारद जैसी उपाधियाँ धारण की थीं।

महेंद्रवर्मन-प्रथम की एक उपाधि 'चित्र कारप्पुलि' थी। इससे संकेत मिलता है कि उसके समय में चित्रकला को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। उसने चित्रकला पर 'दक्षिण चित्र' नामक एक ग्रंथ की रचना भी की थी।

4.1.9.3. शिक्षा एवं साहित्य

पल्लवों का शासनकाल साहित्यिक उन्नति का काल था। पल्लव राजाओं ने अनेक विद्वानों को संरक्षण दिया था। उदाहरणार्थ, सिंहविष्णु संस्कृत कवि भारवि का संरक्षक था, जिसने किरातार्जुनीयम् की रचना की। इसी प्रकार, प्रसिद्ध कवि दंडी, जिन्होंने दशकुमारचरित एवं काव्यादर्श की रचना की, नरसिंहवर्मन-द्वितीय की राजसभा में थे। नंदिवर्मन-द्वितीय भी साहित्य एवं संस्कृति का संरक्षक था। उसने प्रसिद्ध तमिल कवि पेरूंदेवनार को आश्रय दिया था, जिन्होंने 'भारतवेणवा' की रचना की थी। स्वयं महेंद्रवर्मन-प्रथम ने 'मत्तविलास प्रहसन' नामक ग्रंथ की रचना की थी, जिसमें उसने कापालिक और बौद्ध भिक्षुओं को उपहास का विषय बनाया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि 'भगवदज्जुकीय' नामक प्रहसन की रचना भी महेंद्रवर्मन ने ही की।

पल्लवों के समय उनकी राजधानी, कांची दक्षिण भारत में शिक्षा एवं संस्कृति का एक प्रमुख केंद्र थी। यहाँ प्रख्यात बौद्ध विद्वान दिङ्नाग अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्यास बुझाने आया था। मयूराशर्मन, जिसने कदंब राजवंश की स्थापना की, ने कांची में ही अपना वैदिक अध्ययन पूरा किया था। प्रख्यात बौद्ध विद्वान धर्मपाल भी कांची का था, पर इन सबसे बढ़कर, कांची का महत्व इस बात में है कि भक्ति आंदोलन, जिसने संपूर्ण दक्षिण भारत में अपना प्रभाव स्थापित किया, का उद्गम-स्थल कांची ही था। संत अप्पार एवं तिरूज्ञान संबंदर के प्रयासों से बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का दक्षिण भारत में धीरे-धीरे पतन हो गया और शैव धर्म को पुनः लोकप्रियता मिली। कई पल्लव राजा शिव के उपासक थे, किंतु उन्होंने वैष्णव धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई और वैष्णव धर्म आलवार संतों के प्रयासों से खूब फला-फूला। इस प्रकार, कह सकते हैं कि कांची ने दक्षिण भारत के धार्मिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

4.1.10. सारांश

बादामी के चालुक्य राजवंश का उद्भव रहस्यों से घिरा हुआ है। इस संबंध में अभिलेखों अथवा साहित्य में जिन दंतकथाओं का उल्लेख है, उनके आधार पर किसी ठोस नतीजे पर पहुँचना सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त बादामी के चालुक्यों का प्रारंभिक इतिहास भी बहुत स्पष्ट नहीं है। उनके प्रारंभिक राजा जयसिंह एवं रणराग के शासनकाल की कोई महत्वपूर्ण घटना ज्ञात नहीं है। वस्तुतः पुलकेशिन प्रथम को ही चालुक्य राजवंश का संस्थापक माना जाना चाहिए, जिसने राजधानी के रूप में बादामी का चुनाव उसके सामरिक महत्व के कारण किया। चालुक्य राजवंश का सबसे महान शासक पुलकेशिन-द्वितीय था,

जिसकी रणनीति के सामने हर्ष की भी नहीं चली और पुलकेशिन-द्वितीय के विरुद्ध उसका आक्रमण पूर्णतः असफल रहा। पल्लवों का उद्भव भी प्राचीन भारतीय इतिहास की सर्वाधिक विवादग्रस्त समस्याओं में से एक रहा है। इस संबंध में विभिन्न इतिहासकारों के मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पल्लवों का मूल स्थान तोंडमंडलम ही था।

पल्लवों और चालुक्यों के बीच प्रारंभ से ही संघर्ष होते रहे। दोनों ही राजवंश दक्षिण भारत में अपनी सर्वोच्चता स्थापित करना चाहते थे। नरसिंह-प्रथम के शासनकाल में पल्लवों की शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। 642 ई. में नरसिंहवर्मन-प्रथम ने चालुक्यों की राजधानी वातापी पर विजय प्राप्त की और उसका प्रतिद्वंद्वी पुलकेशिन-द्वितीय मारा गया, किंतु 741-42 ई. के आसपास विक्रमादित्य-द्वितीय चालुक्य ने नंदिवर्मन-द्वितीय को पराजित कर कांची पर अपना अधिकार स्थापित किया। इतिहासकारों का मत है कि विक्रमादित्य-द्वितीय चालुक्य की इस विजय से दक्षिण भारतीय राजनीति में पल्लवों की अवनति आरंभ हुई। अंततः अपराजितवर्मन, जिसने पांड्य राजा वर्गुण-द्वितीय को श्रीपुरंवियम के युद्ध में पराजित किया, स्वयं चोल राजा आदित्य-प्रथम के द्वारा 903 ई. के आसपास पराजित हुआ और इस प्रकार पल्लवों का तोंडमंडलम चोल राज्य में मिला लिया गया।

कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में पल्लवों की उपलब्धियाँ अत्यंत मूल्यवान हैं। उदाहरणार्थ, वास्तुकला की द्रविड़ शैली का विकास उनके शासनकाल में ही हुआ और उन्होंने दक्षिण भारत में शैलकृत वास्तुकला एवं संरचनात्मक मंदिरों के मध्य सेतु का काम किया।

4.1.11. बोध प्रश्न

1. पुलकेशिन-द्वितीय की दिग्विजय का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।
2. चालुक्यों के उद्भव से संबंधित विभिन्न विचारों का विश्लेषण करते हुए उनके प्रारंभिक इतिहास पर प्रकाश डालिए।
3. 'पुलकेशिन-प्रथम चालुक्य राजवंश का वास्तविक संस्थापक था'। इस वक्तव्य की विवेचना कीजिए।
4. पल्लवों के उद्भव संबंधी विभिन्न सिद्धांतों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. ''पल्लवों का राजनीतिक इतिहास वातापी के चालुक्यों के साथ उनके संघर्ष का इतिहास है।'' विवेचना कीजिए।
6. प्राचीन एवं पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राजनीति में पल्लवों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
7. पल्लवों की सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
8. वास्तुकला के क्षेत्र में पल्लवों की देन पर विचार कीजिए।

4.1.12. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. शास्त्री, नीलकंठ, अनुवादक: वर्मा, वीरेन्द्र (1996), दक्षिण भारत का इतिहास, पटना
2. मजूमदार, आर.सी. (सं.) (1990), द हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ द इंडियन पिपुल, वॉल्यूम-III (द क्लासिकल एज), बम्बई
3. भंडारकर, आर.जी. (1957), अर्ली हिस्ट्री ऑफ डेकन, कलकत्ता
4. याज्दानी, जी. (1960), द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेकन, लंदन
5. सरकार, डी.सी. (1939), सक्सेसर्स ऑफ द सातवाहन्स, कलकत्ता

6. गोपालन, आर. (1928), हिस्ट्री ऑफ द पल्लवाज ऑफ कांची, मद्रास
7. आयंगर, एस. कृष्णस्वामी (1911), एंसिएंट इंडिया, मद्रास

खंड - 4 गुप्तोत्तरकाल (दक्षिण भारत)
इकाई - 2 सामाजिक स्थिति

इकाई की रूपरेखा

4.2.1 उद्देश्य
4.2.2 प्रस्तावना
4.2.3 सामाजिक स्थिति
4.2.3.2 आहार और वेशभूषा
4.2.3.3 आमोद-प्रमोद
4.2.3.4 प्रकृति प्रेम
4.2.3.5 नारी की स्थिति
4.2.4 पल्लव काल
4.2.5 चालुक्य काल
4.2.6 चोल काल
4.2.7 राष्ट्रकूट काल
4.2.8 सारांश
4.2.9 बोध प्रश्न
4.2.9.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
4.2.9.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
4.2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.2.1उद्देश्य

भारतीय इतिहास में गुप्त काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से जाना जाता है। गुप्त सम्राटों ने लगभग 230 वर्षों तक भारत के राजनीतिक पटल पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुप्तकाल के पूर्वार्द्ध में भारत के सांस्कृतिक जीवन में जो पूर्णता आई उसकी कोई तुलना नहीं है, परंतु इस काल में भारत में जो सांस्कृतिक चेतना जागृत हुई, वह गुप्तकाल की समाप्ति पर भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई। गुप्त राजवंश के पतन के बाद भी उनके शासन से प्रभावित सांस्कृतिक संस्कारों की शृंखला गुप्तोत्तर काल तक बनी रही। अतः इसी शृंखला को ध्यान में रखकर प्रस्तुत इकाई का 'गुप्तोत्तर दक्षिण भारतीय सामाजिक स्थिति' नामकरण किया गया है। अतः दक्षिण भारतीय गुप्तोत्तर सामाजिक स्थिति के संबंध में विभिन्न राजवंशों का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत करना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

4.2.2 प्रस्तावना

यह इकाई गुप्तोत्तर कालीन सम्राट् हर्ष के अतिरिक्त क्रमशः परवर्ती गुप्त राजवंश, मौखरी राजवंश की पुर्नस्थापना, कन्नौज-नरेश यशोवर्मन, बंग एवं गौड़ के राजवंश, कामरूप के वर्मन राजवंश, कश्मीर के कर्कोट राजवंश, वलभी के मैत्रक राजवंश, माहिष्मती के कलचुरी राजवंश एवं लाट के गुर्जर राजवंश से संबंधित हैं। वस्तुतः उत्तरी भारत के उत्तरी पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में शासन करने वाले इन प्रमुख राजवंशों के सामाजिक और आर्थिक इतिहास को एक साथ क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास है। इस इकाई

में गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारत के गौरवशाली राजवंशों के सामाजिक जीवन का इतिहास संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इकाई में आधारभूत साक्ष्यों को मूलरूप में प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयास किया गया है तथा सामाजिक संस्थाओं का चित्रण समीक्षात्मक पद्धति पर किया गया है, जिससे वे अधिक से अधिक बोधगम्य बन सकें।

4.2.3 सामाजिक स्थिति

गुप्तोत्तर कालीन समाज में मुख्यता उन व्यक्तियों का बाहुल्य था जो स्वयं भूमि को जोतकर कृषि करते थे और जो अप्रत्यक्ष रूप से भूमि पर निर्भर थे। इनके नीचे कृषि के भूमिहीन श्रमजीवी (कुदीस) थे। तमिल साहित्य में इनके चार समुदायों, पाणान, सुडीयन, परयन और कदंबन का उल्लेख है। कदाचित् ये समुदाय जनसाधारण का निम्न वर्ग था और आज ये दक्षिण भारत में अछूत जातियों के नाम से विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त समाज में विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोग थे जैसे लुहार, बढ़ई या सुतार, स्वर्णकार, जुलाह आदि। इसके बाद समाज की मलवर, नाग, आदि जातियों का उल्लेख साहित्य में उपलब्ध होता है। संभवतः मलवर व नाग वन्य जीवन व्यतीत करते थे, आखेट करते थे और कभी-कभी जल-मार्गों पर लोगों को लूटते भी थे। मलवर लोग युद्ध और संघर्ष करने में बड़े निपुण थे। समुद्र तट और नदी तट पर मछुए रहते थे जिनका स्तर समाज में निम्न श्रेणी का था। कृषक हष्ट-पुष्ट, सशक्त और साहसी होते थे। वे युद्ध के समय सैनिक बनकर रणक्षेत्र में युद्ध भी करते थे। समाज में किसानों का बड़ा सम्मान था। वे अन्नदाता समझे जाते थे। प्रायः कृषक बड़े सुखी और संपन्न थे। फसल काटने के बाद वे भिन्न-भिन्न प्रकार के त्यौहार और उत्सव मनाते थे और नाच-गान तथा अन्य आमोद-प्रमोद में अपना समय व्यतीत करते थे। इस प्रकार से निर्मित समाज में ब्राह्मण उत्तरी भारत से आकर बस गए थे। अपने चरित्र की विशुद्धता और विद्या तथा ज्ञान की गहनता के कारण समाज में उन्हें अधिक प्रतिष्ठित पद प्राप्त हो गया था। वे बड़े सदाचारी और अल्पसंतोषी होते थे और अपना अधिकांश समय वेदाध्ययन, भजन-पूजन और यज्ञादि कर्म में व्यतीत करते थे। वे गायों को पालते थे और उनका जीवन सादा और सरल था। समाज में उनके अलग मुहल्ले थे जहाँ वे निवास करते थे और इन मुहल्लों और गलियों को ''अग्रहारम'' कहते थे और उनके निवास-गृहों को ''अकरम'' कहते थे। ब्राह्मण कभी-कभी मंत्री या आमात्य का कार्य भी करते थे और युद्ध काल में राजा की विजय के लिए भगवान से प्रार्थना करते थे। ब्राह्मणों के प्रभाव में अनेक तमिल नरेश क्षत्रिय बन गए थे और यज्ञ, अनुष्ठान आदि कर्म करने लगे थे। कई तमिल राजाओं के यज्ञ करने के कारण एक तमिल नरेश का नाम ही ''राजसूयमेवत्ता पेरूनईकिल्लि'' पड़ गया। कालांतर में ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण दक्षिण के राजाओं के नाम में भी परिवर्तन हो गए। शुद्ध तमिल नामों के स्थानों पर आर्यों के नाम आ गए। ईसा की चौथी सदी के पूर्व प्रायः सभी राजाओं के लंबे-लंबे शुद्ध तमिल नाम ग्रंथों में प्राप्त होते हैं परंतु उसके बाद आर्यों के नामों का प्रचार और प्रसार बढ़ गया।

समाज में धनसंपन्न समृद्ध व्यापारियों का भी एक वर्ग था। ये वणिक जाति के समान थे जिनका मुख्य व्यवसाय वाणिज्य-व्यापार था। ये जल और थल दोनों मार्गों से व्यापार करते थे। इन्होनें अपनी व्यापार-निपुणता से अपार धन-द्रव्य संचित किया था और राज्य में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

यद्यपि कालांतर में समाज की वैसी ही व्यवस्था हो गई थी जैसी उत्तरी भारत के आर्यों के समाज की थी, परंतु समाज के चार वर्ण या चार आश्रम तमिल देश में अज्ञात थे। प्रायः लोग अपने अपने धंधों और व्यवसायों के अनुसार समुदायों में विभक्त थे। साहित्य में आकस्मिक हवालों से इन समुदायों का विवरण प्राप्त होता है। विभिन्न जातियाँ अन्य दूसरी जातियों से स्पष्ट रूप से अलग-अलग जीवन

व्यतीत करती थीं। प्रत्येक का अपना धंधा और अधिकार था। अंतर्जातीय विवाह और खान-पान में प्रत्येक समुदाय के अपने-अपने नियम और प्रथाएँ थीं। अभी तक ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है जिससे यह प्रकट हो कि रीति-रीवाजों तथा आचार-विचारों को लोगों पर लादने का प्रयास किया गया हो या निम्न श्रेणियों को उच्च वर्गों में मिश्रित हो जोने की माँगे रही हों। बाद में विभिन्न वर्गों या जातियों का जो सम्मिश्रण हुआ, वह उन लोगों की श्रेष्ठ भावनाओं और उदाहरणों का परिणाम था जिनके ज्ञान और चरित्र के लिए जनसाधारण में श्रद्धा की भावना थी। अतः कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत की सामाजिक व्यवस्था संभवतः रक्त पेशे, धार्मिक विश्वास और वातावरण पर आश्रित थी।

4.2.3.2 आहार और वेशभूषा

गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारतीय लोगों का भोजन सादा और सरल था। भोजन में दूध, दही और माँस का उपयोग होता था तथा चावल और ज्वार से कई प्रकार के मिष्ठान बनाए जाते थे। प्रायः सभी वर्ग के लोग सुरापान करते थे। मदिरापान में उनकी अभिरूचि थी। राजा और राजकुमार कभी-कभी महँगी सुरा के पीने में मस्त रहते थे। इस प्रकार की सुरा यूनानी और रोमवासी दक्षिण भारत में लाते थे। सुरा के अतिरिक्त अन्य मादक द्रव्यों का भी उपयोग किया जाता था। चावल, शहद और ताड़ी से सुरा और मादक द्रव्य बनाए जाते थे।

गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारतीय लोगों की वेशभूषा सादी थी और इसमें दो वस्त्र होते थे, एक धोती और दूसरी पगड़ी। तमिल स्त्रियाँ चूड़ियाँ, अँगूठियाँ, हार, भुजबंद, कंदौरे, आयल आदि आभूषण पहनती थीं, संपन्न परिवारों की स्त्रियाँ एक प्रकार की रत्नजड़ित टोपी पहनती थीं तथा बड़े सुंदर, आकर्षक और बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र धारण करती थीं, ''जो साँप की केंचुली के समान कोमल और धुएँ के सदृश्य पतले होते थे।'' यद्यपि सूती, ऊनी और रेशमी सभी प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे, पर सूती वस्त्रों की विशेषता और प्रचुरता थी।

4.2.3.3 आमोद-प्रमोद

गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारतीय लोग मनोरंजन प्रिय, हँसमुख, खुशदिल और विनोदी होते थे। खेल-कूद तथा संगीत और नृत्य प्रचलित मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। प्रत्येक ग्राम में एक खुला विस्तीर्ण मैदान होता था जिसे ''आडुकलम'' या नृत्यशाला कहते थे। अवकाश के समय, उत्सव और समारोहों पर ग्रामवासी वहीं एकत्रित होकर नाच-रंग मनाते थे। नृत्य में ग्राम की स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं। नृत्य कई प्रकार के होते थे। इनमें आट्टम, कूत्तु और तलैकोल कुनिप्पु नृत्य प्रमुख थे। भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्यों का अभिनय होता था। आट्टम और कूत्तु से नवीन प्रकार के नृत्य का विकास हुआ जिसमें मूक-नृत्य होता था और नर्तक केवल आंगिक अभिनय से अपने हृदय के भावों को प्रदर्शित करते थे। इस प्रकार का नृत्य दक्षिण भारत में (विशेष रूप से केरल प्रदेश में) आज भी प्रचलित है और देवताओं के पूजन-अर्चन के समय भी नृत्य होता था। मुरूगन, मायोन और कौरेवै आदि देवताओं के उत्सवों में नृत्य और संगीत प्रधान रूप से होते थे। भावी संकटों से बचने के लिए नृत्य और संगी द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। ''कुरूवैक्कूत्तु'' नामक एक विशेष प्रकार का नृत्य होता था जिसमें ग्वालों द्वारा कृष्ण की पूजा की जाती थी। इसका तथा अन्य नृत्यों का उल्लेख 'शिलप्पधिकारम्' महाकाव्य में है। कहीं-कहीं मृत शरीर के चतुर्दिक खड़े होकर नाचने और गाने की प्रथा भी थी। दक्षिण भारत में आजकल भी यह प्रथा निम्न श्रेणी के लोगों में प्रचलित है। शवयात्रा के समय कुछ लोग अर्थी के आगे-आगे नाचते-गाते एवं ढोल, तुरही बजाते हुए जाते हैं। कुछ लोग गाने-बजाने और नृत्य करने का व्यवसाय भी करते थे। वीणा, मुरली, मृदंगम्, माल, ढोल आदि उस समय के प्रचलित वाद्ययंत्र थे।

कन्याओं को नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा पूर्ण होने पर राजा के सम्मुख अपनी योग्यता की परीक्षा देना पड़ती थी। और जो उसमें उत्तीर्ण होती थी उन्हें प्रमाण-पत्र दिए जाते थे। इन्हीं परंपराओं के कारण आज भी दक्षिण भारत के जीवन में संगीत और नृत्य का बहुत ऊँचा स्थान है और प्रायः कन्याओं को अन्य शिक्षा के साथ-साथ संगीत तथा नृत्य की शिक्षा दी जाती है।

4.2.3.4 प्रकृति प्रेम

गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारतीय लोग प्रकृति के बड़े प्रेमी और फूलों के बड़े शौकीन होते थे। प्रायः प्रत्येक ग्राम में फूलों और फलों का एक उद्यान होता था। स्त्री-पुरूष फूलों की मालाएँ और गजरे पहनते थे। शृंगार के हेतु फूलों के अतिरिक्त सुंदर कोमल पत्तियों का भी उपयोग होता था। रणक्षेत्र में भी फूलों का उपयोग होता था। प्रत्येक युद्धजीवी और वीर जाति का चिह्न एक पुष्प होता था और उस जाति के वीर युद्ध क्षेत्र में जाते समय पुष्प विशेष को अपने सिर में बाँधकर या उसकी माला पहनकर युद्ध करने जाते थे। उत्सवों और समारोहों में भी पुष्पों का प्रचुरता से उपयोग होता था। लोग शरीर पर चंदन लगाते थे। दक्षिण में फूलों के प्रचुर उपयोग और चंदन लगाने की प्रथा आज भी विद्यमान है।

4.2.3.5 नारी की स्थिति

समाज में नारियों का श्रेष्ठ और ऊँचा स्थान था। सामाजिक समारोहों, उत्सवों और कार्यों में वे स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेती थीं। ये सार्वजनिक नृत्यों में भी सम्मिलित होती थीं। बहु-विवाह की प्रथा कुछ अंशों तक प्रचलित थी। विवाह से पूर्व प्रेम करने की संभावना रहती थी और प्रेम-विवाहों का प्रचार था। कन्याएँ अपनी इच्छानुसार पति चुन सकती थीं। तमिल लोग नारी सौंदर्य के बड़े प्रशंसक थे। तमिल कवियों ने नारी के सौंदर्य का अत्यंत रोचक वर्णन अनेक स्थलों पर किया है।

समाज में वेश्यावृत्ति प्रचलित थी। सुरा और वेश्या समाज के आवश्यक अंग बन गए थे। पुहार, मदुरा आदि बड़े-बड़े नगरों में वेश्याओं की अलग गली होती थी जहाँ धनिकों के विलासमय जीवन का अधिकांश समय वेश्याओं के साथ क्रीड़ा करने और आमोद-प्रमोद में व्यतीत होता था।

4.2.4 पल्लव काल

पल्लवकालीन समाज के संबंध में सूचनाएँ पर्याप्त नहीं मिलतीं। यत्र-तत्र से प्राप्त सूचना के आधार पर समाज की केवल सामान्य रूपरेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। संगम युग की तरह कांची इस समय भी राजनीति और संस्कृति का प्रधान केंद्र था। यह एक व्यापारिक केंद्र भी था अतएव यहाँ की आबादी में प्रवासी या विदेशी जनसंख्या का अनुमान किया जा सकता है, जिसका परिणाम यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना पर अवश्य ही पड़ा होगा। किंतु सबसे अधिक प्रभावी परिवर्तन ब्राह्मणधर्म की व्यापकता के कारण हुआ। हिंदू धर्म के प्रभाव में आकर सामाजिक संरचना वर्ण-धर्म के आधार पर थी। अनेक अभिलेखों में राजाओं के वर्णाश्रम धर्म के संरक्षण की प्रशस्ति गायी गई है। वर्ण और जातियों का प्रभाव व्यवसायिक संरचना पर भी पड़ने लगा था। इस प्रकार बहुत से व्यवसाय जातिविशेष के ही दायित्व अथवा एकाधिकार के रूप में माने जाने लगे थे। प्रायः हीन उद्योग और व्यवसाय शूद्र या अल्प महत्व के वैश्यों के ही द्वारा संचालित होते थे। उच्च पेशों में वर्ण या जाति का एकाधिकार होते हुए भी उनमें परस्पर विपर्यय की संभावना रहती थी। कभी-कभी राजाओं को वर्णेत्तर व्यवसाय को नियंत्रित करने का प्रयास भी करना पड़ता है। फिर भी उत्तर भारत की अपेक्षा पेशों पर वर्ण और जाति का प्रभाव कम था। ब्राह्मणों का आजीव अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि 'शास्त्र' के अतिरिक्त 'शस्त्र' भी था। राजकर्मचारी, सैनिक अधिकारी के रूप में ब्राह्मणों का उल्लेख बराबर मिलता है। किंतु सामान्य रूप से ब्राह्मण 'दानवृत्ति' पर ही अपनी जीविका चलाते थे। विभिन्न मंदिरों,

'घट्टिकाओं' में वे विद्यादान करते थे और प्राप्त दान के आधार पर अपना और अपने शिष्यों का भरण पोषण करते थे। समाज का आर्थिक ढाँचा पूरी तरह कृषकों पर ही आधारित था। भूमिधर कृषकों, कारीगरों और व्यापारियों की अपेक्षा भूमिधर कृषक समाज में विशेष महत्व रखते थे। समाज की संरचना में भूमिहीन कृषकों की संख्या अधिक थीकिंतु मान्यता की दृष्टि से इन्हें अर्द्धदास भी कहा जा सकता था। इन्हें भूमिधर कृषकों के खेतों पर काम करने के लिए विवश किया जा सकता था और सामान्यतया वे ग्राम छोड़कर न तो अन्यत्र जा सकते थे और न अन्य कोई उपार्जन ही अपना सकते थे। समाज में स्त्रियों की दशा अच्छी थी। उन्हें आदर का स्थान प्राप्त था। उन्हें संपत्ति रखने का भी अधिकार था। संभ्रांतवर्ग की स्त्रियाँ शिक्षित होती थीं और पर्याप्त स्वतंत्रतावाद का उपभोग करती थीं। दान-धर्म संबंधीकार्यों के लिए वे स्वतंत्र थीं। बहुविवाह प्रचलित था, विशेषकर राजवर्ग में। पल्लवों का विभिन्न राजवंशों और सामंत कन्याओं के साथ विवाह का विशेष राजनीतिक महत्व भी होता था। सती प्रथा प्रचलित थी किंतु इसके उदाहरण कम मिलते हैं।

धनाढ्य वर्ग अपने अतिरिक्त अर्जन का उपयोग भोग-विलास में ही प्रायः करता था। किंतु धार्मिक कार्यों में भी उनकी रूचि होती थी। उनके द्वारा तालाब, कूप, पाठशाला, चिकित्सालय भी संचालित होते थे। मंदिरों तथा वहाँ संचालित होने वाली पाठशालाओं, घट्टिकाओं आदि का नियमित व्यय भी उनके अक्षय नीवि प्रकार के दान से चलता था। ये दान प्रायः व्यापारिक और आर्थिक गणों में जमा कर दिए जाते थे और उसके ब्याज से मंदिर आदि की व्यवस्था तथा शिक्षण संस्थानों का कार्य संचालित होता रहता था।

समाज की संरचना में ग्राम छोटी इकाई होते हुए भी महत्वपूर्ण इकाई थी ग्रामों के बसाव के अंतर्गत, आवास, बाग-बगीचे, मार्ग, बाजार, मंदिर, मठ होते थे। खेतिहर भूमि का प्रमुख वर्गीकरण सिंचित और असिंचित भूमि के आधार पर होता था। ग्राम भूमि का महत्वपूर्ण अंग चारागाह भी होता था। चारागाह पर सामूहिक और खेतों पर व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व का विधान था। इसी प्रकार खलिहान भी सार्वजनिक हुआ करते थे। ताबाल, नदी, नहर भी सार्वजनिक उपयोग के लिए थे। ग्रामों की आबादी बहुजातीय थी। यहाँ तक कि 'अग्रहार' अथवा 'ब्रह्मदेय' ग्रामों में भी अन्य जातियों के लोग बसा करते थे।

4.2.5 चालुक्य काल

सामाजिक व्यवस्था में पारंपरिक वर्ण और जाति का विशेष असर था। ब्राह्मणों का समाज में सर्वाधिक आदर था। किंतु सामाजिक परिवेश में गृहस्थ, आदरणीय थे जो कि इन्हीं के आचरण पर समाज में आचार व्यवस्था और धार्मिक कृति, यथा दान, उत्सव आदि निर्भर करते थे। विभिन्न धर्मों के तीर्थों की चर्चा इस युग में खूब मिलती है। ब्राह्मणधर्म के दो विशेष संप्रदाय-वैष्णव और शैव सर्वत्र मान्य थे। जैनियों का भी विशेष आदर था। किंतु बौद्धों का महत्व घट रहा था। कौथुम दानपत्र में राजा के संबंधमें कहा गया है कि वह ''सर्ववर्णधर्मधनु है'' अर्थात राजा के आश्रित सभी धर्म थे। चालुक्य साम्राज्य में शैव और वैष्णव तीर्थों की बहुलता थी। कोल्हापुर इस युग में एक शक्ति-पीठ के रूप में विख्यात हो गया था। बेलारी जिले में कार्तिकय की पूजा विशेष लोकप्रिय थी। जिन दिनों कल्याणी पर कल्चुरियों का आधिपत्य था, लिंगायत संप्रदाय की विशेष प्रतिष्ठा हुई। वासव, जो वासवपुराण का कर्ता माना जाता है, इस संप्रदाय का विशेष प्रचारक माना गया है। अनेक चालुक्य सम्राटों द्वारा अश्वमेध यज्ञ भी संपन्न हुए। शिव, विष्णु, सुब्रह्मण्य और विघ्नेश की चर्चा अनेक अभिलेखों में हुई है। शैव संप्रदायों में पाशुपत धर्म का भी खूब प्रचार हुआ।

4.2.6 चोल काल

चोलों के अधीन विस्तृत भूमि थी और विभिन्न संस्कृतियों और प्रजातियों पर उनका शासन था। मूलतः चोल समाज की संरचना प्रारंभिक ढाँचे पर ही थी, किंतु साम्राज्य विस्तार तथा लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन के कारण समाज की स्थिति में न्यूनाधिक परिवर्तन भी संभव था। सामाजिक स्वतंत्रता की स्थिति अपेक्षाकृत व्यापक थी। वर्ण और जाति का व्यापक प्रभाव समाज पर होते हुए भी पेशों के चुनाव के संबंध में जाति या वर्ण बाधक नहीं था। इण्णयिरम् एक प्रकार के ऐसे ब्राह्मण थे, जो पारंपरिक रूप से वाणिज्य ही करते थे, फिर भी ब्राह्मण के रूप में उनकी सामाजिक मान्यता कम नहीं थी। किंतु अधिकांशतः ब्राह्मण अभी भी अपने पारंपरिक षड्कर्म करते थे और अध्ययन-अध्यापन, पौरोहित्य, कर्मकाण्ड तथा मंदिरों में पुजारी का काम करते थे। चिकित्सा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण नियोजित थे। अधिकांश धर्मदेय और अग्रहार ब्राह्मणों के ही नाम होते थे। ब्राह्मणों की उदार दृष्टि के बावजूद इस समय तक इनमें सामाजिक वर्जनशीलता की भावना काफी उग्र थी और वे ग्रामों में भी रहते हुए अपनी बस्तियाँ या निवास अन्य सामाजिक वर्गों से पृथक बनाते थे। उन्हें कुछ विशेषाधिकार भी राज्य की ओर से प्राप्त थे, मुख्यतया ''कर-मुक्ति'' के संबंध में इनकी अपनी व्यवस्था के लिए सभा भी होती थी। अग्रहार ग्रामों का प्रशासन तो मूलतः उन्ही के अधिकार क्षेत्र में था। पारंपरिक मिश्र वर्णों की मान्यता अभी भी थी और मिताक्षरा का न्याय में महत्व था। प्रतिलोम विवाह अब एकदम वर्जित न रह सके, अपितु कुछ पेशेवर, जैसे वर्धकी, तक्षक, स्वर्णकार और लौहकार समाज की संरचना में प्रतिलोम विवाहों का ही आधार था। रथकार और वास्तुकर्मी, स्थापित तथा शिल्पी और मूर्तिकार भी इसी वर्ग में आते थे। ब्राह्मणों का वह समुदाय जो मुख्यतया वैश्य कर्म करता था, उसे ब्रह्मवैश्य कहा जाने लगा। वैश्य के द्वारा क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न जुलाहों के वर्ग में आते थे। ऐसे ही जुलाहों से यज्ञोपवीत का सूत्र लेना, ध्वजपट्ट लेना उचित माना जाता था। क्षात्र वर्ग राज्य शासन और सेना में वृत्ति पाता था। शूद्र पारंपरिक रूप से कृषक श्रमिक, भूमिदास अथवा अन्य सेवाकर्म में लगे थे।

इन पारंपरिक वर्ण या जाति विभाजनों के अतिरिक्त चोल समाज दो विशिष्ट वर्गों में विभक्त था जो वलंगै और अडंगै कहलाता था।परंपरा के अनुसार यह विभाजन करिकाल (संगमयुग) के समय से ही चोलों में चला आता था, किंतु राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम के समय में इसका प्रभाव अधिक मिलता है। सामाजिक वर्गभेद में इसका क्या स्वरूप था - कहना कठिन है, किंतु ये परस्पर विरोधी समुदाय थे, जो समय-समय पर उग्र संघर्ष कर बैठते थे। इस उग्रता और संघर्ष से सामान्य नागरिक तो प्रभावित थे ही सेना पर भी इसके दुष्परिणाम परवर्ती काल में और उजागर हुए। ये दोनों जातिवर्ग विभिन्न जातियों और उपजातियों के समूहों से निर्मित थे। वलंगै की संरचना के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती, किंतु यह वर्ग विशेषतया राज्यपोषित था। अतएव इसे दक्षिणावर्ती कहते थे। संभवतः इसमें भी ब्राह्मण सहित अन्य वर्णों के लोग थे। कुलोतुंग तृतीय के समय के एक अभिलेख में इडंगै जाति समूह के विषय में विशेष उल्लेख मिलता है। यह अग्निकुल से उत्पन्न थे और इसमें भी ब्राह्मण और क्षत्रिय तथा अन्य वर्णों के लोग थे। चोल शासनकाल में अडंगै वर्ग के लोग अपने अधिकारों के प्रति विशेष सजग थे तथा संगठित थे। इनका वलंगैवर्ग से इतना विरोध था कि उन मंदिरों में यह पूजा भी नहीं करते थे जिनमें वलंगैवर्ग के लोग पूजा-पाठ करते थे।

स्त्रियों को विशेष स्वतंत्रता मिली थी। सार्वजनिक अवसरों पर इन्हें उपस्थित होने की पूरी छूट थी। संभ्रांत वर्ग की स्त्रियों के पास अपनी संपत्ति भी होती थी। निम्नवर्ग की स्त्रियाँ श्रमिक रूप में कार्य करती थीं। विवाह की मर्यादा का पालन स्त्रियों को करना होता था। सामान्यतया एक पत्नी व्रत का निर्वाह

पुरूष करते थे किंतु राज्यवर्ग में बहुपत्नित्व की भी प्रथा थी। सतीप्रथा के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं, किंतु वेश्यावृत्ति भी प्रचलित थी। मंदिरों में देवदासी की भी प्रथा थी। नर्तकियों के रूप में स्त्रियों का आदर समाज में था और मंदिर आदि के उत्सवों में वे भाग लेती थीं। दास होते थे, किंतु दासप्रथा इतनी जटिल नहीं थी और न उनके प्रति क्रूव्यवहार ही होता था। क्रीतदास भी होते थे। भूमिदासों के भी प्रमाण मिलते हैं।

4.2.7 राष्ट्रकूट काल

समाज पारंपरित वर्ण और जातिविधान के आधार पर संगठित था। राजा क्षत्रिय होते थे, जो अपने को 'सत्क्षत्रिय' कहते थे। उनकी अपनी मान्यता थी कि वे वर्णक्रम में ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ हैं। फिर भी ब्राह्मणों का समाज में विशेष आदर था। वैश्यों की स्थिति में गिरावट आयी थी और वे शूद्रों से मिश्रित हो रहे थे। शुद्रों के प्रति वर्जनशीलता का भाव होते हुए भी उनके साथ मानवीय व्यवहार होता था। अनुलोम विवाह की प्रथा थी। जो ब्राह्मण पारंपरिक रूप से पठन पाठन और श्रौत कर्म में लीन थे, उनका समाज और राज्य में विशेष आदर था। वैदिक श्रोत कर्मों का कुमारिल के प्रयत्नों के बावजूद उतना प्रचलन नहीं था, जितना कि वाकाटक युग में स्मार्त धर्म का प्रभाव बड़ रहा था। ब्राह्मणों को अभी भी दान मिलते थे। पूर्वप्रचलित दानों के क्रम को राष्ट्रकूट राजा मान्यता दिए हुए थे-यहाँ तक कि वे राज भी जो जैनी हो गए थे। निर्धन ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था। शूद्रवर्ग में चमार, मछुए, धोबी, भंगी, चांडाल आदि अछूत थे। सतीप्रथा नहीं थी, किंतु बाल विवाह का प्रचलन था। विधवा विवाह पर भी प्रतिबंध था। पर्दा प्रथा नहीं थी।

राष्ट्रकूट समाज का आर्थिक ढाँचा दृढ़ था। कपास, ज्वार, बाजरा, धान, नारियल, की उपज अधिक होती थी। चंदन, आबनूस, और इमारती लकड़ी का व्यापार उन्नति पर था। ताँबे की खानों से राज्य को अच्छी आमदनी थी। मार्ग पहाड़ी किंतु यातायात के योग्य थे। आंतरिक और विदेशी व्यापार में प्रगति थी। बाजार में वस्तुएँ सुलभ और सस्ती थीं। एक विवरण के अनुसार1 गाय, 32 सेर चालव, 25 सेर दाल, 24 सेर दही, 3 सेर घी, 75 सेर नमक की कीमत 1 रूपये थी। भैंस की कीमत 2 रूपये थी। विनिमय ही पणन का अधिक प्रचलित माध्यम था। वेतन भी अन्न के रूप में अधिक दिया जाता था। सिक्कों की कभी थी।

धार्मिक समवाय राष्ट्रकूट समाज की विशेषता थी। अमोघवर्ष प्रथम, जैनधर्म का निष्ठावान अनुयायी होते हुए भी हिंदूधर्म के देवी देवताओं की उपासना करता था। इंद्र तृतीय भी जैन था। गंगानरेश भी जैन थे। इस प्रकार जैनधर्म को राजकीय मान्यता थी। बौद्धधर्म की पतनावस्था थी। सातवी शती में जहाँ डकन में 200 बौद्ध मठ थे, वहाँ अब केवल तीन मठों की चर्चा मिलती है, जिनमें कन्हेरी की स्थिति अच्छी थी। हिंदू अर्थात् ब्राह्मणधर्म के प्रति प्रजा में बड़ा आदर था। मंदिरों के निर्माण की प्रक्रिया अभी जारी थी। विष्णु, शिव, लक्ष्मी और सूर्य की उपासना बहुत प्रचलित थी। धार्मिक समन्वय की दृष्टि इतनी व्यापक थी कि राष्ट्रकूटों ने इस्लाम धर्म को भी आश्रय दिया। अरब विवरणों के आधार पर जाना जाता है कि मुसलमानों को राष्ट्रकूट राज्य में बसने ओर मस्जिद बनवाने की सुविधा थी।

4.2.8 सारांश

दक्षिण भारतीय गुप्तोत्तर कालीन समाज में मुख्यता उन व्यक्तियों का बाहुल्य था जो स्वयं भूमि को जोतकर कृषि करते थे और जो अप्रत्यक्ष रूप से भूमि पर निर्भर थे। इनके नीचे कृषि के भूमिहीन श्रमजीवी (कुदीस) थे। तमिल साहित्य में इनके चार समुदायों, पाणान, सुडीयन, परयन और कदंबन का उल्लेख है। कदाचित् ये समुदाय जनसाधारण का निम्न वर्ग था। इनके अतिरिक्त समाज में विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोग थे जैसे लुहार, बढ़ई या सुतार, स्वर्णकार, जुलाह आदि। इसके बाद समाज की

मलवर, नाग, आदि जातियों का उल्लेख साहित्य में उपलब्ध होता है। संभवतः मलवर व नाग वन्य जीवन व्यतीत करते थे, आखेट करते थे और कभी-कभी जल-मार्गों पर लोगों को लूटते भी थे। मलवर लोग युद्ध और संघर्ष करने में बड़े निपुण थे। समुद्र तट और नदी तट पर मछुए रहते थे जिनका स्तर समाज में निम्न श्रेणी का था। कृषक हष्ट-पुष्ट, सशक्त और साहसी होते थे। वे युद्ध के समय सैनिक बनकर रणक्षेत्र में युद्ध भी करते थे। समाज में किसानों का बड़ा सम्मान था। फसल काटने के बाद वे भिन्न-भिन्न प्रकार के त्यौहार और उत्सव मनाते थे और नाच-गान तथा अन्य आमोद-प्रमोद में अपना समय व्यतीत करते थे। इस प्रकार से निर्मित समाज में ब्राह्मण उत्तरी भारत से आकर बस गए थे। अपने चरित्र की विशुद्धता और विद्या तथा ज्ञान की गहनता के कारण समाज में उन्हें अधिक प्रतिष्ठित पद प्राप्त हो गया था। वे बड़े सदाचारी और अल्पसंतोषी होते थे और अपना अधिकांश समय वेदाध्ययन, भजन-पूजन और यज्ञादि कर्म में व्यतीत करते थे। वे गायों को पालते थे और उनका जीवन सादा और सरल था। समाज में उनके अलग मुहल्ले थे जहाँ वे निवास करते थे और इन मुहल्लों और गलियों को ''अग्रहारम'' कहते थे और उनके निवास-गृहों को ''अकरम'' कहते थे। ब्राह्मण कभी-कभी मंत्री या आमात्य का कार्य करते थे और युद्ध काल में राजा की विजय के लिए प्रार्थना करते थे।

4.2.9 बोध प्रश्न

4.2.9.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत के आहार के विषय में आप क्या जानते हैं?
2. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत की वेशभूषा पर प्रकाश डलिए।
3. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत के आमोद-प्रमोद पर टिप्पणी लिखिए।
4. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत के प्रकृति प्रेम पर प्रकाश डालिए।
5. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत में नारी का क्या स्थान था? स्पष्ट कीजिए।

4.2.9.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत की सामाजिक स्थिति का वर्णन कीजिए?
2. पल्लव कालीन सामाजिक स्थिति का विवेचन कीजिए?
3. चोल कालीन सामाजिक स्थिति का विवेचन कीजिए?
4. राष्ट्रकूट कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालिए?
5. गुप्तोत्तर दक्षिण भारतीय समाज की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए?

4.2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रमशेचन्द्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. राजबली पाण्डेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संसद वाराणसी, 1962
3. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
4. रैप्सन, ई.जे.: कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1
5. राय चैधरी, एच.सी.: पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
6. नीलकंठ शास्त्री, के.ए.: हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1, एंशेण्ट इण्डिया, मद्रास, 1950
7. स्मिथ, बी.ए.: अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
8. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
9. नीलकंठ शास्त्री: ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957

10. एलन, हेग, डाडवेल: दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इण्डिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
11. मजूमदार तथा पुसलकर: दी इम्पीरियल एज ऑफ कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
12. मजूमदार तथा पुसलकर: दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953

खंड - 4 गुप्तोत्तरकाल (दक्षिण भारत)
इकाई - 3 आर्थिक स्थिति

इकाई की रूपरेखा

4.3.1 उद्देश्य
4.3.2 प्रस्तावना
4.3.3 आर्थिक गतिविधियों में पतन के कारण
4.3.4 आर्थिक जीवन
4.3.4.1 ग्राम
4.3.4.2 नगर
4.3.5 पल्लव काल
4.3.6 चालुक्य काल
4.3.7 चोल काल
4.3.8 राष्ट्रकूट काल
4.3.9 सारांश
4.3.10 बोध प्रश्न
4.3.10.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
4.3.10.1 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
4.3.11 संदर्भग्रंथसूची

4.3.1 उद्देश्य

भारतीय इतिहास में गुप्त काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से जाना जाता है। गुप्त सम्राटों ने लगभग 230 वर्षों तक भारत के राजनीतिक पटल पर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुप्तकाल के पूर्वार्द्ध में भारत के सांस्कृतिक जीवन में जो पूर्णता आई, उसकी कोई तुलना नहीं है, परंतु इस काल में भारत में जो सांस्कृतिक चेतना जागृत हुई, वह गुप्तकाल की समाप्ति पर भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई। गुप्त राजवंश के पतन के बाद भी उनके शासन से प्रभावित सांस्कृतिक संस्कारों की शृंखला गुप्तोत्तर काल तक बनी रही। अतः इसी शृंखला को ध्यान में रखकर प्रस्तुत इकाई का 'गुप्तोत्तर (दक्षिण भारतीय) आर्थिक स्थिति' नामकरण किया गया है। अतः दक्षिण भारतीय गुप्तोत्तर आर्थिक स्थिति के संबंध में विभिन्न राजवंशों का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत करना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

4.3.2 प्रस्तावना

यह इकाई गुप्तोत्तर कालीन सम्राट् हर्ष के अतिरिक्त क्रमशः परवर्ती गुप्त राजवंश, मौखरी राजवंश की पुनस्थापना, कन्नौज-नरेश यशोवर्मन, बंग एवं गौड़ के राजवंश, कामरूप के वर्मन राजवंश, कश्मीर के कर्कोट राजवंश, वलभी के मैत्रक राजवंश, माहिष्मती के कलचुरी राजवंश एवं लाट के गुर्जर राजवंश से संबंधित हैं। वस्तुतः उत्तरी भारत के उत्तरी पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में शासन करने वाले इन प्रमुख राजवंशों के सामाजिक और आर्थिक इतिहास को एक साथ क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास है। इस इकाई में गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारत के गौरवशाली राजवंशों के आर्थिक जीवन का इतिहास संक्षेप में प्रस्तुत

किया गया है। इकाई में आधारभूत साक्ष्यों को मूलरूप में प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयास किया गया है तथा आर्थिक संस्थाओं का चित्रण समीक्षात्मक पद्धति पर किया गया है, जिससे वे अधिक से अधिक बोधगम्य बन सकें।

4.3.3 आर्थिक गतिविधियों में पतन के कारण

6 वीं शताब्दी से 12 वीं शताब्दी के मध्य का काल न केवल दक्षिण-भारत में अपितु उत्तर भारत में भी पूर्व स्थापित बड़े राज्यों के विकेंद्रीकरण के लिए उल्लेखनीय है। उपरोक्त काल में राजनीतिक पटल पर निरंतर बनते-बिगड़ते तथा बदलते राज्यों तथा राजाओं की सत्तास्थापना हेतु हो रहे संघर्षों का एक अटूट सिलसिला शताब्दियों तक चलता रहा। इन लड़ाइयों से भारी जन-धन की हानि होती रही। सामंतशाही के उत्तरोत्तर विकास के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में तो साम्राज्य विस्तार की होड़ सी लगी हुई थी। प्रायः शासकों का अधिकांश समय स्कंधावारों में अथवा महत्वपूर्ण दुर्गों में वीराभिषेक कराने में ही नष्ट होता रहा। उनका जो योगदान सामाजिक तथा आर्थिक समुन्नयन के लिए होना चाहिए था, निश्चयतः नहीं हो सका। एक तरफ तो विभिन्न राज्यों में पारस्परिक प्रतिशोध एवं युद्धों का क्रम जारी था, दूसरी ओर सर्वत्र सामंतीकरण की परंपरा तेजी से जड़ पकड़ती जा रही थी। राजाओं में श्रेष्ठता एवं बड़प्पन की स्थापना हेतु भुमिदान की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। फलतः कृषि योग्य जमीन का एक बड़ा हिस्सा इन अनुदानों के कारण करमुक्त होता जा रहा था। दक्कन के राष्ट्रकूट शासकों के दानपत्रों से ज्ञात होता है कि साम्राज्य में चतुर्दिक विस्तृत मंदिरों, पंडितों, पुरोहितों तथा विद्यालयों को जोत का एक बड़ा हिस्सा दान दिया गया था। ऐसी भूमि से लगान की वसूली बहुधा माफ कर दी जाती थी और यदि वसूल भी की जाती थी तो बहुत कम। राष्ट्रकूटों के दानपत्रों में सहस्राधिक ग्राम दानों का उल्लेख, तत्कालीन भारतीय शासकों की दान देने की मानसिकता का परिचायक है। इतना ही नहीं, सामंतों, उपसामंतों, अधिकारियों तथा ग्राममुखियों को भी किया गया। इसका प्रमाण पूर्व मध्ययुगीन बहुसंख्यक ताम्रपत्रों (दान-पत्रों) के उल्लेखों से प्रस्तुत किया जा सकता है। दक्षिण भारत में सैनिकों को भी उनकी सेवाओं के लिए भूमि-प्रदान किए जाने की प्रथा प्रचलित थी। इन भू-दानों के कारण केंद्रीय अर्थव्यवस्था एवं स्थानीय शासकों अथवा अन्य अधिकारियों के बीच न केवल राजनीतिक संतुलन बिगड़ गया था, अपितु भू-राजस्व एवं उससे जुड़ी आर्थिक व्यवस्था भी चरमरा गई थी। अनुदान से प्राप्त नव-भू-स्वामियों को भूमि-कर का संग्रह करने तथा उसे स्वेच्छा से केंद्रीय राजकोष में जमा करने की स्वायत्ता-प्रदान करने की नवीन व्यवस्था के फलस्वरूप उक्त युग में सामंतीशोषण को पूरी छूट सी मिल गई थी। फलतः खेतिहर मजदूर पर न केवल मनमाने करों का दबाव पड़ रहा था, अपितु आर्थिक समुन्नयन में विशेष महत्वपूर्ण अंग, अधिक उत्पादन के उत्साह, को भी दबाया जा रहा था। सामंतों की प्रशासकीय एवं आर्थिक स्वायत्ता के क्रमिक विकास होने के कारण दक्षिण भारत में स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले अनेक प्रशासनिक-खंडों एवं प्रखंडों का उदय होने लगा। राष्ट्रकूटों के शासनकाल में यह प्रक्रिया गतिशील रही। सामंती एवं उपसामंती सत्ता-खंडों एवं प्रखंडों के उदय के फलस्वरूप तत्कालीन आर्थिक इकाइयों का स्वरूप और भी लघुतर होता गया। फलतः शोषणपरक मनोवृत्तियों से युक्त भू-अभिजात्य वर्गों का तेजी से विकास हो चुका था।

भू-राजस्व में क्रमशः कमी आने के फलस्वरूप केंद्रीय शासन द्वारा किए जाने वाले सामाजार्थिक विकास-कार्य बाधित होने लगे। राम शरण शर्मा का मत है कि ग्राम या ग्राम-समूहों के आर्थिक विकास पर सामंती-स्वायत्ता के फलस्वरूप विकेंद्रीकरण से तो प्रभाव पड़ा ही, साथ ही साथ, उन गाँवों का भी आर्थिक पतन प्रारंभ हो गया जो इस संदर्भ में इन विकेंद्रीकरण में सम्मिलित नहीं थे। यह पतन तत्कालीन

व्यापारिक पतन के कारण अधिक संभव हुआ। तत्कालीन भारत में व्यापार-कर्म में आई गिरावट के कई कारण थे। भारत एवं रोम के बीच रेशम एवं मुलायम उत्तम कोटि के कपड़ों का जो व्यापार छठी सदी ई. तक किसी न किसी रूप में चल रहा था, उक्त काल में उसमें बड़ी कमी आ गई थी। छठी सदी के पर्वूवर्ती कालों में रोम में भारतीय रेशम एवं रेशमी कपड़ें की विशेष माँग एवं खपत थी। परंतु 7वीं सदी में बाइजेंटाइन (रोम) के निवासियों ने चीन से रेशम के कीड़ों को पालने का ज्ञान तथा रेशम से कपड़े तैयार करने की कला को स्वयं विकसित कर लिया अब वे अपनी आवश्यकता भर के लिए रेशम स्वयं तैयार करने लगे। फलतः उन्होंने भारत से इसका आयात करना बंद कर दिया। इस प्रकार पाश्चात्य विश्व में निर्यात किए जाने वाले रेशम के व्यापार से होने वाली आय अवरूद्ध हो गई। दक्षिण भारत के समुद्रतटीय प्रदेशों एवं वहाँ के बंदरगाहों से दक्षिणी-पूर्वी एशियाई द्वीप-समूहों के साथ इस समय भी न्यूनाधिक व्यापारिक संपर्क बना रहा। रामशरण शर्मा की धारणा है कि दक्षिण भारतीय बंदरगाहों से थोड़ा बहुत व्यापारिक संपर्क उपर्युक्त द्वीपों से अवश्य बना हुआ था। परंतु प्राय-द्वीतीय बंदरगाहों में हो रहे व्यापार एवं आर्थिक लाभ का प्रभाव भारत के अन्य अंतर्वर्ती क्षेत्रों पर विशेष नहीं था। फलतः व्यापारिक नगरों एवं गाँव के बीच की आर्थिक कड़ी पर्याप्त शिथिल हो चुकी थी। आर्थिक एवं व्यापारिक शिथिलता की पुष्टि मुद्रा-साक्ष्यों से भी होती है। 7वीं से 10वीं सदी के मध्य सोने के सिक्कों के प्रचलन का अभाव संपूर्णभारत में देखा जा सकता है। यद्यपि राष्ट्रकूटों ने भारत के लंबे भू-भाग पर लगभग तीन शताब्दियों तक शासन किया तथापि उनके शासनकाल में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं किया जा सका। इतना ही नहीं, उन्होंने संभवतः सिक्कों की कोई ऐसी शृंखला भी विकसित नहीं की, जिसके भरपूर उपयोग से आंतरिक एवं ब्राह्य-व्यापार तथा विनिमय में तेजी तथा गतिशीलता आती। इससे आर्थिक प्रगति की संभावनाओं पर दुष्प्रभाव करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विवश हो गए। इतना ही नहीं, छोट-छोटे अनेक राज्यों के उदय के कारण स्थान-स्थान पर जाँच-चैकियों की संख्या भी पहले की तुलना में बढ़ गई। फलतः उन पर कई प्रकार के करों को चुकाना भी व्यापारकर्म में बाधक सिद्ध हुआ। देश में छोटे-छोटे अनेक राज्यों का उदय, उनमें निरंतर तनाव, संघर्ष एवं विद्रोहों के कारण अंतर्राज्यीय व्यापार में अनेक खतरे उत्पन्न हो गए। इस काल के साहित्य तथा ह्वेन्साँग के विवरण से इस बात की सूचना मिलती है कि व्यापारिक कारवाँ को, राज्यों में व्याप्त अशांति एवं असुरक्षा के वातावरण में प्रायः डाकू लोग मार्ग में ही लूट लिया करते थे। 'कथासरित्सागर' से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त युग के व्यापारी लोग चुंगियों पर मनमाने कर-वसूल किए जाने के भय से प्रायः जंगली-मार्गों से गुजरते थे। इस प्रकार उक्त अधीत काल में व्यापारिक प्रगति अवरूद्ध सी हो गई थी तथा देश में आर्थिक समुन्नयन की गति शिथिल पड़ गई थी।

व्यापार की गति शिथिल पड़ने के कारण शिल्पियों, व्यवसाइयों तथा कारीगरों के उद्योग-धंधों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। नगरों में औद्योगिक केंद्र, जहाँ कारीगरों की हर समय आवश्यकता रहा करती थी, तैयार माल की बिक्री न हो पाने के कारण धीरे-धीरे बंद होने लगे। वहाँ औद्योगिक उत्पादन के स्थान पर सैनिक स्कंधावार अथवा सामंती शासन-केंद्र बना दिए गए। कारीगरों एवं व्यापारियों को स्थानीय खपत के लिए जगह-जगह बँध जाना पड़ा। ग्रामदानों के समय वहाँ के कारीगरों को दानदाता का यह आदेश पालन करना अनिवार्य होता था कि वह अन्यत्र जाकर न बसे। दक्कन तथा द्रविड़-क्षेत्र में अनेक ऐसे दानपत्र मिले हैं, जिनमें दानदाता शासक द्वारा गाँव अथवा मंदिर के आस-पास बसे कारीगरों को आदेश दिए गए हैं कि वे अन्यत्र जाकर न बसें। उक्त प्रदेशों में मंदिरों तथा मठों को भूमि अथवा ग्रामदान के साथ कारीगर भी भेंट किए गए हैं। फलतः उन्हें विवश होकर शासक के आदेश का पालन

करना पड़ता ही था। प्रायद्वीपीय पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित नगरों में व्यापारियों एवं श्रेणियों को भी कारीगर प्रदान किए गए थे।

कारीगरों की भाँति व्यापारियों को भी संभवतः अंतर्राज्यों एवं विदेशों में व्यापार हेतु जाने पर बहुत कुछ मनाही थी। दक्कन से प्राप्त 7वीं एवं 8वीं शती के कतिपय लेखों में यह आदेश मिलता है कि व्यापारियों को नगर के एक ही बाजार में इकट्ठा न होने दिया जाए। इस पर रामशरण शर्मा का मत है कि इन आदेश-पत्रों से तत्कालीन बाजारों में व्यापारिक प्रतियोगिता के ह्रास का संकेत किया है। बाजार में व्यापारिक माल में संभवतः कमी आने लगी थी। व्यापारी अब स्थानीय आवश्यकाताओं की संपूर्ति से अधिक वस्तुओं का आयात-निर्यात अथवा खरीद-बिक्री बंद करने लगे थे। फलतः व्यापारियों में स्थानीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। यह प्रवृत्ति सामंतीकरण की सहज देन मानी जा सकती है। इतना ही नहीं, कतिपय दानपत्रों में तो ग्राम-दानों के समय उनमें बसे किसानों को भी दान कर दिया गया था (धनजनसहित, जनता समृद्ध सप्रतिवासीजनसमेत आदि का उल्लेख)। इस प्रकार सामंतोपसामंतीकरण से गाँवों का शोषण तो बढ़ गया लेकिन उनकी अर्थ-व्यवस्था में कोई सुधार नहीं हो सका। आर्थिक-विकास लगभग गतिहीन हो गया तथा प्रगति अवरूद्ध हो गई। उनमें स्थानीय संकीर्णता आ गई। अधिक उत्पादन करने का सामाजिक उत्साह तथा वाणिज्य-व्यापार-कर्म चरमरा गया। सामंती-मनोवृत्ति के कारण श्रम एवं उत्पादन का शोषण चलता रहा। फलतः उत्साह एवं पूँजी दोनों में कमी होती गई। उत्पादन से जुड़े लोगों में स्थानीय की भावना ने उन्हें धर्मभीरू तथा कायर बना दिया। इस युग के नवीन सामाजिक आदर्शों से पूरित कलिवज्र्य में तो ब्राह्मण तक को पर्यटन की छूट नहीं दी गई है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी वर्ण को देश या विदेश-यात्रा पर जाने की स्वतंत्रता नहीं रह गई थी। समुद्रयात्रा पर तो और भी कड़ा प्रतिबंध था। 'औशनस-स्मृति' के अनुसार समुद्रयात्रा करने वाला व्यक्ति न केवल जाति-च्युत होता था, अपितु श्राद्ध-भोजन में वह आमंत्रण का भी पात्र नहीं रह जाता था। 11वीं शती के विद्वान अरब पर्यटक अल्बरूनी ने लिखा है कि दक्कन क्षेत्र में ब्राह्मणों का आवास अन्य सामाजिक वर्गों से अलग रखा जाता था। वहाँ हिंदुओं को तुर्कों तथा कर्णाटों के क्षेत्र में जाने की अनुमति नहीं थी। इतना ही नहीं, आलोच्काल के ग्रंथों में देश-धर्म को तो नियत किया ही गया, कालांतर में ग्राम-धर्म को भी नियत कर दिया गया। रामशरण शर्मा के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व मध्यकाल में गाँव आत्मनिर्भर आर्थिक एवं प्रशासनिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

पूर्वमध्यकालीन समाज में उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के लिए ही किया जाता था। विकसित व्यापार के लिए अतिरिक्त उत्पादन की संभवतः आवश्यकता ही नहीं रह गई थी, क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन प्रायः सामंतों द्वारा हड़प लिया जाता था। परंतु दक्षिण भारत में अब भी अनेक ऐसे क्षेत्र थे, जहाँ व्यापार विकसित था तथा मानव-उपयोग की आवश्यक वस्तुएँ जैसे नमक, अनाज, कपड़ा, लोहा, शक्कर आदि को सामान्यतया अंर्तक्षेत्रीय माँग एवं पूर्ति के हिसाब से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता था। शासकों, सामंतों, अधिकारियों आदि की शौक एवं विलास की वस्तुएँ अन्य प्रदेशों से मँगाई जाती थीं। पूर्व-मध्यकाल में प्रायद्वीपीय भारत में अनेक समुन्नत बंदरगाह थे, जिन्हें देश के अंतर्वर्ती प्रदेशों तथा व्यापारिक-मार्गों द्वारा जोड़ा गया था। इसके अतिरिक्त नदियों द्वारा भी व्यापारिक माल बंदरगाहों तक पहुँचाया जाता था। 9वीं एवं 10वीं शती में भारत का व्यापारिक संपर्क अरब चीन, पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशियाई द्वीपों के साथ विकसित था। पल्लवों तथा चोलों के समय तमिल देश की आर्थिक प्रगति में उपर्युक्त विदेशी व्यापार विशेष सहायक सिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक तथा आर्थिक गतिविधियों की समीक्षा के आधार पर अंनत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गुप्तोत्तरकालीन भारत में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में आर्थिक प्रगति विशेष अवरूद्ध हुई। इसका प्रमुख कारण सम्राट हर्षवर्धन के उपरांत मध्यप्रदेश में अद्भुत एक दीर्घकालीन राजनीतिक शून्यता को माना जा सकता है। कान्यकुब्ज के राज्य को लेकर पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण की शक्तिशाली पाल, प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट राजवंशों की शक्तियाँ परस्पर संघर्षरत रहीं। शक्तिशाली साम्राज्य-शक्ति के अभाव में सामंती-शोषण तथा उनके द्वारा प्रस्तुत संकीर्ण आदर्शों एवं आदेशों में फँसी जनता 10वीं शती तक दबती, कुढ़ती तथा अधिक उत्पादन से विमुख बनी रही। परंतु दक्षिण भारत में पश्चिमी चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों को छोड़कर अन्य राज्यों की आर्थिक स्थिति सामंती-व्यवस्था से शासित होने के बावजूद विशेष अवरूद्ध नहीं हो सकी। पल्लवों एवं चोलों द्वारा बनाए गए बहुसंख्यक मंदिरों तथा अन्य सांस्कृतिक क्रियाकलापों को देखने से यही प्रतीत होता है कि यहाँ विकास की गति शिथिल अवश्य थी, परंतु पतनोन्मुख नहीं थी।

4.3.4 आर्थिक जीवन

गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारत सामान्य रूप से समृद्ध और धन-संपन्न था। वहाँ आर्थिक जीवन संतोषप्रद और सुखी था।

4.3.4.1 ग्राम

प्राचीन तमिल प्रदेश में बड़े-बड़े नगर कम थे। अधिकांश लोग ग्रामों में निवास करते थे। छोटे-छोटे गाँवों की संख्या अधिक थी। प्रायः ग्राम स्वतंत्र और स्वावलंबी होते थे। उनके प्रशासन की समस्त व्यवस्था ग्राम की पंचायत करती थी। ग्राम योजनापूर्वक बनाए जाते थे। उसमें एक या दो सीधी सड़कें या जन-मार्ग होते थे जिसके दोनों ओर पंक्तिबद्ध निवासगृह होते थे। सड़क से मिली हुई गलियाँ होती थीं। ग्राम के मध्य में ब्राह्मणों की गली, जिसे अग्रहारम कहते थे, होती थी, गली के एक छोर पर ग्राम का मुख्य मंदिर होता था। ग्राम के बाहर की अन्य गलियों में कृषक, शिल्पी, वणिक आदि के निवासगृह होते थे। गलयाँ स्वच्छ और चैड़ी होती थीं। ग्रामों में अमीर और गरीब दोनों प्रकार के लोग रहते थे। अमीरों के निवासगृह दो या तीन मंजिल वाले होते थे और इनको ''माडम'' कहते थे। गरीब लोग प्रायः घास-फूँस और लकड़ी के झोंपड़ों में रहते थे। सुरक्षा के लिए गाँव के चारों ओर दीवार या घने जंगल होते थे जिससे शत्रु या लुटेरे सरलता से प्रवेश कर सकें।

4.3.4.2 नगर

तमिल देश में आर्थिक समृद्धि के कारण कावेरि-पूँ-पट्टिणम, काँची, श्रीरंगम आदि जैसे विशाल नगर भी थे। प्रायः नगर योजना और वास्तुशास्त्र के नियमानुसार बसाए जाते थे। साधारणतया सुरक्षा के हेतु नगर के चतुर्दिक गहरी खाई होती थी जिसमें सदा जल भरा रहता था और उसके बाद भी भीतर की ओर ऊँची सुदृढ़ प्राचीर होती थी जिस पर नगर-रक्षक पहरा देते थे। नगर के भीतर कई प्राचीरे होती थीं जिससे नगर अलग-अलग भागों में विभक्त हो जाता था। इन प्राचीरों को प्राकारी कहते थे। नगर के बाहर मठ, शालाएँ तथा सन्यासियों और मुनियों के आश्रम होते थे। नगर की प्रमुख प्राचीर के समीप के प्रकार में निम्न जाति और हीन व्यवसाय करने वाले लोग रहते थे। वहाँ, मद्य, माँस, मछली, नमक, मिष्ठान आदि साधारण वस्तुओं की दुकाने भी होती थीं। इससे भीतर के प्राकार में छोटे-छोटे व्यापारी, शिल्पी और व्यवसायी रहते थे, जैसे लुहार, सुनार, सुतार, जौहरी, कसेरे, दर्जी, गंधी, माली, रंगरेज, शंख और मोतियों के कारीगर, फेरीवाले आदि। इसके बाद के प्राकार में ब्राह्मण, शासकीय अधिकारी और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति रहते थे। सबने भीतर के केंद्रीय प्राकार में राजमहल, राजसभा भवन, शासकीय भवन

मंत्रणागृह, नृत्यशाला एवं मंदिर आदि होते थे। नगर में यात्रियों के ठहरने व भोजन के लिए धर्मशालाएँ, विश्रामस्थल और भोजनालय थे। किसी-किसी नगर में अजायबघर और संग्रहालय भी थे। सारे नगर में प्राचीरों के भीतर चैड़ी और सीधी सड़के या जनमार्ग होते थे जिनके दोनों ओर पंक्तिबद्ध निवासगृह होते थे। नगर के प्राचीरो में बड़े-बड़े गोपुरम् या प्रवेश-द्वार बने होते थे। इन सिंहद्वारों पर द्वार-रक्षक देवताओं की मूर्तियाँ बनी हुई थीं जिनकी प्रतिदिन पूजा होती थी। नगर में बड़े-बड़े व्यापारी और धनवान लोग रहते थे। इन व्यापारियों में विदेशी भी होते थे। राजा व्यापारियों की रक्षा करता था और उन्हें हर प्रकार की सुविधा दी जाती थी। सुरक्षा गोदामों में व्यापारियों का सामान रहता था और आयात तथा निर्यात करने के लिए उन पर राजचिह्न लगाया जाता था। चोल राजाओं का ऐसा राजचिह्न व्याघ्र-मुद्रा व्यापारिक माल पर कर वसूल करने वाले अधिकारियों द्वारा अंकित की जाती थी। प्रत्येक व्यापारी या व्यापार के अलग-अलग झण्डे होते थे, जो उनकी दुकानों पर फहराते थे।

दक्षिण के नगरों के साथ ''पट्टनम'' और ''ऊर'' शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे तंजाऊर, उरैयूर, विजगापट्टम, नागपट्टम आदि। 'ऊर' का अर्थ है गाँव तथा 'पट्टनम' शब्द से तात्पर्य है समुद्रतट पर स्थित गाँव। प्रारंभ में नगर छोटे-छोटे गाँव रहें होंगें और धीरे-धीरे वे बड़े बन गए।

दक्षिण भारत में 'कावेरि-पूँ-पट्टिणम' या ''पुहार'' नामक नगर पूर्वी समुद्र तट पर था। इसे ईसा के लगभग 5000 वर्ष पूर्व बसाया गया था और दुर्भाग्य से आज से लगभग डेढ़ सहस्त्र वर्ष पूर्व समुद्र ने इसे अपने गर्भ में ले लिया था। यह नगर दीर्घकाल तक चोर नरेशों की राजधानी रहा है। यह नगर एक प्रसिद्ध और संपन्न बंदरगाह भी था। यहाँ अनेक विदेशी व्यापारी भी रहते थे। तमिल के कवि इलगों अडिगल ने अपने महाकाव्य 'शिल्प्पाधिकारम' में इस नगर का अत्यंत ही सुंदर और रोचक वर्णन किया है। इसके बाद एक अन्य कवि माँगुडी मरूनार ने अपने ग्रंथ ''मदुरैक्कांची'' में मदुरा नगर का वर्णन भी अत्यंत ही सरस भाषा में किया है। यह ग्रंथ सन् 450 में लिखा गया था।

संपन्नता और सुख वैभव का जीवन-देश में शांति, सुरक्षा और व्यवस्था रहने से, देशी और विदेशी व्यापार तथा उद्योग-धंधों की निरंतर वृद्धि और प्रगति से दक्षिण भारत ने लोगों, व्यावसायियों और व्यापारियों का जीवन भी समृद्ध, सुखी और वैभवपूर्ण था। उच्च वर्ग के लोग आलीशान भवनों में रहते थे। ये भवन चार से छह और सात मंजिल तक होते थे। भवन पाषाण और ईंट के बनाए जाते थे और उनमें हिरण की आँखों जैसी छोटी-छोटी सुराखों वाली विशाल खिड़कियाँ होती थीं इन पर सुंदर नक्काशी होती थी। भवन विस्तीर्ण, हवादार, खुले आँगन वाले होते थे। घरों के चारों और चबूतरे भी होते थे। घरों के प्रवेश-द्वार बड़े प्रभावशाली होते थे। अमीरों के निवासगृहों में सुंदर पलंग, चैकियाँ तथा विलास-ऐश्वर्य की सभी सामग्री विद्यमान रहती थी। संध्या के समय नगर के अमीर और रईस अपने-अपने वाहनों पर बैठकर शरीर रक्षकों के साथ सैर के लिए निवासगृहों से बाहर निकलते थे। ये लाल रेशमी वस्त्रों से तथा मोतियों की मालाओं से सुसज्जित होकर स्वर्ग से उतरी हुई अप्सराओं के समान अपने-अपने विशाल भवनों की छतों पर ताजी हवा के लिए खड़ी या बैठी होती थीं। रात्रि में संगीत और नृत्य होता था, और स्त्री पुरूष आनंदोत्सव में मग्न रहते थे। गलियों में नाचने-गाने वालों की भीड़ एकत्रित रहती थी।

उद्योग धंधे-कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय था। विभिन्न फसलें उत्पन्न की जाती थीं और उनमें वृद्धि करने के लिए तालाबों, नदियों पर बने बाँधों और कुओं की सिंचाई की जाती थी। पशुपालन भी मुख्य धंधा था, परंतु यह कृषकों से विभिन्न जाति के लोग करते थे। कुम्हार माली, लुहार, सुनार, रंगरेज, स्वर्णकार तथा विभिन्न शिल्पियों के भी व्यवसाय थे। मूँगे, मोती, शंख और सीप की विभिन्न वस्तुओं को बनाने वाले शिल्पी भी थे। मोतियों के आभूषणों का श्रृंगार और सजावट में अधिक उपयोग किया जाता

था। हाथी दाँत की भी कई सुंदर आकर्षक वस्तुएँ बनाई जाती थीं और उत्तरी भारत के अवंती, मगध और महाराष्ट्र से अनेक निपुण शिल्पी दक्षिण भारत के व्यापारिक नगरों में बसे थे। वस्त्र-बुनना, मछली पकड़ना, नमक तथा अन्य विभिन्न वस्तुओं का व्यापार आदि करना विशिष्ट व्यवसाय थे। सूत के अत्यंत ही महीन वस्त्र बुने जाते थे। दक्षिण भारत के बुनकरों का महीन सुंदर मलमल बुनकर का यश गौरव ईस्वी सन् की प्रथम सदियों में ही स्थापित हो चुका था। तमिल साहित्य में इस प्रकार के कपड़ों का विवरण है जो या तो तमिलनाडु में बनते थे या विभिन्न उत्पादक केंद्रों से मँगाए जाते थे। कुछ सूत के वस्त्र इतने अच्छे बने हुए थे कि उन्हे वायु का बना हुआ या उबलते हुए दूध का वाष्प कहा जाता था।

धातुकला भी एक प्रमुख वयवसाय था। विभिन्न धातुओं से लोग परिचित थे। लौह ज्ञात था, स्वर्ण प्रचुरता से प्राप्त था। ताम्र से भी लोक अवगत थे। हाथी दाँत की विभिन्न कलापूर्ण सुंदर वस्तुएँ बनाई जाती थीं। गज-दंत पर उत्कीर्ण कृतियों के हवाले भी उपलब्ध हैं। नमक बनाने और उसका व्यापार करना लोकप्रिय व्यवसाय था। अनेक व्यक्ति जो प्रायः मछुए होते थे, मछली पकड़ते थे और मोती तथा मूँगा भी समुद्र से निकालते थे। मोती और मूँगे की अनेक सुंदर वस्तुएँ मनोरम ढंग से व्यापार के हेतु बनाई जाती थीं। विभिन्न व्यवसायों के कारण धनसंपन्न वर्ग का अभ्युदय हुआ जिसका मुख्य व्यवसाय व्यापार था। व्यापारी वर्ग समृद्ध और धनवान था। बंदरगाहों तथा व्यापारिक केंद्रों के व्यापारियों ने अपने सफल वाणिज्य व्यवसाय से अपार धन संचित किया था तथा समाज और राज्य में बड़ा सम्मान प्राप्त किया था।

विभिन्न व्यवसायों और धंधों के अतिरिक्त समाज में ज्योतिष और चिकित्सा का धंधा करने वाले भी थे। लोग ज्योतिष और भविष्यवाणी, शुभ और अशुभ, मंगल और अमंगल में विश्वास करते थे। प्रायः अंधविश्वास इनके मूल में था। कुरवा जाति के लोग विशेष करके उनकी स्त्रियाँ भविष्य बताने में निपुण मानी गई थीं। आज भी दक्षिण भारत में कुरवा जाति के लोग प्रातः काल डमरू बजाते हुए भविष्य कहते हुए भिक्षावृत्ति करते हैं। उनके डमरू के गुड़गुड़ शब्द से उनका नाम ''गुडु गुडु प्पाँडि'' पड़ गया है। भविष्यवक्ताओं का दूसरा वर्ग मुरूगम देवता के उपासकों का होता था। ये भविष्य कहने में तथा तंत्र-मंत्र विद्या में निपुण होते थे। दक्षिण भारत में सिद्धों या संतों ने वैद्यक व्यवसाय में बड़ी प्रगति की। अनेक संत प्रसिद्ध वैद्य या चिकित्सक रहे और उन्होंने चिकित्साशास्त्र पर ग्रंथ भी लिखे। इसीलिए तमिल देश में चिकित्साशास्त्र को 'सिद्धवैद्यम' कहते हैं। सिद्धवैद्यम की अधिकांश बातें आयुर्वेद से मिलती-जुलती हैं।

दक्षिण भारत में देशी और विदेशी व्यापार थल और समुद्री मार्गों से होता था और वहाँ बड़े-बड़े बंदरगाह भी थे। इससे नौका-निर्माण और जलपोत निर्माण भी बड़ा व्यवसाय था और कई बंदरगाहों में इसके लिए बड़े-बड़े कारखाने थे।

तमिल देश समुद्र तट वाला होने से वहाँ के लोग निर्भीक रूप से समुद्र यात्रा करने वाले हो गए। भारतीय जलसेना का निर्माण करने और समुद्री व्यापार का विकास करने वाले ये सर्वप्रथम भारतीय थे। चोलों की सशक्त जल सेना ने ब्रह्मा के समुद्र तटीय द्वीपों, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा के द्वीप-समूहों की विजय कर बृहत्तर भारत के विकास में बड़ा योगदान दिया था।

व्यापार-विनिमय-तमिल देश में बाहरी और आंतरिक दोनों प्रकार का व्यापार उन्नत था। दक्षिण भारत के मदुरा, कांची, तंजाऊर, कावेरि-पूँ-पट्टिणम आदि बड़े-बड़े नगर व्यापार के केंद्र थे। उत्तर भारत के साथ वैदिक युग से ही दक्षिण भारत का व्यापारिक संबंध था। ईसा पर्वू 2000 वर्ष से ही तमिल देश से मोती, मयूर पंख, हीरा और सोना उत्तरी भारत को भेजा जाता था। आर्य इसका प्रचुर मात्रा में उपयोग करते थे। ऋग्देव और अथर्ववेद की ऋचाओं में मोती की अधिक प्रशंसा की गई है। देवताओं के रथों,

अश्व और तरकसों को सजाने में मोतियों का प्रयोग बाहुल्यता से होता था। संभवतः वस्तु-विनिमय द्वारा आंतरिक व्यापार होता था।

तमिल साहित्य के अनेक ग्रंथो में समुद्री यात्रा, जलपोत, नौकाएँ और व्यापार का विवरण प्राप्त होता है। तमिल ग्रंथों में जलयात्रा से संबंधरखने वाले अनेक शब्द मिलते हैं, जैसे कडल, परवै, पुनारि, अर्कलि, मुन्निरि, कलम, मरक्कलम आदि। तमिल देश के जलपोतों के झंडों पर मछली का चिह्न होता था, जो उनकी तीव्रगति और समुद्री यात्रा का द्योतक था। समुद्री व्यापार का और नोकावाहन का यह भी प्रमाण है कि दक्षिण भारत में उस समय अनेक बंदरगाह थे और बड़े-बड़े बंदरगाहों में नौका तथा जहाज निर्माण के हेतु विशाल कारखाने थे। इन बंदरगाहों, में व्यापार की उन्नति तथा जहाजों की सुरक्षा के लिए सब प्रकार की व्यवस्था थी। समुद्र पर ऊँचे द्वीप-स्तंभ भी बने थे जिनमें से कुछ तो ईंट-पत्थर के बने थे और कुछ ताड़ के बड़े-बड़े वृक्षों को काटकर बनाए गए थे। तमिल देश में रोमन सिक्कों की प्राप्ति यह संकेत करती है कि दक्षिण भारत का विदेशों से व्यापार होता था और रोमन-सिक्कों का व्यापारिक प्रचार था। भारतीय जलपोत दूरस्थ देशों को समुद्र पार जाते थे।

ब्रह्मा, चीन मलाया तथा अन्य पूर्वी देशों से व्यापार-प्रागैतिहासिक काल में दक्षिण भारत के निवासी अपनी नौकाओं और जहाजों द्वारा ब्रह्मा कंबोडिया, हिंदुचीन, मलाया, जावा, उत्तरी बोर्नियों, चीन फिलीपाइन आदि पूर्वी देशों तक आते-जाते थे। चीन के इतिहास में ईसा पूर्व सातवीं सदी में भारत से चीन आने वाली वस्तुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। चीन से भारत आने वाली वस्तुओं में चीनी और रेशम प्रधान आयातित पदार्थ थे। प्राचीन तमिल ग्रंथों में रेशम को ‘‘चीनम्’’ कहा गया है, जिससे यह विदित होता है कि वह चीन से आता था। फिलीपाइन द्वीप के उत्खनन में ईसा पूर्व सातवीं सदी के अनेक आयुध, लोहे के चाकू, कुल्हाड़ियाँ, भाले, छुरे, शीशे के दाने, चूड़ियाँ आदि अन्य कई प्रकार की ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं जिनका भारतीय वस्तुओं से अधिक साम्य है। ऐसी ही वस्तुएँ जावा और बोर्नियों में भी प्राप्त हुई है और ये सब पूर्वी देशों से भारत के विदेशी व्यापार और संबंधों को प्रमाणित करती है।

4.3.5 पल्लव काल

पल्लव काल में ग्राम का आर्थिक क्रिया-कलाप कृषि मात्र में ही सीमित नहीं था। ग्रामवासियों द्वारा अनेक प्रकार के उद्योग, यथा-बुनकरी कुम्हारी, बढ़ईगिरी, लोहारी, सोनारी आदि पेशे के रूप में अपनाए जाते थे। सामान्य पण्य द्रव्य के रूप में अन्न, तैल, घृत, नारियल, गुड़ आदि थे। नमक, कपूर, मसाले आदि का भी व्यापार होता था। इन द्रव्यों का विशेष विपणन मंदिरों के उत्सवों और मेलों के समय में होता था। सामयिक बाजार भी लगा करते थे। पल्लव शासकों का विदेशी व्यापर के प्रति संरक्षण भाव था। महाबलीपुरम् विशेष रूप से एक अंतर्राष्ट्रीय समुद्रपत्तन के रूप में ही बसाया गया था। यहाँ से दंतपुर ताम्रलिप्ति, श्रीलंका और पूर्वी द्वीपसमूहों के लिए निरंतर जहाज चलते थे। पूर्वी द्वीपसमूहों से स्वर्ण और मसालों का व्यापर होता था। ईलियट द्वारा प्रकाशित पल्लवों की रजत मुद्राओं पर मस्तूलदार जहाज भी बने हैं। ये सिक्के नरसिंहवर्मन और राजसिंह के समय में प्रचलित समुद्री नौकायन के प्रतीकहैं। जिन मुद्राओं पर विशेषतया जल-प्रतीक, यथा कच्छप, मत्स्य आदि पाए जाते हैं। वे भी पल्लवों के समुद्री व्यापार के प्रमाण हैं। ऐसी मुद्राएँ प्रायः कारोमंडल तट से प्राप्त हुई है। आंतरिक व्यापार के संचालक ग्राम वणिक थे और भारी व्यापारिक मंडियाँ और आढ़त तथा समुद्री व्यापार में नगरश्रेष्ठी या श्रेष्ठी भाग लेते थे।

4.3.6 चालुक्य काल

चालुक्य काल में राज्य की आर्थिक व्यवस्था विभिन्न प्रकार के युद्धों के बावजूद सुचारू थी। पारंपरिक रूप से कृषि ही आय का विशेष साधन था। कृषि की सुविधा के लिए तालाब आदि बनाने का

उल्लेख चालुक्य अभिलेखों में मिलती है। उद्योग के क्षेत्र में अच्छी प्रगति थी। विभिन्न प्रकार के आर्थिक संघों की भी सूचना अभिलेखों से मिलता है। करहद, मिरज आदि दानपत्रों के पान, घी, तेल, अन्न, कपास, लकड़ी की बनी वस्तुओं, वस्त्र, मिर्च, हल्दी, लहसुन, नमक, सोने-चाँदी की वस्तुएँ आदि के व्यापार की सूचना मिलती है। स्थानीय बाजारों के अलावा ''दीपान्तर'' व्यापार भी प्रचलित था। व्यापारिक समुदाय सुखी था और नगर जीवन में नगरश्रेष्ठी का बड़ा समादर था।

4.3.7 चोल काल

चोल काल में कृषक उत्पादकों की ही अधिकता थी जो ग्रामों में रहते थे। भूमिस्वामित्व व्यक्तिगत था। भूमिहस्तांतरण विक्री और दान के द्वारा वैध था। समाज में इन लोगों का विशेष आदर था जो कि अधिक से अधिक भूमि के स्वामी थे। ग्राम प्रबंध में मुख्यतया जमींदारों का ही हाथ रहता था। कुछ क्षेत्रों में सामूहिक भूमि स्वामित्व होता था। अधिकांश किसान भूमिहीन कृषक थे अथवा भूमिदास थे। सरकारी कागजातों में सभी करदाताओं का नाम दर्ज होता था। भूमिहीन किसानों का कोई लेखा-जोखा नहीं होता था। शिल्पियों के अधीन भी भूमि होती थी। ग्राम शिल्पी ग्रामों की छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। ग्राम में रहने वाले छोटे किसानों और भूमिदासों तथा छोटे शिल्पियों की आर्थिक स्थिति विपन्न होती थी और उन्हें अपनी जीविका के लिए मुख्यतया भूमिधर जमींदारों का मुखापेक्षी होना पड़ता था। श्रमिक वर्ग दैनिक वृत्ति पर निर्वाह करते थे जो कि मुख्यतया अन्न के रूप में देय होता था। इनकी बस्तियाँ भी ग्रामों में संभ्रांत कृषकों एवं व्यक्तियों से दूर झोपड़पट्टी के रूप में होती थीं। खेती के योग्य भूमि का बहुत बड़ा भाग मंदिरों पर चढ़ाया होता था अथवा ब्रह्मदेय तथा अग्रहार के रूप में वितरित था। ब्राम्यदेय और अग्रहार ग्राम विभिन्न करों से मुक्त होते थे। असामी प्रथा भी थी अर्थात बड़े किसान अपनी भूमि पर खेती न करके उपकिसानों को खेती के लिए देते थे तथा पैदावार में भाग लेते थे। सैनिकों एवं सेनापतियों को भी वेतन के रूप में भूमि दिया जाता था। कृषि की व्यवस्था पर राज्य विशेष ध्यान देता था। यह राजकीय आय का एक बहुत बड़ा स्रोत भी था। ग्राम-प्रचायतों को नहरों एवं तालाबों की निरंतर देखरेख करनी होती थी। सिंचाई के विभिन्न साधन प्रयोग में लाए जाते थे। चोलशासन में बंजर और जंगलों को कृषिभूमि में परिवर्तित करने का विशेष प्रयास किया गया। भूमि का वर्गीकरण उपज के आधार पर किया जाता था। पशुधन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। गड़ेरिये, कलनै नामक समूहों में संघटित थे। इन पर भी अनेक प्रकार के कर लगाए जाते थे। उद्योग की स्थिति अच्छी थी। उद्योगों की खपत कुछ तो स्थानीय बाजारों के माध्यम से हो जाती थी और कुछ दूर-दूर के बाजारों में खप जाते थे। चोल अभिलेखों में विभिन्न प्रकार के बुनकरों, बढ़इयों, लोहारों, स्वर्णकारों एवं रत्नाकारों का उल्लेख मिलता है। नमक के व्यापार और उत्पादन पर राजकीय नियंत्रण था। ऐसे उद्योग जो कि विशिष्ट प्रकार के थे और महँगी वस्तुएँ बनाते थे, उनका ग्राहक मुख्यतया राज्यवर्ग होता था। व्यापारी संगठित थे और उनके विभिन्न प्रकार के शक्तिशाली संगठन थे, जैसे मणिग्रामम् बलंजियर, तेलिकी आदि। इनका उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में बहुत बार आया है। सबसे प्रमुख वणिकसंस्थान नानादेशी कहलाता था। वह वस्तुतः अंतर्राज्यीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार करते थे। इनके संघ आंतरिक व्यवस्था के लिए स्वतंत्र थे और राजनैतिक तथा प्रशासनिक बाधाओं से मुक्त थे। राजा तथा प्रजा में इनका विशेष सम्मान था किसी बड़े नगर में इनका कार्यालय होता था और अन्य स्थानों पर इनकी शाखाएँ होती थीं। आंतरिक व्यवस्था के लिए इनकी अपनी सभा होती थी। सार्वजनिक लाभ के लिए इनके द्वारा अनेक हितकारी कार्य होते थे, जिनमें मंदिर संबंधीदान और मंदिर निर्माण भी शामिल था। एक अंतर्राष्ट्रीय नानादेशीय नामक व्यापारिक संघ ने पगान (बर्मा) में एक विष्णु मंदिर का निर्माण कराया था। स्थानीय व्यापारी संघ जो कि बड़े-बड़े

नगरों में स्थानीय व्यापार करते थे, नगरम् कहलाते थे। उद्योग और व्यापार के लिए ऋण सुलभ था जिस पर 12% अथवा 15% ब्याज देना होता था। देश-देशांतर की व्यापार की दृष्टि से चोलशासन में बड़ी प्रगति हुई। वस्तुतः कडारम जैसे विजय चोल राजाओं ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की पृष्ठभूमि में ही किया था। चोल नाविक और व्यापारी लंका, लक्षदीप, मालद्वीप के अतिरिक्त मलाया प्रायद्वीप तथा चीन के कैंटन नगर तक व्यापार करते थे। मुख्य बंदरगाह जो इन समुद्री व्यापार के केंद्र थे, महाबलीपुरम्, कावेरीपट्टिनम्, सैलूर, कोरकै आदि थे। व्यापार सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए राजराज और राजेंद्र के समय में चीन देश को दूतमंडल भी भेजे गए। विदेशी व्यापार के माध्यम से विभिन्न प्रकार के गंध, चंदन, कपूर, रत्न, हाथीदाँत के सामान, आबनूस, कागज, औषधियाँ आदि इस देश से बाहर जाती थीं। पूर्वी द्वीपसमूहों से मसाले का व्यापार होता था। अरब देश से घोड़े का व्यापार होता था। चीन से रेशमी वस्त्र, रत्न आदि इस देश को आते थे। विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्कों का व्यापार होता था। सिक्के सोने और चाँदी, दोनों के होते थे। सोने के सिक्के दो भार के होते थे। एक गदैया प्रकार के सिक्के जो 58 ग्रेन के होते थे और दूसरा कलंजु प्रकार के सिक्के जो 72 ग्रेन के होते थे। व्यापारिक लेन-देन के लिए मान पद्धति भी निर्धारित थी, जिसका सबसे वजनी मान कलम और सबसे हल्का मान मंजाडी और सेविडु कहलाता था।

4.3.8 राष्ट्रकूट काल

राष्ट्रकूट काल में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की मान्यता थी। किंतु कर की अदायगी न करने पर राजा को कृषक को भूमि से वंचित करनें का भी अधिकार होता था। ऊसर और गोचरभूमि सामूहिक स्वामित्व अथवा सार्वजनिक उपभोग का अधिकार ग्राम वासियों को होता था। वन, खनिज, जैसी भूमि पर राजा का स्वामित्व था। विविध प्रकार के भूमिकर प्रचलित थे। भागकर और उद्रंग कर का अभिलेखों में बराबर उल्लेख होता है। कृषक भूमिकर अन्न के रूप में भी दे सकते थे और वसूली भी दो तीन बार में होती थी। कर माफी के भी उदाहरण मिलते हैं। अग्रहार ग्राम कर से मुक्त थे।

राष्ट्रकूट समाज का आर्थिक ढाँचा दृढ़ था। कपास, ज्वार, बाजरा, धान, नारियल, की उपज अधिक होती थी। चंदन, आबनूस, और इमारती लकड़ी का व्यापार उन्नति पर था। ताँबे की खानों से राज्य को अच्छी आमदनी थी। मार्ग पहाड़ी किंतु यातायात के योग्य थे। आंतरिक और विदेशी व्यापार में प्रगति थी। बाजार में वस्तुएँ सुलभ और सस्ती थीं। एक विवरण के अनुसार1 गाय, 32 सेर चालव, 25 सेर दाल, 24 सेर दही, 3 सेर घी, 75 सेर नमक की कीमत 1 रूपये थी। भैंस की कीमत 2 रूपये थी। विनिमय ही पणन का अधिक प्रचलित माध्यम था। वेतन भी अन्न के रूप में अधिक दिया जाता था। सिक्कों की कभी थी।

4.3.9 सारांश

गुप्तोत्तर कालीन दक्षिण भारत सामान्य रूप से समृद्ध और धन-संपन्न था। वहाँ आर्थिक जीवन संतोषप्रद और सुखी था।

4.3.4.1 ग्राम

प्राचीन तमिल प्रदेश में बड़े-बड़े नगर कम थे। अधिकांश लोग ग्रामों में निवास करते थे। छोटे-छोटे गाँवों की संख्या अधिक थी। प्रायः ग्राम स्वतंत्र और स्वावलंबी होते थे। उनके प्रशासन की समस्त व्यवस्था ग्राम की पंचायत करती थी। ग्राम योजनापूर्वक बनाए जाते थे। उसमें एक या दो सीधी सड़कें या जन-मार्ग होते थे जिसके दोनों ओर पंक्तिबद्ध निवासगृह होते थे। सड़क से मिली हुई गलियाँ होती थीं। ग्राम के मध्य में ब्राह्मणों की गली, जिसे अग्रहारम कहते थे, होती थी, गली के एक छोर पर ग्राम का मुख्य

मंदिर होता था। ग्राम के बाहर की अन्य गलियों में कृषक, शिल्पी, वणिक आदि के निवासगृह होते थे। गलयाँ स्वच्छ और चैड़ी होती थीं। ग्रामों में अमीर और गरीब दोनों प्रकार के लोग रहते थे। अमीरों के निवासगृह दो या तीन मंजिल वाले होते थे और इनको ''माडम'' कहते थे। गरीब लोग प्रायः घास-फूँस और लकड़ी के झोंपड़ों में रहते थे। सुरक्षा के लिए गाँव के चारों ओर दीवार या घने जंगल होते थे जिससे शत्रु या लुटेरे सरलता से प्रवेश कर सकें।

4.3.4.2 नगर

तमिल देश में आर्थिक समृद्धि के कारण कावेरि-पूँ-पट्टिणम, काँची, श्रीरंगम आदि जैसे विशाल नगर भी थे। प्रायः नगर योजना और वास्तुशास्त्र के नियमानुसार बसाए जाते थे। साधारणतया सुरक्षा के हेतु नगर के चतुर्दिक गहरी खाई होती थी जिसमें सदा जल भरा रहता था और उसके बाद भी भीतर की ओर ऊँची सुदृढ़ प्राचीर होती थी जिस पर नगर-रक्षक पहरा देते थे। नगर के भीतर कई प्राचीरे होती थीं जिससे नगर अलग-अलग भागों में विभक्त हो जाता था। इन प्राचीरों को प्राकारी कहते थे। नगर के बाहर मठ, शालाएँ तथा सन्यासियों और मुनियों के आश्रम होते थे। नगर की प्रमुख प्राचीर के समीप के प्रकार में निम्न जाति और हीन व्यवसाय करने वाले लोग रहते थे। वहाँ, मद्य, माँस, मछली, नमक, मिष्ठान आदि साधारण वस्तुओं की दुकाने भी होती थीं। इससे भीतर के प्राकार में छोटे-छोटे व्यापारी, शिल्पी और व्यवसायी रहते थे, जैसे लुहार, सुनार, सुतार, जौहरी, कसेरे, दर्जी, गंधी, माली, रंगरेज, शंख और मोतियों के कारीगर, फेरीवाले आदि। इसके बाद के प्राकार में ब्राह्मण, शासकीय अधिकारी और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति रहते थे। सबने भीतर के केंद्रीय प्रकार में राजमहल, राजसभा भवन, शासकीय भवन मंत्रणागृह, नृत्यशाला एवं मंदिर आदि होते थे। नगर में यात्रियों के ठहरने व भोजन के लिए धर्मशालाएँ, विश्रामस्थल और भोजनालय थे। संपन्नता और सुख वैभव का जीवन-देश में शांति, सुरक्षा और व्यवस्था रहने से, देशी और विदेशी व्यापार तथा उद्योग-धंधों की निरंतर वृद्धि और प्रगति से दक्षिण भारत ने लोगों, व्यवसायियों और व्यापारियों का जीवन भी समृद्ध, सुखी और वैभवपूर्ण था।

4.3.10 बोध प्रश्न

4.3.10.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत आर्थिक पतन के कोई तीन कारण लिखिए।
2. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत के ग्रामों की आर्थिक अवस्था पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
3. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत के ग्रामों की आर्थिक अवस्था पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
4. पल्लव कालीन आर्थिक स्थिति का मूल्याँकन कीजिए।
5. चालुक्य कालीन आर्थिक स्थिति का मूल्याँकन कीजिए।
6. राष्ट्रकूट कालीन आर्थिक स्थिति का मूल्याँकन कीजिए।

4.3.10.1 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत की आर्थिक स्थिति का वर्णन कीजिए?
2. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत में आर्थिक गतिविधियों में पतन के कारणों की विस्तृत व्याख्या लिखिए।
3. चोल कालीन आर्थिक स्थिति का विवेचन कीजिए?
4. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत में नगरों की आर्थिक स्थिति का विवेचन कीजिए।
5. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत में उद्योग धंधों पर प्रकाश डलिए।
6. गुप्तोत्तर दक्षिण भारत में व्यापार-वाणिज्य का विवेचन कीजिए।
7. गुप्तोत्तर दक्षिण भारतीय अर्थ व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए?

4.3.10 संदर्भग्रंथ सूची

1. रमशेचन्द्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. राजबली पाण्डेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संसद, वाराणसी, 1962
3. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
4. रैप्सन, ई.जे.: कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1
5. राय चैधरी, एच.सी.: पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
6. नीलकंठ शास्त्री, के.ए.: हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1, एंशेण्ट इण्डिया, मद्रास, 1950
7. स्मिथ, बी.ए.: अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
8. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
9. नीलकंठ शास्त्री: ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957
10. एलन, हेग, डाडवेल: दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इण्डिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
11. मजूमदार तथा पुसलकर: दी इम्पीरियल एज ऑफ कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
12. मजूमदार तथा पुसलकर: दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953

खंड-4 : गुप्तोत्तरकाल (दक्षिण भारत)

इकाई-4 : सांस्कृतिक विकास

इकाई की रूपरेखा

4.4.1. उद्देश्य

4.4.2. प्रस्तावना

4.4.3. चालुक्य काल

4.4.3.1. शिक्षा और साहित्य

4.4.3.2. कला एवं स्थापत्य कला

4.4.3.3. मूर्तिकला

4.4.3.4. चित्रकला

4.4.3.5. शासन प्रबंध

4.4.4. पल्लव काल

4.4.4.1. शासन प्रबंध

4.4.4.2. धर्म और साहित्य

4.4.4.3. कला एवं वास्तुकला

4.4.5. सारांश

4.4.6. बोध प्रश्न

4.4.6.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

4.4.6.1. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

4.4.7. संदर्भ ग्रंथ

4.4.1. उद्देश्य

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल 'स्वर्ण-युग' के नाम से जाना जाता है। गुप्त सम्राटों ने लगभग 230 वर्षों तक भारत के राजनीतिक पटल पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुप्तकाल के पूर्वार्द्ध में भारत के सांस्कृतिक जीवन में जो पूर्णता आई उसकी कोई तुलना नहीं है, परंतु इस काल में भारत में जो सांस्कृतिक चेतना जागृत हुई, वह गुप्तकाल की समाप्ति पर भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई। गुप्त राजवंश के पतन के बाद भी उनके शासन से प्रभावित सांस्कृतिक संस्कारों की शृंखला गुप्तोत्तर काल तक बनी रही। अतः इसी शृंखला को ध्यान में रखकर प्रस्तुत इकाई का 'गुप्तोत्तर दक्षिण भारतीय सांस्कृतिक स्थिति' नामकरण किया गया है। अतः दक्षिण भारतीय गुप्तोत्तर सांस्कृतिक स्थिति का विवरण चालुक्य और पल्लव राजवंशों के विशेष संदर्भमें प्रस्तुत करना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

4.4.2. प्रस्तावना

यह इकाई गुप्तोत्तरकालीन दक्षिण भारतीय राजवंशों विशेष रूप से चालुक्य और पल्लव राजवंशों से संबंधित हैं। वस्तुतः दक्षिण भारत के विस्तृत भागों में शासन करने वाले इन प्रमुख राजवंशों के सांस्कृतिक विकास को एक साथ क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास है। इस इकाई में गुप्तोत्तरकालीन दक्षिण भारत के गौरवशाली राजवंशों के सांस्कृतिक जीवन का इतिहास संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इकाई में आधारभूत साक्ष्यों को मूलरूप में प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयास किया गया है

तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का चित्रण समीक्षात्मक पद्धति पर किया गया है, जिससे वे अधिक से अधिक बोधगम्य बन सकें।

4.4.3. चालुक्य काल

चालुक्य काल में लोगों के स्वभाव में सौम्य और उग्रभाव का अपूर्व समन्वय था। युद्ध और अपकार की स्थिति में उनमें जो क्रूरता और उग्रता थी वह सामान्य 'स्थिति में नहीं देखने को मिलती थी। सामान्य लोग, मुख्यतया खेतिहर किसान शांतिप्रिय थे। उनमें धर्म के प्रति रूचि थी और धार्मिक समन्वय उनका स्वभाव था। वातापी के चालुक्य नृप भी धार्मिक दृष्टि से सद्भाव और समन्वय को मान्यता देते थे। वैदिक और पौराणिक धर्म के अतिरिक्त बौद्ध और जैन धर्म भी फलफूल रहे थे। हुआन सांग के विवरण से ही ज्ञात होता है कि महाराष्ट्र में नासिक के आसपास पाँच अशोककालीन स्तूप थे और शताधिक बौद्ध मठ थे जिनमें सहस्रों भिक्षु साधना करते थे। उन्हीं के आसपास 'देवोपासक' भस्म रमाते थे। अजंता के बिहार भी आबाद थे। चालुक्य नृप अधिकांशतः शैव और विष्णु के उपासक थे। उनके द्वारा बादामी, पट्टदिकल, अयहोलि आदि में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। यद्यपि किसी नृप ने जैनधर्म अंगीकृत नहीं किया, किंतु उनकी सद्भावना जैनधर्म के प्रति थी। पुलकेशिन् द्वितीय की जैनधर्म के प्रति उदार दृष्टि थी– जिसका उल्लेख रविकीर्ति ने अपने लेख में जैन मंदिर के निर्माण के प्रसंग में किया है। जैनधर्म के प्रति चालुक्य कुल की अनेक रानियों की आस्था थी जिनके द्वारा जैन मंदिर भी निर्मित हुए। कुटकुमादेवी, और कलियम्मा के द्वारा जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। वैदिक धर्म और यज्ञों के प्रति भी चालुक्य नृपों की बड़ी रूचि थी। अयहोलि अभिलेख में ही उल्लेख है कि पुलकेशिन् प्रथम्, कीर्तिवर्मन प्रथम, मंडलेश और पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा संपादित अश्वमेध, श्रोतादि यज्ञों का उल्लेख मिलता है। इनमें से अनेक के द्वारा ब्राह्मण, माहेश्वर, परमवैष्णव आदि उपाधियाँ धारण की गईं विशेष अवसरों पर– यथा, ग्रहण आदि पर उनके द्वारा व्रत दान आदि संपन्न होते थे। कीर्तिवर्मन् द्वितीय द्वारा कन्ची के ब्राह्मणों के प्रति उदारता और शत्रु देश के मंदिरों के प्रति सद्भाव और दानवृत्ति एक राजोचित किंतु दुर्लभ उदाहरण है।

4.4.3.1. शिक्षा और साहित्य

हुआन सांग ने लिखा हे कि लोगों की विद्या से स्वाभाविक रूचि थी। अभिलेखीय प्रसंगों में युवराजों की शिक्षा आदि के प्रसंगों से ज्ञात होता है कि युवराजों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पुलकेशिन् प्रथम को अध्ययन काल में मनु के धर्मशास्त्र , पुराण और रामायण की शिक्षा दी गई थी। मंगलेश को विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान कराया गया था। वातापी नगर विद्या और कला का केंद्र था जहाँ सहस्रों द्विज 'चौदह शास्त्रों' का अध्ययन करते थे। इनमें चार वेद, छह वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र आदि शामिल थे। कुछ अभिलेखों में 'श्री महाचतुर्विद्या' का उल्लेख आया है जो अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीय समझा जा सकता है। बोलचाल की भाषा कन्नड़ थी, जो प्राकृत भाषा कहलाती थी। अभिलेखों में उच्चकोटि की संस्कृत देखने को मिलती है। संभ्रांत वर्ग की भाषा संस्कृत थी। अयहोलि अभिलेख जहाँ इस युग के संस्कृत काव्य का प्रतिनिधित्व करता है (जिसके कर्ता रविकृति ने अपनी तुलना कालिदास और भारवि से की है, वहाँ महाकूट अभिलेख अपने युग के प्रवाहपूर्ण संस्कृत गद्य का। समकालीन गंगराज दुर्विनीत संस्कृत और कन्नड दोनों ही भाषाओं का प्रकांड विद्वान और कवि था। इसके द्वारा रचित 'शब्दावतार' संस्कृत भाषा का अद्भुत व्याकरण ग्रंथ है। इसने भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' के पंद्रहवें सर्ग की टीका लिखी है। 'वृहत्कथा' सबसे प्राचीन संस्कृत रूपांतरण का भी यही कर्ता माना जाता है। चन्द्रादित्य की रानी विजयभट्टारिका की पहचान सुप्रसिद्ध संस्कृत कवयित्री विजयांका अथवा विज्जिका से की गई है जो राजशेखर के अनुसार वैदर्भी रीति में रचना में बड़ी पटु थी।

अचलद के भारतनाट्य की टीका पर कुछ ही छंद पाए गए हैं, किंतु उनका बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व माना गया है। 'जनेंद्र व्याकरण' नामक संस्कृत व्याकरण का ग्रंथ भी विक्रमादित्य के समय में लिखा गया। सोमदेवसूरि को, जोकि 'यशस्तिलक चम्पू' और 'नीति वाक्यामृत' का कर्ता माना जाता है, चालुक्य संरक्षण प्राप्त था। दुर्विनीत कन्नड़ गद्य का प्रसिद्ध लेखक था। श्रीवर्धदेव अथवा तुम्बुलुचार्य ने 'तत्वार्थ महाशास्त्र' पर 'चुड़ामणि' नामक विस्तृत टीका लिखी है। श्यामकुण्डाचार्य भी इसी का समकालीन था और प्राकृत, संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा का कवि था। पंप का 'आदिपुराण' 'विक्रमार्जुन विजय, 'पंपभारत' चालुक्य शासन के अंतिम वर्षों में लिखे गए ग्रंथ हैं। कन्नड़ कवियों में पंप का सर्वाधिक सम्मान है।

4.4.3.2. कला एवं स्थापत्य कला

चालुक्य संरक्षण में बिहार और मंदिरों का निर्माण हुआ। इनके संरक्षण में स्थापितों ने कई अभिनव प्रयोग किए। बिहार शैली पर प्रकृत शैल-उत्कीर्णित गुफा संरचनात्मक मंडपों का भी निर्माण हुआ और पत्थरों को जोड़कर मंदिर वास्तु की भी परंपरा चली। शैली की दृष्टि से नागर और द्रविड़ दोनों ही शैलियों के तथ्यों के आधार पर अलग-अलग मंदिर भी बने और एक नई शैली, बेसर शैली के अंतर्गत भी मंदिर निर्मित हुए। प्रभाव की दृष्टि से आरंभ में गुप्तवास्तु और मूर्तिशिल्प अयहोलि, वादामी और पट्टदिकल के वास्तु और मूर्तिशिल्प का अनुप्रेरक है, किंतु कालांतर में जब पल्लवों का राजनीतिक प्रभाव या संपर्क चालुक्यों से हुआ तो पल्लव मूर्तिशैली (मामल्ल शैली) का प्रभाव वादामी के मूर्ति की कला विशेष रूप से परिलक्षित हुआ। विरूपाक्ष मंदिर पर यह प्रभाव सर्वाधिक है। एक तरह से यह कहना उचित है कि ज्यों-ज्यों चालुक्य कला पर गुप्त कला शैली का प्रभाव क्रमागत रूप से घटता गया, उसके स्थान पर उत्तरोत्तर रूप से द्रविड़ (पल्लव) शैली का प्रभाव बढ़ता गया।

चालुक्यों के संरक्षण में अयहोलि वस्तुतः एक मंदिरों के नगर के रूप में विकसित हुआ, जहाँ पाँचवीं और सातवीं शती के बीच लगभग सत्तर मंदिरों का निर्माण हुआ। यहाँ का गौहर मंदिर, जिसका निर्माण 425-450 ई. के बीच हुआ, सबसे प्राचीन रचना है। इसके बाद लाडखाँ मंदिर की रचना की गई। आरंभिक रचना शैली में मंदिर वास्तु मात्र स्तंभों पर आधारित 'मंडप' मात्र था, जिस पर एक सपाट छत हुआ करती थी। लाडखाँ मंदिर एक ऊँचे और चतुस्र अधिष्ठान पर स्थित है जिस पर उसका स्तंभीय मंडप बना है। मुख्यतया इसकी ढुलाई छत चार बड़े और भारी स्तंभों पर टिकी है जिसके बाहरी ओर पुनः 12 और 20 अर्धस्तंभों की शृंखला बनी है ऊपरी छत का ढालुआँ निचला भाग इन्हीं स्तंभों पर टिका है। इन दो शृंखलाओं के स्तंभ एक प्रदक्षिणापथ जैसा-बनाते हैं। बाहरी स्तंभ-शृंखलाओं का अंतराल भारी अलंकृत जालीदार पत्थरों से तीन तरफ से बंद है। केवल पूर्व की ओर वह जाली नहीं है। यह समूचा भाग 'मंडप' का निर्माण करता है, जिसमें एक विशाल 'नंदी' बना हुआ है। इस मंडप के पूर्व में स्तंभीय मुखमंडल है। मंडप के पीछे की ओर की भित्तिका पर जालीकर्म नहीं है। इस भाग में भीतर की तरफ एक वर्गाकार प्रकोष्ठ बनाकर उसे गर्भगृह का रूप दिया गया है, जिसमें मुख्य प्रतिमा पधरायी गई है, और गर्भगृह सहित मंडप और मुखमंडप एक ही छत से आच्छादित हैं जिसकी रचना 'द्विछाद्य' प्रकार की है। 'मंडप' के मध्यभाग के ऊपर एक ओर कोष्ठ है, जो नचनाकठारा (गुप्तकालीन मंदिर) की तरह इस मंदिर को द्वितल प्रकार का सिद्ध करता है। इसमें सूर्य की प्रतिमा पधरायी गई है। इसके ऊपर शिखर का निर्माण नहीं हुआ था। इस प्रकार इस मंदिर की योजना एक 'बिहार' रचना-प्रकार से काफी मिलती-जुलती है। मुखमंडप के दोनों ओर गंगा और यमुना की बड़ी सुदंर प्रतिमाएँ बनी हैं। मंडप केदोहरी शृंखलाबद्ध स्तंभ, जिसकी रचना में पीठोपधान स्तंभशीर्षक विधा का उपयोग किया गया है, वस्तुतः ये द्रविड़ प्रभाव की

ओर संकेत करते हैं। मंदिर की बाहरी भित्तिका 20 फीट ऊँची है। छत के निर्माण में बारीक तराशी और उचित अनुपात-इसके शिल्पियों की तकनीकी कुशलता के परिचायक हैं।

चालुक्यों की राजनगरी वातापी या वादामी भी चालुक्य वास्तु का केंद्र रहा है। यहाँ पर स्थित चार मंदिरों में तीन ब्राह्मणधर्म से संबंधित हैं और एक जैन। अयहोलि मंदिर के वास्तुविधान की तुलना में यहाँ का वास्तु विधान भिन्न है और वे प्रकृत शैल को उत्कीर्णित करके बनाए गए हैं। किंतु वास्तु-तत्वों का संयोजन बहुत कुछ अयहोलि प्रकार का ही है। यहाँ के चारों मंदिर के वैष्णव मंदिर(गुफा-3) सबसे प्रचीन (578 ई.) है। जैन मंदिर सबसे बाद का है। इन मंदिरों के प्रमुख वास्तु तत्व स्तंभीय मंडप, जिसके बाहरी तरफ बरामदा और मंडप के सबसे पीछे एक गर्भगृह है। गुफा-3 में अनंतनाग पर आसीन विष्णु (जैसा कि देवगढ़ में देखने को मिलता है) तथा नरसिंह का अंकन बड़ा भव्य और शिल्पात्मकता की दृष्टि से उत्कृष्ट है। वादामी के मंदिर का बाहरी भाग सादा, किंतु अभ्यंतर का भाग सुरूचिपूर्ण अलंकरण से सज्जित है।

इन गुफा मंदिरों के अतिरिक्त, बादामी में कुछ चालुक्यकालीन वास्तु मंदिर भी है, जो कि दाक्षिणात्य प्रभाव को अपेक्षाकृत अधिक परिलक्षित करते हैं। परवर्ती अयहोलि शैली की परंपरा में एक विष्णु मंदिर संभवत: विक्रमादित्य प्रथम के समय में निर्मित हुआ। कुछ दशक के बाद पुनः इस मंदिर का विस्तार किया गया और इसे शैव मंदिर के रूप में विकसित किया गया। इसे आजकल पापनाथ मंदिर के नाम से जाना जाता है। मूल मंदिर के विमान को अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत किया गया। 725 ई. के आसपास विजयेश्वर के नाम से एक अन्य मंदिर का निर्माण यहाँ विजयादित्य के समय में हुआ। आजकल इसे संगमेश्वर मंदिर कहते हैं। विक्रमादित्य की रानी लोकमहादेवी और त्रैलोक्यमहादेवी ने 740 ई. और 746 ई. के बीच में दो बड़े मंदिरों का निर्माण कराया। प्रथम विरूपाक्ष और दूसरा मल्लिकार्जुन मंदिर के नाम से जाना जाता है। इन मंदिरों की निर्माण विधा में क्रमागत रूप से गुप्त चालुक्य शैली का प्रभाव कम होता गया और पल्लव मामल्ल शैली का प्रभाव बढ़ता गया। पापनाथ मंदिर में अयहोलि और बादामी शैली का प्रभाव काफी है और इस पर नागरशैली का विकसित शिखर भी है। अलंकरण सज्जा में भी नागरशैली का विशेष प्रभाव है। किंतु संगमेश्वर पर पल्लवशैली का स्तूपी प्रकार का शिखर है। विरूपाक्ष और मल्लिकार्जुन मंदिर पूरी तरह पल्लव-मंदिर वास्तु का अनुगमन करते हैं। किंतु सज्जा और अभिप्राय का इसमें पल्लव वास्तुशैली की अपेक्षा यहाँ कम उपयोग है, और इन मंदिरों की बाहरी रूपरेखा पल्लव मंदिरों की तरह बोझिल नहीं है।

नागर और द्रविड़ शैली का प्रयोगात्मक प्रयास पापनाथ मंदिर में प्रथम हुआ। यदि नागरशैली का शिखर इसमें न होता तो यह संपूर्णतया द्रविड़ शैली (मामल्ल शैली) का ही नमूना ठहरता। 90 फीट ऊँचे इस मंदिर में गर्भगृह के बाद एक विस्तृत अंतराल है, जो लगता है मानों एक मंडप ही हो। अंतराल के बाद 'मंडप' है और उसके मुखमंडप। संपूर्ण वास्तु तत्व एक ऊँचे अधिष्ठान पर बनाया गया है। पूरा वास्तु समुदाय एक ऊँची और बंद स्तंभयुक्त भित्तिका से घिरा है, जिसमें कार्निसें (कपोत) बनी हैं। छत सपाट है। पूर्व की ओर एक शिखर निर्मित है। स्थान स्थान पर भित्तिकाओं में अर्द्धस्तंभों के बीच प्रकाश के लिए जालियाँ बनी है। भित्तिकाओं में देवप्रकोष्ठ भी बने हैं। प्रदक्षिणापथ भी है। मंदिर की भूमि योजना त्रिरथ प्रकार की है।

बादामी और पट्टदिकल के बीच स्थित महाकूटेश्वर मंदिर नागरशैली के शिखर से युक्त त्रिरथ प्रकार का है। मध्य रथ के समीप के उपमंदिर पंचरथ का पूर्वाभास प्रकट करते हैं। वर्गाकार विमान के आगे एक मंडप और उसके बाद अर्द्धमंडप इस मंदिर के प्रमुख वास्तु तत्व है। गर्भगृह एक प्रदक्षिणापथ से घिरा

है। मंडप आदि स्तंभीय भित्तिका से बंद है किंतु प्रकाशादि के लिए स्थान-स्थान पर संछिद्र प्रस्तर लगे हैं। भित्तिका के ऊपर कपोत (कार्निस) भी है और इसके ऊपर के अलंकरण और विन्यास में दक्षिणात्य तत्व, यथा द्वार, कूट, शाला आदि प्रयुक्त हैं। इस मंदिर के सभी तत्व एक ऊँचे अधिष्ठान पर स्थित हैं। इसी मंदिर के प्रांगण में स्थित मल्लिकार्जुन मंदिर इसी आकार प्रकार का है।

4.4.3.3. मूर्तिकला

मूर्तिशिल्प की दृष्टि से चालुक्यों के संरक्षण में कुछ विशिष्ट प्रयोग किए गए। इस प्रयोग में गुप्त वेन्गी और पल्लव मूर्तिशैलियों से प्रेरणा ली गई और फिर विशिष्ट चालुक्य शैली का स्वरूप उभारा गया। मूर्तिशैली के विकास में पश्चिमी लयण शैली का भी पूरा अनुयोग रहा। इस युग में अन्य गुप्तोत्तर कला केंद्रों की तरह मूर्तिशिल्प का उपयोग वास्तु सज्जा के रूप में हुआ। इस प्रकार मूर्तिशिल्प अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुए भी वास्तु का पूरक सिद्ध हुआ। फलतः चालुक्य मूर्तिशिल्प का विकास चालुक्य मंदिर वास्तु विकास का अनुवर्ती रहा। कालक्रम की दृष्टि से पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध से सातवीं शती ईसवी तक को मूर्तिकला अपने पुष्ट स्वरूप में उपस्थित हुई। आरंभिक मूर्ति कृतियोंमें गुप्तशिल्प का प्रभाव अधिक परिलक्षित है। बाद में पल्लव प्रभाव और वेन्गी प्रभाव अधिक सक्रिय द्रष्टव्य होता है।

कालक्रम से वादामी के लयण (गुफा-मंडप) की मूर्तिसज्जा की विवेचना अधिक उचित है। गुफा संख्या-3, जो कि मंगलेश के समय का है, पश्चिमी गुफा मूर्तिशैली का प्रभाव परिलक्षित करता है। स्तंभों और छतों पर भारी संख्या में मूर्तिकरण किया गया है। मूर्ति रचना की दृष्टि से आकृतियाँ बलिष्ठ और अतिकाय प्रमाण की हैं, फिर भी आंगिक विन्यास में संतुलन बनाए रखने की पूरी कोशिश की गई है। कुछ मूर्तियों को छोड़, जो कि रूक्ष बनी हैं, शेष अधिकांश में शिल्पी शारीरिक विन्यास की दृष्टि से पूर्णता और उसके आंगिक भराव में निहित शक्ति और ऊर्जा को अभिव्यक्त करनें में पूर्णतया सफल सिद्ध हुआ है। प्रायः आकृतियाँ अपने शारीरिक स्थिति के लिए उपयुक्त अवकाश पाती गई हैं, किंतु कहीं-कहीं स्थान के अभाव में स्थापत्यगत स्थिति अथवा घटनाक्रम में पात्रों की बोझिल स्थिति के कारण आकृतियाँ वास्तुगत स्थिति में समाहित अथवा एक सीमित ढाँचे में निबद्ध-सी भी लगती हैं। इस प्रकार की स्थिति यत्र तत्र पश्चिमी लयणों की मूर्ति अभिकल्पना में भी है।

इन गुफा मंदिरों में प्रायः पौराणिक कथाओं को अंकित किया गया है, जिनमें शिल्प और स्थान की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर दृश्य विधान इस रूप में किया गया है कि मूलकथा के प्रवाह और स्पष्टता पर किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचे। कथा के अनुरूप पात्रों का आंगिक विन्यास भी है जिसमें चेष्टा और सक्रियता की अभिव्यक्ति पूरी क्षमता से की गई है। गणपंक्तियों का विन्यास तो बड़ा ही मनोहर है। विभिन्न मुद्राओं में क्रीड़ा करते गण-युग्म बड़े ही ललित ढंग से रूपायित किए गए हैं। गणों को गतिमय बनाने और उनका समूह संयोजन, विधिवतापूर्ण भाव भंगिमा विन्यास लयण शैली की मूर्तन कौशल को एक पराकाष्ठा तक पहुँचाते हैं। छत की सज्जा बारीक और रेखामय है, जिसमें आकृतियाँ होते हुए भी अपनी सत्ता विराट् अलंकरण के जाल में आवृत है। लयण-1 में नटराज की विभिन्न सोलह मुद्राएँ स्वयं अपने में एक उपलब्धि है शिल्पांकन की दृष्टि से भी और वास्तु प्रस्तावना की भी दृष्टि से। नटराज के नृत्यरत लय में आसपास की आकृतियों का रेखांकन भी लयात्मक है। गणेश आदि इसी लयसूत्र में बँधे ललित भगिमाओं का दर्शन कराते हैं। इसी गुफा में महिषमर्दिनी का अंकन है। महिषमर्दिनी देवी द्वारा महिष-वध की चेष्टा और मुख भाग पर सौम्य भाव की आभा का दुर्लभ समन्वय इस अंकन की विशेषता है। इसी प्रकार की भव्यता हमें अर्द्धनारीश्वर, हरिहर आदि की मूर्तियों में भी देखने को मिलती है। इन भव्य मूर्तियों के साथ गणों का आंगिक गतिमय विलास अत्यंत लालित्यपूर्ण है। शिव-विवाह के दृश्यों में सूक्ष्म

प्रदर्शन की स्थिति है, जो कथातथ्य पर अधिक केंद्रित है, शिल्पात्मक लालित्य पर कम। इस गुफा में कुछ रतिप्रधान अंकन भी हैं, जो रतिप्रधान अंकनों में अपना ऐतिहासिक स्थान रखते हैं। अन्य अंकनों में गजलक्ष्मी, पार्वती, मनुष्य, पशु काल्पनिक पशु आदि भी बनेहैं।

वैष्णव गुफा-2 के जगतों पर बनी गणपक्ति अपनी भाव भंगिमा के कारण दर्शनीय है। बौनी आकृति, शारीरिक स्थूलता, अलंकृत शिरोभूषण - इन गणों के विशिष्ट शिल्पात्मक तत्व हैं। गुफा के भीतर की आकृतियाँ अपनी भव्यता और विशालता के कारण बड़ी ही रमणीक हैं। स्थान-स्थान पर बने देवप्रकोष्ठों और गवाक्षों में नटराज, त्रिविक्रम, बराह मूर्तियाँ विशिष्ट हैं। इन देवमूर्तियों पर बनी लंबी किरीट चालुक्य शिल्प की निहित विशेषताओं में माना जाता है। पौराणिक ख्यातों का विवरणात्मक प्रदर्शन रोचकतापूर्वक किया गया है। अन्य महत्वपूर्ण अंकनोंमें गजलक्ष्मी, रति और काम, समुद्र मंथन का दृश्य, देवासुरसंग्राम का विवरण, कृष्णलीला के अंतर्गत आने वाले पूतना वध, कालियदमन, धेनुकासुर वध, गोवर्धन धारण, कंसवध के दृश्य कथात्मक विवरणों के विशिष्ट उदाहरण हैं। अलंकरण तत्व के रूप में स्वस्तिक, मत्स्य, चक्र आदि बड़े ही मनोहर हैं।

गुफा-3 में इन्हीं विषयों में से कुछ की पुनरावृत्ति प्रदर्शित करते हैं। गुफा की विशाल भित्तिका भाग में उत्कीर्ण त्रिविक्रम, वामन, बाराह, नरसिंह, हरिहर, भोगासन विष्णु यहाँ शिल्प के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। देवताओं की आंगिक रचाव और उनकी संक्रियता का यहाँ उदात्त प्रदर्शन हुआ है। इनमें अनंतविष्णु या भोगासन विष्णु की प्रतिमा, जिसमें वे सर्पफण के नीचे प्रदर्शित हैं, बड़ा ही भव्य है। मुखमंडल का भराव, हाथ-पैर आदि की ओजपूर्ण मांसलता, गरिमामय मुखमंडल संपूर्ण रूप से चालुक्य शिल्प सूत्र की अभिव्यक्ति करता है और इसे छठी शती चालुक्य कला का प्रतिनिधि उदाहरण के रूप में माना जाना चाहिए। इस भव्य गुफा के स्तंभ भी बड़े कलात्मक हैं, तथा इन पर बनी आकृतियाँ भी शिल्पगत सौंदर्य से भरपूर हैं। मिथुन अत्यंत स्वाभाविक भंगिमाओं के साथ बने हैं, तथा कथात्मक प्रसंग, यथा सुभद्राहरण, पारिजातहरण, कृष्णलीला प्रसंग के कुछ दुर्लभ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। देव शरीर के निर्माण में वर्तुलता, आध्यात्मिक गरिमामय गंभीरता, प्रवाहमय रेखांकन, वादामी के लयण मूर्तिशिल्प की विशिष्टताएँ हैं इनका रचाव पश्चिमी लयण शिल्प से विशिष्ट है और इनकी तुलना में अयहोलि के मंदिरों का शिल्प भी साधारण है।

पट्टदिकल की मूर्तिकला आठवीं शती की चालुक्य मूर्तिकला का समग्र प्रतिनिधित्व करता है। इस कला पर पल्लव मामल्ल शैली का प्रभाव अत्यंत मुखर है। वस्तुतः पट्टदिकल के शिल्पियों ने दो विरोधी शिल्प परंपरा- मामल्ल और वेन्गी का आश्चर्यजनक समन्वय किया है। मामल्लशैली की स्थूलता, वेन्गीशैली की तन्वंगिता - दो विरोधी रचनाधारा है। फिर भी, चालुक्य शिल्पियों ने इसमें सामन्जस्य स्थापित किया है। कटि से ऊपर, विशेषकर मुखमंडल के विन्यास में मामल्लशैली का परिचालन हैं और हाथ पैर आदि की रचाव में वेन्गीशैली का प्रभाव है। इससे मूर्तियाँ न तो स्थूल और बोझिल हैं और न तो उनमें स्थिरता का भाव स्थापित कर पाती हैं। शारीरिक स्वरूप का रेखांकन, प्रवाहपूर्ण और चेष्टागत तन्मयता इन मूर्तियों की दुर्लभ विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं से समन्वित पट्टदिकल के अतिरिक्त आलमगीरपुर की भी मूर्तियाँ हैं। संगमेश्वर मंदिर में मूर्तिशिल्प के कम उदाहरण हैं। शास्त्रीय मान का ध्यान करके वराह, विष्णु, शिव आदि सामान्य रूप से बनाए गए हैं, किंतु विरूपाक्ष मंदिर की मूर्तिसज्जा विशिष्ट है। अलंकरण तत्व के रूप में ज्यामितिक परिकल्पनाएँ अधिक देखने को मिलती हैं। शिव मंदिर होते हुए भी इस पर रामकथा (बालि-सुग्रीव-युद्ध, सीताहरण आदि) के कथात्मक दृश्य ललित ढंग से बने हैं। इनमें कथात्मक प्रवाह के साथ ही साथ कथातत्व के आवश्यक तथ्यों का अपूर्व संयोजन है। शिवलिंग के पार्श्व

में ब्रह्मा और विष्णु का अंकन उसी प्रकार का है जैसा कि बाद में एलोरा में बना। शिव संबंधी मूर्तिकरण में तांडवरत शिव, भित्तिकाओं पर अर्द्धनारीश्वर, हरिहर आदि विशिष्ट रचनाएँ हैं। त्रिभंग में प्रदर्शित द्वारपाल की प्रतिमा बड़ी ही सौम्य, सुघर और आंगिक-विन्यास की दृष्टि से आनुपातिक है। कटिहस्त हाथों की मुद्रा, दाएँ पैर की स्थिरता, बाएँ पैर का नर्तनशील मोड़, कटिभाग का खम, वक्ष की पृथुता, मुख मंडल की सुडौलता और गंभीर अभिव्यक्ति, पल्लव द्वारपालों की बाह्य भंगिमा, वेंगीकला की छंदात्मकता, चालुक्य कला की निहित शक्ति और गरिमा का एक साथ प्रदर्शन करते हैं।

4.4.3.4. चित्रकला

वादामी की गुफामंडपों में, कुछ चित्रकर्म के भी उदाहरण मिलते हैं, जो कि मुख्यतया मंगलेश के समय में अंकित किए गए। उनमें राजमहल के दृश्य, नृत्यमंडली, विद्याधर आदि के अंकन अत्यंत ललित हैं। शैली की दृष्टि से वादामी के चित्र सामान्य रूप से अजंता की समकालीन चित्रशैली का निर्वाह करते हैं, यद्यपि इनमें इतनी मौलिकता और संभावनाएँ हैं, जो परवर्तीकाल के चित्रों (पल्लव) को भी अनुप्राणित कर सकें।

4.4.3.5. शासन प्रबंध

वातापी के चालुक्य निरंकुश राजतंत्र के अधीन अपने साम्राज्य का संरक्षण करते थे। राजा को असीमित अधिकार होते हुए भी उसका उपयोग प्रजा के हित ही में किया जाता था। यद्यपि किसी 'मंत्रिमंडल' जैसे संगठन की सूचना चालुक्य अभिलेखों से नहीं मिलती, न किसी मंत्री के संबंध में ही कुछ उल्लेख मिलता है किंतु राजाओं के द्वारा 'मंत्रोत्साह शक्ति' नीति के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। मंत्र के अंतर्गत यह भाव है कि राजा समय-समय पर अधिकारियों आदि से विचार विमर्श करके ही कार्य करता था। शासन में प्रत्यक्ष निगरानी का बड़ा महत्व होता है। चालुक्य नरेशों के संबंध में पर्याप्त सूचना मिलती है कि वे अपने राज्य में घूम-घूमकर शासन की स्थिति में प्रत्यक्ष परिचय रखते थे। युद्धकाल में वे युद्ध का नेतृत्व करते थे। इस अवसर पर केंद्र से दूर रहते हुए भी वहाँ शासन पर नजर रखते थे। सुविधा के लिए अपने युवराज आदि को अपने स्थान पर स्थानापन्न करते थे जिससे कि केंद्रीय शासन उपेक्षित न रह सके। जब उत्तराधिकारी अल्पवयस्क होता था, तो राजा अपने भाई को या अन्य किसी संबंधी को शासन सत्ता सौंप दिया करता था। कीर्तिवर्मन-प्रथम ने ऐसा ही किया था। किंतु वयस्क होने पर यदि इस प्रकार का नियुक्त राजा किसी प्रकार का विपर्यय (अवरूद्ध चरित) उत्पन्न करता था तो जनाक्रोश की भी संभावना रहती थी। मंगलेश के विरूद्ध पुलकेशिन् द्वितीय ने इसी जनाक्रोश का लाभ उठाकर विद्रोह किया था। ज्यों-ज्यों चालुक्य साम्राज्य का विस्तार होता गया, इसकी आवश्यकता समझी गई कि दूरस्थ क्षेत्रों में उपराजा, विश्वसनीय सामंत और कहीं-कहीं तो नाममात्र का संरक्षण रखकर स्वतंत्र शाखा राज्य की भी स्थापना कर दी जाती थी। पुलकेशिन् द्वितीय ने विजयवर्धन के अधीन वेन्गी में पूर्वी चालुक्यों की शाखा राज्य की स्थापना की थी। इसी प्रकार विक्रमादित्य प्रथम ने लाट में भी धराश्रय जयसिंहवर्मन के अधीन एक शाखा राज्य की स्थापना की थी। चालुक्य साम्राज्य के सैनिक और प्रशासनिक ढाँचे में सामंतों का बहुत बड़ा योगदान था। अलुप, सिंधु, सेंद्रक, वाण, गंग, तेलगुचोड आदि सामंतों के सहयोग पर ही चालुक्य प्रशासन और सैनिक शक्ति टिका हुआ था। इन सामंत राज्यों के अतिरिक्त मुख्य चालुक्य भूमि के अनेक विषय थे जिनके प्रशासक को विषयपति भी कहते थे। राजा के आदेश को 'राष्ट्रापितम्' कहते थे, जो मौखिक भी होते थे। युवराजों को शिक्षा बड़े विधान से दी जाती थी। युवराज राजा के संरक्षण में अथवा उसके निर्देश पर युद्धसंचालन करते थे। रानियों का प्रशासन में कोई प्रत्यक्ष हाथ तो

नहीं प्रमाणित होता, किंतु दान अथवा इष्टापूर्ति के निमित्त मंदिर निर्माण आदि के कार्य के लिए वे पूरी स्वतंत्रता का उपभोग करती थीं। ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। उसका प्रमुख 'गामुंड' कहलाता था, जो राजा की ओर से नियुक्त होता था। उसके सहयोगी अधिकारी 'कर्ण' कहलाते थे जो कि ग्राम संबंधी आय-व्यय आदि का लेखा जोखा रखते थे। ग्राम में जो बड़े बूढ़े और प्रभावी व्यक्ति होते थे उन्हें 'महाजन' कहते थे। अवैतनिक रूप से इनका ग्राम प्रशासन में बड़ा योगदान होता था। भूमिदान और भूमिस्थांतरण जैसे अवसरों पर उसकी स्वीकृति और उपस्थिति आवश्यक समझी जाती थी। कर व्यवस्था में समानता लाने की पूरी कोशिश की गई थी। प्रायः सामंत अथवा अधिकारी ही कर वसूलते थे। राजा को प्रत्यक्ष रूप से भेंट आदि प्रजा से मिलता था। विभिन्न प्रकार के विशेष कर भी लगाए जाते थे, यथा-चाट, भाट, कुषीद, निधि, उपनिधि, क्लिप्त, उपक्लिप्त, उपरिकर, उपुंग, परिकर, आदि। व्यापार पर लगे करों में प्रमुख कर भारंच, आदित्युंच, आदि। इनमें से कुछ स्थानीय कर भी थे, करों से मुक्ति भी दी जाती थी। ऐसी स्थिति को 'सर्वआदान' विशुद्ध' कहते थे, जिनमें किसी भूमि-विक्रय या दान आदि पर कोई कर नहीं लगाया जाता था। पराजित शत्रु पर कुछ कर भी लगता था। तुलामान को भी नियमित करनें का प्रयत्न चालुक्य नरेशों ने किया था। गदवाल और कर्नूल दानपत्रों में 'राजमान' का उल्लेख आया है।

4.4.4. पल्लव काल

पल्लवों का विशाल साम्राज्य उनके सुशासन से रक्षित था। उनका सांस्कृतिक संरक्षण दक्षिण भारत के सांस्कृतिक व्यक्तित्व के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। पल्लवकालीन समाज के संबंध में सूचनाएँ पर्याप्त नहीं मिलतीं। यत्र-तत्र से प्राप्त सूचना के आधार पर समाज की केवल सामान्य रूपरेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। संगम युग की तरह कांची इस समय भी राजनीति और संस्कृति का प्रधान केंद्र था। यह एक व्यापारिक केंद्र भी था अतएव यहाँ की आबादी में प्रवासी या विदेशी जनसंख्या का अनुमान किया जा सकता है, जिसका परिणाम यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना पर आवश्य ही पड़ा होगा, किंतु सबसे अधिक प्रभावी परिवर्तन ब्राह्मणधर्म की व्यापकता के कारण हुआ।

4.4.4.1. शासन प्रबंध

पल्लवों के अभिलेखों से पल्लव शासन प्रणाली पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। आरंभिक पल्लवों के प्राकृत अभिलेखों से पल्लव शासन प्रणाली का जो ज्ञान होता है उससे लगता है कि इस युग की पल्लव शासन-प्रणाली पर मौर्य-सातवाहन शासन परंपरा का पर्याप्त प्रभाव था। कालांतर में अर्थात् सिंहविष्णु के बाद के पल्लव शासकों ने पल्लव शासन-प्रणाली को और दृढ़ तथा सुसंगठित किया। विशेषकर ग्राम-शासन-व्यवस्था और अग्रहार ग्रामों की शासन प्रणाली में कुछ ऐसे परिवर्तन किए गए कि जिससे ग्राम शासन-व्यवस्था, सर्वथा सरकारी नियंत्रण से मुक्त हो गई। इस शासन प्रणाली का परवर्ती चोलग्राम व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

शासन का केंद्र राजा था और वही शांति और सुव्यवस्था के अतिरिक्त युद्ध का संचालनकरता था। पल्लव अभिलेखों में उसे प्रायः महाराज या धर्ममहाराज कहा गया है। पल्लवों का विशेष साम्राज्य राजा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रहते हुए भी शासन प्रबंध की सुविधा के लिए पूरा राष्ट्र(पल्लव शासित भूमि) अनेक प्रशासनिक इकाइयों, यथा-मंडलों, कोट्टुओं, नाडुओं में बँटा हुआ था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। मंडलों और विषयों में प्रायः राजकुल के लोग ही प्रधान नियुक्त होते थे। विश्वसनीय सामंत भी मंडलाधीश बनाए जाते थे। केंद्रीय शासन, जिसका अधिष्ठान कांची में था, जो राजा के नियंत्रण में था, जिसके अधीन वरीयता क्रम से अनेक अधिकारी नियुक्त होते थे जो अपने विभागीय दायित्वों को संभालते थे। राजकार्य के संपादन में मंत्रिवर्ग का विशेष योगदान होता था। वे ही राजा के प्रधान मंत्रदाता

थे, और शासन के गूढ़तम प्रसंगों में राजा के सहभागी थे। ऐसे मंत्रियों को 'रहस्यादिकद' कहते थे। राजा की मौखिक आज्ञाओं को लिखित रूप भी राजा के निजी मंत्री ही दिया करते थे। शासन की सहायता तथा युद्ध संचालन में राजा के प्रधान सहयोगी युवराज तथा अन्य राजकुमार भी हुआ करते थे। राजा के आदेश सीधे राष्ट्रिक या मांडलिक जैसे प्रांतीय शासकों को पहुँचाए जाते थे।पूरा पल्लव साम्राज्य अनेक विषयों और कोट्टमों में विभक्त था। विषयों के प्रधान विषयिक कहलाते थे। कोट्टम के शासन 'देशातिकद' कहलाते थे। ग्रामों का शासन प्रबंध 'ग्राम भोजक' की देखरेख में चलता था। विभिन्न विभागीय अधिकारी भी होते थे जो 'अमत्य या अमात्य' कहलाते थे। सीमा की सुरक्षा तथा सामान्य शांति की व्यवस्था रक्षकों के अधीन थी जो पुलिस जैसा कर्तव्य का निर्वाह करते थे। भूमिक वनक्षेत्रों की सुरक्षा करते थे। नायक सेना के अधिकारी थे जो सेनापति के अधीन होते थे। केंद्र तथा शासन की विभिन्न इकाइयों में संवाद संचार की व्यवस्था 'दूतिकों' 'चरों' के माध्यम से होती थी। सामान्य सैनिक को योद्धा या 'भड' या भट्ट कहते थे। भूमि की सुरक्षा तथा खेतों का सीमा निर्धारण बड़ी सतर्कता से किया जाता था तथा राजकीय अभिलेखों में उसका उल्लेख होता था। बाग-बगीचों, स्नान-स्थलों, तीर्थों (घाटों) की देखरेख के लिए उपयुक्त अधिकारी होते थे।

आरंभिक पल्लवों की ग्राम व्यवस्था के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं होती। ग्रामभोजक के अधीन ही ग्राम की सुरक्षा और सामान्य प्रबंध होता था। संभवत ग्रामों का स्वायत्त संस्थानिक रूप में कम था, किंतु परवर्ती काल में क्रमागत रूप में ग्रामशासन स्वावलंबी शासन संस्थान के रूप में सुगठित हो गए। ग्रामों में पंचायती व्यवस्था लागू थी। विभिन्न ग्राम पंचायतें, जिन्हें 'सभा' कहते थे, अनेक उपसमितियों के माध्यम से ग्राम का सामान्य प्रशासन, आर्थिक, कराधान संबंधी तथा आर्थिक व्यवस्था में योगदान करती थीं। इनमें से कुछ समितियाँ मंदिरों की व्यवस्था, नहरों और तालाबों की व्यवस्था तथा भूमि सर्वेक्षण और सीमा निर्धारण जैसे कार्यों में भी लगी हुई थी। उरूव पल्ली दानपत्र में ग्रामों की भूमि सर्वेक्षण संबंधी कार्यों का विशद विवरण मिलता है। अग्रहार और ब्रह्मदेय ग्रामों की समूची प्रबंध व्यवस्था ब्राह्मणों के ही अधीन होती थी। उत्तर मल्लूर अभिलेख (नवीं शती) में इन सभाओं के चुनाव प्रणाली और संगठनात्मक पक्ष का अच्छा परिचय मिलता है।

4.4.4.2. धर्म और साहित्य

सभी पल्लवनरेश धार्मिक और दानी थे। उनके संरक्षण में विभिन्न धर्म और तत्संबंधी क्रिया कलाप संपन्न होते रहे। कांची विद्या और शिक्षा का एक महान केंद्र के रूप में विख्यात था। बौद्धाचार्य धर्मपाल ने कांची में रहकर विद्यार्जन किया था। हुआन सांग के विवरण में है कि कांचीपुरम् के संघाराम में 10000 भिक्षु रहते थे। महायान धर्म का यहाँ बड़ा प्रभाव था। आरंभ में जैन धर्म का भी प्रभाव कांची में प्रमाणित होता है। महेंद्रवर्मन प्रथम आरंभ में जैन धर्मावलंबी था, किंतु कालांतर में वह संत अप्पर से दीक्षित होकर शैव हो गया। तब से लेकर शेष पल्लवनरेशों ने शैव धर्म में निरंतर अपनी आस्था व्यक्त की। वैष्णव धर्म के प्रति भी उनका उदारभाव था। वैष्णव-संतों का एक संप्रदाय, जिन्हें 'अल्वर' कहते हैं, पल्लवों के संरक्षण में अपने क्रिया कलाप के लिए स्वतंत्र था। इनके अतिरिक्त अनेक तांत्रिक संप्रदाय भी प्रचलित थे। इनके प्रति पल्लव नरेशों की आस्था नहीं थी और जनरुचि को इनके विरूद्ध जगाने में पल्लव नरेशों ने सक्रिय सहयोग किया था। 'मत्तविलास प्रहसन' नामक नाटिका में महेंद्रवर्मन् ने ऐसे पाखंडी संप्रदायों की बड़ी खिल्ली उड़ायी है।

पल्लवों का राजधर्म शैव धर्म था। उनकी राजभाषा आरंभ में प्राकृत (सिंह वर्मन् के पूर्व) नवीं शती तक संस्कृत रही। तमिल भाषा और ग्रंथलिपि का भी उनके द्वारा समादर हुआ। कांची का विकास

एक महत्वपूर्ण विद्यास्थान के रूप में मान्य था और यहाँ विभिन्न संप्रदायों और मान्यताओं के विद्वान अध्ययन और शास्त्रार्थ के लिए आते थे। दिंगनाग भी कुछ समय तक कांची में रहा। मयूरशर्मन् जिसका उल्लेख काकुस्थवर्मन् के अभिलेख में है– एक स्वाभिमानी ब्राह्मण के रूप में विख्यात है। इसने यहाँ वैदिक शास्त्रों का अध्ययन किया था। सिंहविष्णु के दरबार में महाकवि भारवि आमंत्रित थे। प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री दंडिन और उसके समकालीन मातृदत्त नरसिंहवर्मन् द्वितीय के संरक्षण में थे। महेंद्रवर्मन् प्रथम ने 'मत्तविलास प्रहसन' लिखा जिसमें कापालिकों, तांत्रिकों और जैनियों की सामाजिक कुरीतियों को उजागर किया। संभवत: प्रसिद्ध नाटिका 'भगवद्ज्जुणीयाम्' भी इसी समय लिखा गया भागवत पुराण की रचना भी पल्लवों के शासनकाल के अंतिम चरण की रचना प्रतीत होती है। आठवीं शती के बाद तमिल भाषा जन भाषा के रूप में विकसित हुई। इस समय के पल्लव अभिलेखों में तमिल भाषा का प्रयोग बढ़ा। यद्यपि तमिल काव्य की रचना में पांडव संरक्षण विशेष महत्व का रहा किंतु पल्लवोंने भी तमिल काव्य को प्रश्रय दिया। प्रसिद्ध काव्य 'नंदिकलंबकम्' उसका उदाहरण है। तेलारू विजेता नंदिवर्मन् के काल में तमिल 'भारतम्' की भी रचना हुई, जिसे पेरनदेवनार ने प्रस्तुत किया।

4.4.4.3. कला एवं वास्तुकला

प्रारंभिक पल्लवों के वास्तुकाल संरक्षण के रूप सेउंडवल्ली के शैलमंडप की भी मान्यता है यद्यपि उसकी रचना का श्रेय विष्णुकुंडिन राजवंश के संरक्षण को देना अधिक तर्कसम्मत है। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उंडवल्ली के मंडप विन्यास का पल्लव शैलमंडपों की रचना पर प्रेरणात्मक प्रभाव अधिक है। स्तंभविन्यास, गवाक्ष-रचना तथा द्वारपालकों की स्थिति और रचाव उंडवल्ली मंडपशैली के ऐसे निहित तत्व हैं, जिन्होंने परवर्ती पल्लव मंडप रचना शैली को प्रभावित किया है। पल्लव कला का वास्तविक शुभारंभ महेंद्रवर्मन्-प्रथम के ही काल से मानना उचित है। इस दृष्टि से मंडपपट्टु अभिलेख में महेंद्रवर्मन् 'विचित्रचित्त' का यह कथन यथार्थ है कि उसके द्वारा 'ब्रह्मा, ईश्वर और विष्णु के लिए यह आयतन निर्मित हुआ जिसमें न तो इष्टिका का प्रयोग है, न द्रुम (लकड़ी), न लोहा और न सुधार (चूना) का। चूँकि इसने ही नए सिरे से तमिल क्षेत्र में मंडपशैली के शैल आयतनों के निर्माण की परंपरा आरंभ की अतएव उसकी यह उक्ति सार्थक सिद्ध होती है।

पल्लव वास्तुशैली का क्रमोत्तर रूप से विकास होता रहा। इस विकास में पल्लव नृपों का विशेष योगदान था अतएव विद्वानों ने इस क्रम को राजाओं के शासनक्रम से चार वर्गों में विभक्त किया है-

(1) महेंद्र शैली (610-640 ई.) (यह शैली लगभग आठवीं सदी तक दृष्टिगोचर होती है।)

(2) मामल्य शैली (640-674 ई.)

उक्त शैलियों के अंतर्गत गुफा-मंदिरों (मंडपों) और रथों को उत्कीर्ण किया गया।

(3) राजसिंह शैली (674-800ई.)

(4) नंदिवर्मन् शैली (800-900 ई.)

उक्त शैलियों के अंतर्गत संरचनात्मक मंदिरों का निर्माण हुआ।

4.4.5. सारांश

चालुक्य काल में लोगों के स्वभाव में सौम्य और उग्रभाव का अपूर्व समन्वय था। युद्ध और अपकार की स्थिति में उनमें जो क्रूरता और उग्रता थी वह सामान्य 'स्थिति में नहीं देखने को मिलती थी। सामान्य लोग, मुख्यतया खेतिहर किसान शांतिप्रिय थे। उनमें धर्म के प्रति रूचि थी और धार्मिक समन्वय उनका स्वभाव था। वातापी के चालुक्य नृप भी धार्मिक दृष्टि से सद्भाव और समन्वय को मान्यता देते थे।

वैदिक और पौराणिक धर्म के अतिरिक्त बौद्ध और जैन धर्म भी फलफूल रहे थे। हुआन सांग के विवरण से ही ज्ञात होता है कि महाराष्ट्र में नासिक के आसपास पाँच अशोककालीन स्तूप थे और शताधिक बौद्ध मठ थे, जिनमें सहस्रों भिक्षु साधना करते थे। उन्हीं के आसपास 'देवोपासक' भस्म रमाते थे। अजंता के बिहार भी आबाद थे। चालुक्य नृप अधिकांशतः शैव और विष्णु के उपासक थे। उनके द्वारा बादामी, पट्टदिकल, अयहोलि आदि में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। यद्यपि किसी नृप ने जैनधर्म अंगीकृत नहीं किया किंतु उनकी सद्भावना जैनधर्म के प्रति थी। पुलकेशिन् द्वितीय की जैनधर्म के प्रति उदार दृष्टि थी, जिसका उल्लेख रविकीर्ति ने अपने लेख में जैन मंदिर के निर्माण के प्रसंग में किया है। जैनधर्म के प्रति चालुक्य कुल की अनेक रानियों की आस्था थी जिनके द्वारा जैन मंदिर भी निर्मित हुए। कुटकुमादेवी, और कलियम्मा के द्वारा जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। वैदिक धर्म और यज्ञों के प्रति भी चालुक्य नृपों की बड़ी रुचि थी। अयहोलि अभिलेख में ही उल्लेख है कि पुलकेशिन् प्रथम्, कीर्तिवर्मन प्रथम, मंडलेश और पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा संपादित अश्वमेघ, श्रोतादि यज्ञों का उल्लेख मिलता है। इनमें से अनेक के द्वारा ब्राह्मण, माहेश्वर, परमवैष्णव आदि उपाधियाँ धारण की गईं विशेष अवसरों पर; यथा, ग्रहण आदि पर उनके द्वारा वृत दान आदि संपन्न होते थे। कीर्तिवर्मन् द्वितीय द्वारा कांची के ब्राह्मणों के प्रति उदारता और शत्रु देश के मंदिरों के प्रति सद्भाव और दानवृत्ति एक राजोचित किंतु दुर्लभ उदाहरण है।

पल्लवों का विशाल साम्राज्य उनके सुशासन से रक्षित था। उनका सांस्कृतिक संरक्षण दक्षिण भारत के सांस्कृतिक व्यक्तित्व के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। पल्लवकालीन समाज के संबंध में सूचनाएँ पर्याप्त नहीं मिलतीं। यत्र-तत्र से प्राप्त सूचना के आधार पर समाज की केवल सामान्य रूपरेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। संगम युग की तरह कांची इस समय भी राजनीति और संस्कृति का प्रधान केंद्र था। यह एक व्यापारिक केंद्र भी था अतएव यहाँ की आबादी में प्रवासी या विदेशी जनसंख्या का अनुमान किया जा सकता है, जिसका परिणाम यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना पर आवश्य ही पड़ा होगा। किंतु सबसे अधिक प्रभावी परिवर्तन ब्राह्मणधर्म की व्यापकता के कारण हुआ। सभी पल्लवनरेश धार्मिक और दानी थे। उनके संरक्षण में विभिन्न धर्म और तत्संबंधी क्रिया कलाप संपन्न होते रहे। कांची विद्या और शिक्षा का एक महान केंद्र के रूप में विख्यात था। बौद्धाचार्य धर्मपाल ने कांची में रहकर विद्यार्जन किया था। युवान् च्वान्ग के विवरण में है कि कांचीपुरम् के संघाराम में 10000 भिक्षु रहते थे। महायान धर्म का यहाँ बड़ा प्रभाव था। आरंभ में जैन धर्म का भी प्रभाव कांची में प्रमाणित होता है। पल्लवों का राजधर्म शैव धर्म था। उनकी राजभाषा आरंभ में प्राकृत (सिंह वर्मन् के पूर्व) नवीं शती तक संस्कृत रही। तमिल भाषा और ग्रंथलिपि का भी उनके द्वारा समादर हुआ। कांची का विकास एक महत्वपूर्ण विद्यास्थान के रूप में मान्य था और यहाँ विभिन्न संप्रदायों और मान्यताओं के विद्वान अध्ययन और शास्त्रार्थ के लिए आते थे।

4.4.6. बोध प्रश्न

4.4.6.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. चालुक्य शासकों ने कौन सी उपाधियाँ धारण की थीं?
2. हुआन सांग ने चालुक्य कालीन शिक्षा के विषय में क्या लिखा है?
3. वातापी नगर पर प्रकाश डालिए।
4. चालुक्य संरक्षण में कौन से निर्माण कार्य हुए?
5. चालुक्य मूर्तिकला की दो विशेषतायें लिखिए।
6. बादामी की चित्रकला पर प्रकाश डालिए।

7. पल्लव कालीन धर्म पर प्रकाश डालिए।
8. पल्लव कालीन साहित्य पर प्रकाश डालिए।

4.4.6.1. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. चालुक्य कालीन शिक्षा और साहित्य का वर्णन कीजिए।
2. चालुक्य कालीन कला का वर्णन कीजिए।
3. चालुक्य कालीन स्थापत्य कला की विस्तार पूर्वक विवेचना कीजिए।
4. चालुक्य कालीन मूर्ति कला का वर्णन कीजिए।
5. चालुक्य कालीन प्रशासन की विवेचना कीजिए।
6. पल्लव कालीन प्रशासन की विवेचना कीजिए।
7. पल्लव कालीन प्रशासन धर्म और साहित्य की व्याख्या कीजिए।
8. पल्लव कालीन कला और वास्तुकला की विस्तार पूर्वक विवेचना कीजिए।

4.4.7. संदर्भ ग्रंथ

01. रमशेचन्द्र मजूमदार : प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
02. राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, नंदकिशोर एंड संसद्र वाराणसी, 1962
03. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
04. रैप्सन, ई.जे. : कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1
05. राय चौधरी, एच.सी. : पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
06. नीलकंठ शास्त्री, के.ए. : हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-1, एंशेण्ट इंडिया, मद्रास, 1950
07. स्मिथ, बी.ए. : अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
08. मजूमदार तथा पुसलकर : दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
09. नीलकंठ शास्त्री : ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957
10. एलन, हेग, डाडवेल : दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
11. मजूमदार तथा पुसलकर : दी इम्पीरियल एज ऑफ कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
12. मजूमदार तथा पुसलकर : दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953